नित्य संत के पास सत्संग सभा में उपस्थित रहने से भक्तभगवान की चर्चा सुनते–सुनते धीरे–धीरे मन का मैल दूर होगा। अपने जीवन में कोई सुधार प्रत्यक्ष न भी दिखाई पड़े तो भी सत्संग को व्यर्थ नहीं समझना चाहिए। अनजाने हमारा अज्ञान कम हो रहा है। आगे चल कर अनुभव होगा। सत्संग में रहते हैं तो उतनी देर कुसंग से बचते हैं। यह सबसे बड़ा लाभ है। सज्जन के साथ रहना, उनसे प्रभु कथा का श्रवण करना, सुने हुए को याद रखना, उसका अभ्यास करके उसे अपने जीवन में उतारना चाहिए। तब मन बुद्धि पर असर पड़ेगा।

सत्संग से प्राणी सज्जन बन जाता है और कुसंग से दुष्ट बन जाता है। सज्जन के साथ रहना, उनसे वार्तालाप करना, उन्हीं से विवाद करना, उन्हीं से मित्रता करनी चाहिए अर्थात् लौकिक व्यवहार भी सज्जन मनुष्यों के साथ ही करना चाहिए। सज्जन के समीप वातावरण शान्त रहता है। किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। लोहा पानी पर तैर नहीं सकता है पर यदि उसे एक बड़ी लकड़ी का साथ मिल जाय तो लोहा भी पानी में नहीं डूबेगा। उसी प्रकार संत के साथ साधारण पुरुष भी भवसागर से तर जाता है। सज्जन मनुष्य संसार में रहते हुए भी संसार से अलग रहते हैं। भक्तसबका होता है।

परमार्थ के पत्र–पुष्प से

"श्री महाराज जी"

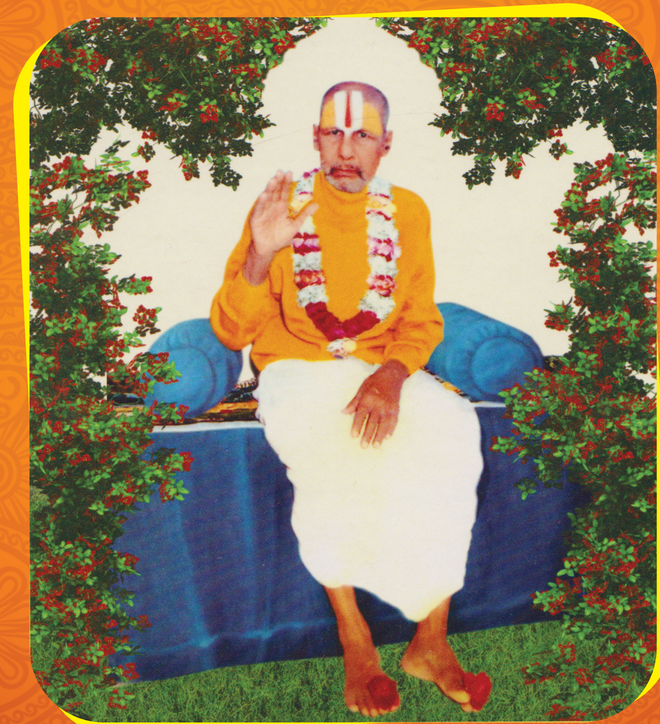
श्रीमलूक पीठ सेवा संस्थान, वंशीवट, वृन्दावन

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु

॥ श्री हरये नमः ॥

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु



श्रीमलूक पीठ सेवा संस्थान, वंशीवट, वृन्दावन

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌भक्तेभ्यो नमः ॥

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु

लेखिका :

श्रीमती सौभाग्य कुँवरी राणावत



सम्पादक :

राजेन्द्र दास

श्रीमलूकपीठ सेवा संस्थान, वंशीवट, वृन्दावन, 281121

प्रकाशकः
श्री मलूकपीठ सेवा संस्थान
वंशीवट-वृन्दावन २८११२१

प्रथम संस्करणः २१०० प्रतियाँ

प्रकाशन तिथिः
४ जनवरी २०१७ ई.
पौष शुक्ल षष्टी वि.सं. २०७३

न्यौछावर : २०० रूपये/-

प्राप्ति स्थानः
श्री मलूक ग्रन्थागार
मलूकपीठ, वंशीवट
वृन्दावन (मथुरा)

मुद्रकः
शिवा प्रिंटेक प्रा. लि.
बवाना इडंस्ट्रियल एरिया, दिल्ली

॥श्रीहरिः शरणम्॥
॥ वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

सम्पादकीय

भारत की इस पवित्र भूमि पर जब जब धर्म की हानि होती है, असुरों, अधर्मियों और अभिमानियों की वृद्धि होती है तब तब परब्रह्म परमात्मा का अवतरण होता है।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।।
तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा। हरहि कृपा निधि सज्जन पीरा।।

उल्लेखनीय है जितने भी अवतार हुए वे सब भारत वर्ष की पावन धरा पर ही हुए। प्रभु अवतरण तो युग युगान्तर में होता है पर समय समय पर संत-महात्माओं और आचार्यों का भी प्रादुर्भाव धर्मरक्षार्थ व जन कल्याणार्थ होता ही रहता है।

संत वचन, संत चरित्र सन्तवाणी मानव जाति को अंधकार से प्रकाश में लाने के लिये अमोघ दिव्य ज्योति है। महापुरुषों के संस्मरण व उनके विचार भगवान के नित्य संगी-प्रेमी पार्षद ही हैं। वे सुख दुखः संकट और पाप-ताप से प्रताडित प्राणियों के लिए सुख-शांति के गंभीर तथा अगाध समुद्र हैं।

परमात्मा को प्राप्त ऐसे महापुरुष स्वयं ही कृतार्थ नहीं होते बल्कि भवसागर में डूबते उतराते असंख्य प्राणियों का उद्धार करके उन्हें परमपिता के परमधाम में पहुँचाने के लिए जहाज बन जाते हैं। उनके स्मरण मात्र से स्मरण करने वाले का मन ही नहीं उनका घर तक विशुद्ध हो जाता है।

॥ येषां संस्मरणात पुसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहः ॥
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥ (भागवत)

बहुचर्चित विश्व विख्यात ''मीरा चरित'' ग्रंथ की लेखिका श्रीमती सौभाग्य कुँवरी राणावत ''दीदी'' जी के मन में एक पावन चिंतन जागृत हुआ कि अनन्त विभूषित प्रातः स्मरणीय श्री गणेशदास महाराज जी के जीवन से संबंधित चरित्र, संस्मरण, उपदेश आदि

का संकलन करूँ। परमपिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से अपने अथक प्रयास से "दीदीजी" ने वृहद विषय सामग्री का संकलित की। जिसे 'भक्त भक्ति भगवंत गुरु' नामक ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ की भाषा सरल सरस तथा मधुर है। लेखन शैली गंभीर, शिक्षाप्रद, हृदयस्पर्शी है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मेरे पूज्य सद्‌गुरु देव परम पूज्य श्री गणेश दास 'भक्तमाली' जी के व्यक्तित्व व कृतित्व का समावेश है। आशा है कि यह ग्रंथ पाठकों, सुधीजनों तथा साधकों के लिए परम उपयोगी होगा। भक्ति पथ पर अग्रसर होने के लिए ग्रंथ सोपान स्वरूप ही है।

सामग्री संकलन तथा प्रूफ संशोधन करने गुरुभ्राता सर्वश्री प्रभुदास जी तथा अम्बिका दास जी का विशेष योगदान रहा है। सह सहयोगी राजेश कुमार मिश्र तथा सुधाकर जी भी धन्यवाद के पात्र है।

शिवा प्रिंटेक, प्रा. लि. दिल्ली के संचालक श्री कपिल देव दास जी ने कम समय में मुद्रण व प्रकाशन कार्य जिस लगन व परिश्रम से परिपूर्ण किया वह उनके समर्पण के अनुरूप ही है। श्री सद्‌गुरु देव भगवान इस पुनीत कार्य में सहयोगी रहे सभी पर सदैव अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखें।

प्रकाशन कार्य में यद्यपि सावधानी बरती गई है फिर भी त्रुटियां रह जाना स्वाभाविक है। पाठकों से अनुरोध है कि त्रुटियों को अवश्य इंगित करें जिससे भविष्य में सुधार किया जा सके।

श्री सद्‌गुरुदेव के शताब्दी वर्ष के शुभारंभ पर श्रीसद्‌गुरुदेव जी की वस्तु श्री सद्‌गुरुदेव जी को ही सादर समर्पित है।

– दासानुदास

राजेन्द्र दास

मलूक पीठ वृन्दावन।

मंगलाचरण

श्लोक— भक्तं भक्तिमहं वन्दे भगवन्तं गुरुं तथा।
नाम्ना भिन्ना इवाभान्ति, तत्वतस्त्वेक एव हि॥१॥

भक्त— अतीर्थान्कुत्सिताञ्जीवान्तीर्थीकुर्वञ्चरन्ति ये।
सर्वोपकारकर्तृभ्यो, भक्तेभ्यश्च नमो नमः॥२॥

भक्ति— ईश्वरीं सिद्धिमुक्तीनां परमानन्ददायिनीम्।
हरिवशकरीं भक्तिं रसरूपां नमाम्यहम्॥३॥

भगवन्त— भक्तार्थे सर्वकर्तारं, सर्वथा भक्तरक्षकम्।
भक्तमालस्य श्रोतारं, वन्दे भक्तप्रियं हरिम्॥४॥

गुरु— यस्यातुलप्रभावेण, हृदि भक्तिः प्रकाशते।
तस्मै विज्ञानरूपाय, गुरवे विभवे नमः॥५॥

दोहा— भक्तवछल श्रीहरि प्रभो! निज परिकर सँग आय।
बैठि शुभासन जन चरित, सुनहु नाथ! हरषाय॥१॥
भक्तमाल, रस रसिकजन, श्रीहरि श्रीहरिदास।
त्रुटि लखिकै कीजै क्षमा, जानि मोहिं निजदास॥२॥

॥ श्रीजानकीवल्लभो विजयते॥

॥श्री हनुमते नमः॥ ॥ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः॥

सर्वेश का लोभ- "महाराज! यहाँ मंदिर के आस पास कोई राजाराम नाम के ब्राह्मण सज्जन रहते हैं। उनका घर कहाँ किस ओर है?" अठारह उन्नीस वर्ष के ब्रह्मचारी वेश में खड़े नवयुवक ने हाथ जोड़कर मंदिर के पुजारी से विनम्रता पूर्वक पूछा-"यद्यपि मैं उनके यहाँ दो बार जाकर प्रसाद पा चुका हूँ किंतु आज ढूँढने पर भी उनका घर नहीं पा सका। आप कृपा कर बता दें तो..........।" "आप क्यों जानना चाहते हैं?"

"मैं उनके घर एकादशी फलाहार और द्वादशी का पारण कर चुका हूँ। राजाराम जी बहुत सज्जन संस्कारी व्यक्ति हैं इसी कारण उनसे फिर मिलने की इच्छा हुई, मैं उनसे यह भी जानना चाहता था कि ओरछा में कोई साधुओं का मठ-आश्रम हो तो वहाँ एक दो मास रहना चाहूँगा।"

ब्रह्मचारी ने देखा-पुजारी जी की आँखे भर आयी हैं और उनसे आँसू की बूँदे गालों पर ढुलकने लगी हैं। उसे आश्चर्य हुआ कि मैने तो ऐसी कोई बात नहीं कही फिर....... ?

"मुझसे कोई .... ?" ब्रह्मचारी ने विनम्र स्वर में कहना चाहा किंतु उसका वाक्य पूर्ण होने से पूर्व ही पुजारी बोले- "सो कुछ नहीं! आप काशी से पधारे हैं?" "हाँ, काशी से चलकर भगवती विंध्यवासिनी के दर्शन करके चित्रकूट होता हुआ भगवान रामराजा के दर्शन करने उपस्थित हुआ हूँ। आपकी आँखो में.....।" "ब्रह्मचारी जी! जिन राजाराम ब्राह्मण से आप मिलना चाहते हैं वे और कोई नहीं यहीं इसी मंदिर में विराजे हुए भगवान रामराजा ही हैं। रात को मुझे स्वप्न में आज्ञा हुई है कि- "काशी से आये एक ब्रह्मचारी राजाराम ब्राह्मण का पता पूछते हुए आयेंगे। दो दिन तक मैने ही राजाराम बनकर उनको

भोजन कराया है। उनका आसन यहीं मंदिर में ही लगवा देना–प्रात: मध्याह्न और रात्री में प्रसाद की व्यवस्था कर देना।"

पुजारी जी की बात सुनते ही ब्रह्मचारी भावविह्वल हो उठे उनके नेत्रों से झरती अश्रुधार वक्षस्थल को आर्द्र करती कुछ क्षण बहती रही, बहती रही हृदय की भाव धारा भी–"मेरे लिये...मेरे लिये प्रभु आप राजाराम पंडित बने? दो दिन तक मुझे प्रसाद (भोजन) पवाया सेवा की मेरी.........? और अब अपने ही मंदिर में निवास और भोजन की व्यवस्था की धन्य प्रभु......! उनके मानस नेत्रों के सम्मुख पिछले दो दिनों की एक एक बात–दृश्य चलचित्र की भाँति घूमने लगे–चित्रकूट से ओरछा आते हुए टीकमगढ़ क्षेत्र के मुड़ारा में एक रात्री निवास करके अपराह्न में ओरछा पहुँचे थे। भोजन और विश्राम के अभाव में अत्यधिक थकान के कारण बेतवा (वेत्रवती गंगा) के किनारे अर्जुन वृक्ष के नीचे एक शिला पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद हाथ पैर मुँह धोकर स्नान किया–बेतवा के किनारे की मिट्टी खोदकर खायी और जल पीकर लेट गये। आज तीसरा दिन बिना भोजन किये व्यतीत हो रहा था।

दूसरे दिन चैत्र कृष्ण एकादशी थी। नित्यकर्म से निवृत्त हो स्नान संध्या कर जल पिया और पुन: शिला पर लेट गये, उसी समय एक अत्यन्त सुन्दर ब्राह्मण युवक आते दिखायी दिये। समीप आकर वे बोले–"ब्रह्मचारी जी! आप दो–तीन दिन के भूखे लगते हैं। आज एकादशी का फलाहार यदि आप हमारे यहाँ करना स्वीकार करें तो बड़ी कृपा होगी। मैं ओरछा का रहने वाला वैष्णव ब्राह्मण हूँ, हमारा खान पान सात्विक है मेरा नाम राजाराम है।"

ब्रह्मचारी जी ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और उनके साथ घर जाकर फलाहार ग्रहण किया, राजाधिराज रामराजा के दर्शन किये और आकर बेतवा के किनारे उसी

अर्जुनमूल की शिला पर विश्राम हेतु सो गये। प्रातः पुनः राजाराम जी ने आकर कहा–"जो एकादशी को फलाहार कराये उसे द्वादशी को पारण भी करवाना चाहिये यही शास्त्रीय विधि है अतः प्रसाद पाने के लिये हमारे घर पधारने की कृपा हो।

प्रसन्न मन से ब्रह्मचारी उनके साथ चल पड़े थे। आज के प्रसाद और कल के फलाहार में अद्भुत स्वाद था, सोचा था–"तीन दिन की भूख और इन ब्राह्मण प्रवर की सात्विकी श्रद्धा ने भोजन में स्वाद की वृद्धि कर दी है।"

अब उस ब्राह्मण युवक का वह मनोहर रूप, उसकी चाल, उसका वह विनय श्रद्धायुत मेघगम्भीर स्वर, घर लाकर स्वागत करना, आसन बिछाना, चौका लगाना, पत्नी सहित भोजन परोसना, मनुहार कर करके जिमाना, एक एक क्रिया मूर्त होकर हृदय को गलाकर नेत्रों की राह प्रवाहित करने लगी। प्राण बारम्बार मानो आवृति सी करते–"मुझ अधम–मुझ तुच्छ पर इतनी कृपा? मेरे लिये तुमने इतना कष्ट सहा? मेरे लिये......? आह! कौन थे यह महाभाग ब्रह्मचारी? जिनके लिये त्रिभुवन के अधीश्वर,"रोम–रोम प्रति लागे कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड" कहा जाता है– को ब्राह्मण पंडित बन कर आतिथ्य सत्कार करने का लोभ हो आया?

जन्मभूमि–सूत शौनकादि की तपस्थली और नाना पुराणों की कथास्थली फिर इनसे भी पुरातन समय में मनुशतरूपा की तपस्थली, दधीचि की अस्थिदान स्थली और अनेक तीर्थों को अपने में समेटे नैमिषारण्य के चौरासी कोस परिक्रमा पथ से थोड़ा सा हटकर पूर्व में तीस किलोमीटर दूर कुर्सी नामक ग्राम अवस्थित है। यह सीतापुर जिले के अंतर्गत सिधौली तहसील में है। आजकल आवागमन के लिये कई ओर सड़क मार्ग बन गये हैं किंतु उस समय संवत् 1970–75 के आस–पास ऊँची नीची संकरी पगडंडियों और जंगल के मार्ग से ही एक से दूसरे स्थान को आया जाया जा सकता था।

कुर्सी ग्राम गोमती नदी के किनारे कुछ ऊँचे स्थल पर होने से ही सम्भवतः किसी ने सर्वप्रथम इसे कुर्सी नाम से सम्बोधित किया हो। इसके अतिरिक्त दधीचि पुत्र पिप्पलाद की तपस्थली भी रही। ग्राम में साठ प्रतिशत कान्यकुब्ज ब्राह्मण और चालीस प्रतिशत अन्य जातियों के लोग निवास करते हैं। ग्राम के बीचों बीच राधाकृष्ण का मंदिर है, नैमिष जैसे तीर्थ का सामीप्य, गोमती का तट और सदाचारी ब्राह्मणें का निवास-इन सभी कारणों से गाँव के लोगों में सदाचार-पवित्रता और आचार विचार का भाव है।

गाँव के दक्षिण में गोमती तट पर पिपरी बाबा नामक एक विशाल पीपल का वृक्ष है, गाँव वहाँ से लगभग एक किलोमीटर दूर है। इस स्थल के प्रति गाँव के लोग बहुत श्रद्धालु हैं। सम्भवतः यही स्थान पिप्पलाद ऋषि की तपस्थली रहा हो या फिर कोई अन्य संत रहे हों।

बाराबंकी जिले के गड़िया ग्राम में कश्यप गोत्रिय तिवारी श्री देवीदीन त्रिपाठी निवास करते थे। इनके पुत्र का नाम मुन्नालाल त्रिपाठी था। ये कुल की गरिमा के अनुरूप सदाचार सम्पन्न निष्ठावान आचार विचार का पालन करने वाले तेजस्वी पुरुष थे। गृहस्थ होते हुए भी विरक्त के समान अपना अधिकांश समय तप स्वाध्याय में व्यतीत करते थे। कभी -कभी तो ब्रह्ममुहुर्त प्रातः से रात्री तक नदी में कटिपर्यन्त जल में खड़े रहकर ब्रह्मगायत्री का जप करते रहते। ऐसे में इनकी त्रिकाल सन्ध्या भी गायत्री जप में ही व्यतीत हो जाती।

इनका विवाह कुर्सी गाँव के एक सदाचारी ब्राह्मण की पुत्री से हुआ। समय के अन्तराल से पहले पं. देवीदीन जी और पश्चात अपने तीन पुत्र और पुत्रियों को अल्पायु अवयस्क ही छोड़ कर मुन्नालाल भी परलोक सिधार गये।

वैधव्य विकल गृहिणी बालकों को लेकर अपने पीहर (पितृगृह) चली आयीं। इस प्रकार यह परिवार सदा के लिये बाराबंकी का गड़िया गाँव छोड़कर नैमिषारण्य के कुर्सी गाँव में आ बसा।

भजन की निष्ठा, सत्यपरायणता, और ब्रह्मणोचित सदाचार के संस्कार बालकों को पितृ परंपरा के रक्त से ही प्राप्त थे।

बालकों के नाम थे- विश्राम प्रसाद, लक्ष्मण प्रसाद और द्वारिका प्रसाद।

छोटे भाई द्वारिका प्रसादजी गोमती तट के सिद्धस्थल पिपरीबाबा पर ही रहने लगे। ये अत्यधिक विरक्त और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे। धीरे धीरे इनका नाम ही पिपरी बाबा हो गया, गाँव के लोग इन्हें इसी नाम से स्मरण करने लगे।

सबसे बड़े विश्राम प्रसाद जी के भी कोई संतान नहीं हुई।

बीच वाले भाई लक्ष्मण प्रसाद जी सीधे, सरल, शौचाचार सम्पन्न, भजन परायण और धर्मनिष्ठ थे। ये संगीत, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद के प्रकाण्ड पंडित, उदारचित्त, अभिमान रहित निस्पृह और परोपकारी थे।

ननिहाल- सीतापुर जिले के अंतर्गत ही भिटहरा ग्राम के भारद्वाज पाण्डेय शोत्रिय कान्यकुब्ज कालिका प्रसाद जी की पुत्री कैलाशादेवी के साथ लक्ष्मण प्रसाद जी का विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ।

पं. कालिका प्रसाद उस क्षेत्र के विख्यात पुरुष थे उनका घर संत महापुरुषों के लिये सदा खुला रहता अतः कथा-कीर्तन-सत्संग से उनका घर सदा मुखरित बना रहता।

कालिकाप्रसाद जी परिवार सहित परम सिद्ध सन्त बाबा रघुनाथदासजी महाराज बड़ी छावनी अयोध्या के शिष्य थे। अत: कालिकाप्रसाद जी का परिवार भक्तिरंग में रंगा हुआ था। इनके एक भाई बाबा रघुनाथ दास जी से विरक्त दीक्षा लेकर साधु हो गये थे।

इस प्रकार सदाचारी, धर्मपरायण लक्ष्मण प्रसाद जी और वैष्णव भक्ति संस्कारमयी कैलाशादेवी का विवाह जैसे सुवर्ण संयोग था, जैसे मणि काँचन को सुगन्ध प्राप्त हुई, दूध में केशर घुली हो। लक्ष्मण प्रसाद जी कुर्सी गाँव के जमींदार गजाधर बख्श अवस्थी के पूर्वजों द्वारा बनवाये गये निजी राधाकृष्ण मंदिर की सेवा पूजा और समय समय पर मनाये गये त्यौहारों के उत्सव ही नहीं अवस्थी जी के अन्य सम्पूर्ण कार्यभार का निर्वाह जैसे- पूजा, पाठ, चिकित्सा, संगीत आयोजन और हिसाब किताब आदि महत्त्वपूर्ण कार्य भी यही निष्ठापूर्वक सम्भालते थे। अवस्थी जी की भी निर्भरता, स्नेह, सम्मान सराहनीय था। इनका एक राजा के समान हाथी थोड़े, जमीन, जायदाद, सोने, चाँदी और सेवकों से भरा घर, ऐसा प्रभावपूर्ण, व्यक्तित्व होते हुए भी अवस्थी जी ब्राह्मण भक्त थे, उनकी धर्मनिष्ठा अपूर्व थी- कहीं जाते हुए मार्ग में गौ, ब्राह्मण, पीपल वृक्ष को देख यह विपुल वैभव का स्वामी, निरालस्य कर्मयोगी और धर्मप्राण व्यक्ति वाहन से उतर पर प्रणाम करते। एकाध बार नहीं, यात्रा में जब जब भी इनके दर्शन होते सदा भूमिष्ठ हो प्रणाम करते। इसी के कारण इनके ललाट पर निरन्तर घर्षण का निशान बन गया था।

सत्य, दया, दान के भंडार अवस्थी जी को सम्पूर्ण गीता कंठस्थ थी और प्रत्येक एकादशी को मंदिर में भगवान राधाकृष्ण को गीता के प्रत्येक श्लोक को "सर्वधर्मान् परित्यज" के श्लोक से सम्पुटित करके बोलते हुए प्रणिपात करते यात्रा के समय उनकी बैलगाड़ी में कई धोतियाँ रखी रहतीं। लघुशंका करके प्रत्येक बार स्नान करके धोती बदलते थे।

यही नहीं धर्मप्राण अवस्थी जी के द्वारा जमींदारी–मान मार्यादा का निर्वाह भी उसी मात्रा में होता। उनके घर की स्त्रियाँ जब गोमती स्नान को रथों के पर्दो के पीछे बैठकर जाती तो गोमती पर एक निश्चित स्थान घेर कर कनातें लगा दी जातीं।

लक्ष्मण प्रसाद त्रिपाठी जी अवस्थी जी के अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति होने पर भी वे कभी अवस्थी जी के यहाँ भोजन नहीं करते थे। निष्ठा ऐसी कि भोजन के बीच में कोई व्यक्ति आकर कहे कि "अवस्थी जी ने बुलवाया हैं तो उसी समय भोजन अधूरा छोड़ आचमन करके चले जाते।

एक बार अवस्थी जी ने मंदिर में शिवमूर्ति स्थापित करने को मूर्ति लेने त्रिपाठी जी को जयपुर भेजा। वहाँ एक विग्रह उन्हें पसन्द भी आया पर उसे पूर्व से ही किसी और ने पसन्द कर लिया था, अब क्या हो?

इन्होंने मन ही मन प्रणाम करके प्रार्थना की–"यदि आप मेरे साथ कुर्सी पधारें तो जीवन भर मैं आपकी सेवा करूँगा।"

फलस्वरूप पहले वाला ग्राहक आया ही नहीं विग्रह लेकर त्रिपाठी जी कुर्सी आये और उनकी मंदिर में स्थापना हुई। अपने वचन के अनुसार त्रिपाठी जी दिन रात मंदिर में बने रहते केवल एक बार भोजन करने घर आते।

सब प्रकार से शांत सुखमय जीवन होने पर भी त्रिपाठी जी के हृदयाकाश में एक काला मेघखण्ड उनके सुख मयंक को ढके रखता था। एक दुखभरी टीस हृदय में उठकर अनायास ही उनके मुख को चिंतातुर बना देती। हृदय में गड़ने वाली वह फाँस थी संतान–हीनता। बड़े भाई को कोई संतान थी नहीं और छोटे भाई साधु हो गये थे।

लक्ष्मणप्रसाद की पत्नी को जो भी संतान होती वह नष्ट हो जाती। इस दु:ख से केवल ये पति–पत्नी ही नहीं सम्पूर्ण परिवार संतप्त था। अपनी ओर से दानव्रत, होम, मनौती सब कुछ करने पर भी कोई संतान जीवित नहीं रही।

एक बार किसी चिन्तनशील महानुभाव ने सुझाव दिया-"आप संतान प्राप्ति की कामना से गया तीर्थ की यात्रा सपत्नीक करें। भगवान गदाधर के दर्शन से आपकी मनोकामना अवश्य सफल होगी।"

महत् वस्तु की प्राप्ति के लिये महत् प्रयत्न-महत् कर्म भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार महापुरुषों के आविर्भाव के लिये उनके माता पिता का भी विशेष पुण्यार्जन की आवश्यकता होती है अस्तु त्रिपाठी दम्पति ने 'गया' की ओर प्रस्थान किया।

गुरुजनों के मुख से सुना है कि उर्ध्व लोक-जनलोक तपलोक और सत्यलोक में रहने वाले जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त महापुरुष केवल एक ही दुख से दु:खित रहते है हम मृत्यु लोक के मानव क्यों प्रमाद में ही समस्त जीवन बिता देते हैं? वे दु:खी होते हैं कि सुदुर्लभ मानव तन पाकर भी हम सदा भोगासक्त रहकर समय गवाँ देते हैं समय मिला ही कितना है हमको? ब्रह्मा के कालमान की बात छोड भी दें, तो देवो के काल मान से भी मनुष्य की अधिकतम आयु सौ दिन है। भले ही हम उसे सौ वर्ष कह लें- कोई कोई विरले ही इस आयु रेखा को छू पाते हैं अथवा पार कर पाते हैं। यदि पार कर भी लें तो क्या उसका सदुपयोग हो पाता है?

क्या हम अधिकांश लोग वही कार्य नहीं करते जो पशु पक्षी करते हैं? वे भी तो घर मांद, घौंसला गुफा बनाते हैं, अपनी आवश्यकता और समझ के अनुसार पति पत्नी का जोड़ा भी बनाते हैं। संतान होने पर बड़े छोह से उनका लालन पालन भी करते हैं। संतान और अपना पेट भरने के लिये शक्ति भर संघर्ष करते ही हैं फिर ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव और मानवेतर प्राणी में भेद कहाँ हैं। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ कैसे हैं? क्यों है?

इसलिये कि मानव को ईश्वर ने बुद्धि प्रदान कर एक प्रकार से अपना लघु संस्करण ही बना दिया है इतने से ही मानों उन्हें संतुष्टि नहीं हुई, उन्होंने उदारतापूर्वक उसे कर्म

स्वतन्त्रता भी प्रदान कर दी। क्यों? क्यों?? क्यों??? क्या इसलिये कि ये सुविधायें प्राप्त कर पशु जीवन निर्वाह करें? नहीं! इसलिये कि वह अपने उद्‌गम को जाने, वह अपने को पहँचानने का प्रयत्न करें, समस्त दृश्य को जगत के उत्पन्न करने वाले कर्ता को जाने इस नाटक के पीछे छिपे सूत्रधर को पहचाने। जिसे वह "मैं" कहता है वह है कौन?

बुद्धि की सार्थकता इस चरम जिज्ञासा के जन्म से ही है।

यह विशाल संसार, अपना आकाश, पवन, पानी, नाना प्राणी, सर, सरित, पादप,पुष्प, निर्झर, यह उतुङ्ग गिरिमाल, अतल सागर, छोटे से बीज में इतना बड़ा वटवृक्ष कहाँ कैसे छिपा था? फिर पत्र, पुष्प, फल और शाखाओं के विभिन्न रंग इस रजकण जैसे बीज में किस चित्रकार ने कैसे संजोकर रखे थे? इन सबको देखने वाला 'मैं' ही कौन हूँ?

कौन है वह अद्‌भुत कला शिल्पी जिसने इन सबके साथ मुझे भी बनाया? ये सब प्रश्न क्यों नहीं उठते हमारे मानस में? यदि उठते हैं तो हम उनका समाधान ढूँढने का प्रयास क्यों नहीं करते?

बस यही है उन महामनाओं के चिंता का-विषाद का विषय।

तब उनमें से कोई एक, कभी दो या अधिक संख्या में हमें चेतना प्रदान करने, मोहनिद्रा से जगाने और हमारी कल्याण कामना ले कृपापरवश हो धरा पर अवतरित होते हैं।

वे हमारी भाँति प्रारब्धवश जन्म लेने को विवश नहीं है। उन्होंने तो संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण सबको अपनी मेधा और भाव की उत्कृष्टता द्वारा समाप्त करके ही स्वैच्छया पुनर्भव की शक्ति प्राप्त की है। वे तो केवल हमारा कल्याण कर-हमें अपने उद्‌गम-अपने आराध्य-चरणों तक पहुँचाने के लिये ही इस दु:खालय शाश्वत् की सुखमयता समझाने के लिये ही पधारते हैं। उनसे जुड़कर, उनके दर्शन, स्पर्श, उनकी वाणी श्रवण कर, उनकी देह को छूकर आयी हुई वायु के स्पर्श से भी हजारों जनों के मानस परिवर्तित हो जाते हैं- वे कल्याणकामी हो चल पड़ते हैं मंगलपथ पर।

जन्म– कई बार समर्थ अपने असमर्थ–शापित शिष्य के उद्धार–उसे प्रेरणा देकर–पथ प्रदान करने के लिये स्वेच्छा अवतरण स्वीकार करते हैं। उस शिष्य के साथ कोटि कोटि अन्य जीवों का भी उद्धार हो जाता है।

ऐसे ही एक महाभागवत के अवतरण का रंगमंच–रंगभूमि के प्रस्तुति करण की भूमिका का आरंभ करने ही मानो त्रिपाठी दम्पति ने 'गया' की ओर प्रस्थान किया।

'गया' में सविधि श्राद्धतर्पणादि करके उन्होने सपत्नीक भगवान गदाधर के दर्शन किये और आर्त होकर भक्त पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की।

गया से लौटने के पश्चात् सहज धर्मशील दत्पति की आस्था–निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। कुछ समय पश्चात कैलाशादेवी की देह में गर्भस्थिति के लक्षण प्रकट हाने लगे। महापुरुषों के गर्भ में आने पर जो लक्षण आर्ष ग्रन्थों में बताये गये हैं वे ही लक्षण घटित होने लगे– कैशालादेवी नित्य प्रसन्न रहने लगीं, उनकी मुखकान्ति बढ़ गयी, उनके लिये जैसे कोई पराया नहीं रह गया, वे बैठे बैठे ही सहज मुस्करा पड़ती, गर्भावस्थाजन्य आलस्य का कहीं कोई नामोनिशान नजर नहीं आता, उन्हें रात्री में बारम्बार शुभस्वप्न दिखायी देते, वे स्वभाव से ही उदारचेता थीं किंतु अब उनकी उदारता जैसे भाद्रपद की उमड़ती सरिता हो–उनके लिये जैसे कुछ भी अदेय न रहा हो।

धीरे धीरे समय व्यतीत होता गया और "विलीनपद्‌म:" कहलाने वाली हेमन्त ऋतु अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुई।

करुणामय भगवान गदाधर की कृपा से पंडित लक्ष्मणप्रसाद जी त्रिपाठी के घर संवत् 1975 पौष शुक्ल षष्ठी के ब्राह्ममुहुर्त में पुत्र जन्म का सोहन थाल बज उठा। त्रिपाठी दम्पति की धर्मनिष्ठा और पुण्यबल ही मानो पुत्र रूप में अवतीर्ण हुआ। भगवान गदाधर का अनुग्रह ही जैसे बालक के रूप में मूर्त हुआ। परिवार और प्रियजनों के हृदय में जैसे इस बालक के जन्म से खुशी का उफान आ गया। घर में आनन्द उदधि उमड़ पड़ा।

उठते हुए हर्षावेग की थाह सी लेते हुए त्रिपाठी जी ने वेदज्ञ ब्राह्मणों की आज्ञानुसार जातकर्म संस्कार किया-नान्दीमुख श्राद्ध सम्पन्न करके कक्ष से बाहर आये कि सोहर के गीतों से घर आँगन गूँज उठा। सूर्योदय हो चुका था, बाहर बैठक में बधायी देने वाले इकट्ठे होने लगे थे। शील संकोच के अवतार पं. लक्ष्मण प्रसाद त्रिपाठी बधाई की इस बाढ़ के सामने घर के बड़े बूढ़ों को छोड़ गोमती किनारे पिपरी बाबा पर चले आये। पुनः स्नान करके कृतज्ञतापूर्ण हृदय से प्रार्थना की-"प्रभु! इस बाल को अपने चरणों का चंचरीक बनाने की कृपा करें, कृपा करें कि वह संत-भक्त सेवी-प्रभु प्रेमी, चिरायु और कुलभूषण हो।"

उनके नेत्रों की बरसा वक्षस्थल का मानो प्रक्षालन करने लगी। जब हृदय का आवेग और नेत्रों की वृष्टि थमी तो उन्होने वहीं भूमिष्ठ होकर आराध्य को प्रणाम किया और उठकर घर की ओर चलने को पद बढ़ाया किंतु पुनः कुछ सोचकर वे वहीं सीढ़ी पर बैठ गये।

चिरप्रतीक्षित संतान के जन्म से यद्यपि हृदय प्रसन्न था किंतु यह प्रसन्नता कहीं गुरुजनों के सम्मुख मुख पर न छलक आये इसी संकोच ने उन्हें कुछ समय के लिये पिपरीबाबा पर रोक लिया।

पहले जन्में सभी बालक असमय ही काल के गाल में समा गये थे अतः जन्म होते ही लौकिक टोटके के अनुसार बालक के नाक-कान छेद दिये गये और घर में उन्हें 'नत्था' कहकर बुलाया जाने लगा दसवें दिन नामकरण संस्कार हुआ- भगवान गदाधर की कृपा और गया यात्रा के पश्चात इस बालक का जन्म हुआ है यह मानकर गुरुजनों ने "गयाप्रसाद" नाम रखा। इसी प्रकार समयानुसार सभी संस्कार सम्पन्न हुए।

बाल्यकाल— बालक गयाप्रसाद देखने में सुंदर, सुशील और शाँत स्वभाव के थे। अन्य छोटे बालकों की भाँति रोते चिल्लाते नहीं थे। जहाँ लिटा देते वहीं लेटे लेटे खेलते रहते। माँ को स्वयं ही स्मरण करके दूध पिलाना पड़ता, ये कभी भूख के कारण नहीं रोते। पास पड़ोस की महिलायें घर में आतीं तो इन्हें गोद में लेने का लोभ संवरण नहीं कर पातीं- वे इनकी माँ को बारम्बार शिक्षा देते हुए कहते-"कैसा सुन्दर सलोना बालक है सदा मुस्कराते हुए किलकारी मारकर खेलता रहता है। कभी हमने इसे रोते नहीं देखा। पर बहू! तुम इसे याद करके दूध पिलाती हो न? या फिर लल्ला के रोने की बाट ही तकती रहती हो? देखो दूध पीते पीते बालक थक जाता है फिर उसका पेट भी कितना सा, जल्दी भर जाता है, और फिर जल्दी हजम् भी हो जाता है इसलिये बच्चे को थोड़ी थोड़ी देर में दूध पिला दिया करो?

कोई दूसरी कहती— ऐसा शान्त बालक तो हमने कभी नहीं देखा यह तो खिलौना है खिलौना।"

कोई कहती-"अरे दूसरे बालक तो सुबह शाम ऐसी हल्ला-हल्ल मचावें कि पूछो मत" कोई कहती—"बहू ! तनिक काजर की डिबिया तो देना, लल्ला को डिठौना लगा दूँ किसी की नजर न लग जाय।"

बालक को छोड़ कर घर जाने को उनका मन ही नहीं करता।

पड़ोसिनों के जाने के पश्चात् घर की बड़ी बूढ़ी औरते उन पर राई नौन उतारती नजर के टोटके करतीं।

गुरुजनों की असीम वात्सलयमयी परिचर्या के बीच बालक गयाप्रसाद द्वितीया के चन्द्र की भाँति बड़े होने लगे। उनका सहज शाँत स्वभाव, गाम्भीर्य, मितभाषण, बड़ों की आज्ञा का पालन, परदु:खकातरता आदि गुण अपरिचितों को भी अपनी ओर आकर्षित कर

लेते। क्रोध से तो इनका परिचय ही न था। समवयस बालक खेल में कभी चोट पहुँचा देते अथवा धक्का दे देते तो रोकर अथवा क्रोध करके प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बदले चुपचाप एक ओर हट कर बैठ जाते, माँ अथवा अन्य किसी गुरुजन से शिकायत भी नहीं करते। गिर जाने पर स्वयं ही उठकर कपड़े झाड़ लेते। कभी किसी ने इन्हें लड़ते झगड़ते अथवा धींगामस्ती करते नहीं देखा, ये सहज एकान्त प्रिय थे। अभी अक्षरारम्भ नहीं हुआ था किंतु ये किसी भी पुस्तक अथवा कागज को लेकर अकेले बैठे बैठे उसे पढ़ने की चेष्टा करते, कभी पुस्तक के पृष्ठों को यों ही उलट पलट करते रहते। इन चेष्टाओं से इनके पितृव्य बहुत प्रसन्न होते, कभी कभी कह भी देते–"अवश्य ही यह बालक मेंधावी है, भविष्य में हमारे कुल के अनुरूप बहुत बड़ा विद्वान होगा।"

माता के संग कभी भिटहरा (ननिहाल) जाते तो नाना–नानी के वात्सल्य में बाढ़ सी आ जाती नाना पं॰ कालिका प्रसाद और इनके बड़े भाई दोनों बड़ी छावनी अयोध्या के महान्त श्री रघुनाथदास जी के शिष्य थे अतः घर में ठाकुर पूजा संत सेवा होती ही रहती। बालक गयाप्रसाद जी को सत्संग में बड़ा आनन्द आता। घर में बने रघुनाथ जी के मंदिर के पुजारी जी से ये ढ़ेरों बाल सुलभ प्रश्न करते।

"ये कौन है?"

"ये ठाकुर हैं लल्ला!"

"ठाकुर काले होते हैं?"

"हाँ, बिटवा! ठाकुर तो काले ही होते हैं। ठकुरानी गोरी हैं।"

"ये बोलते क्यों नहीं?"

"जब तुम अकेले में प्यार से बतराओगे न, तब बोलेंगे। ये मन की भाषा समझते हैं।"

बालक निर्निमेष नेत्रों से एकटक विग्रह को देखते हुए मन ही मन कहता–"मुझसे मित्रता करोगे मेरे संग खेलोगे? मुझसे बात करोगे?

इस प्रकार मन ही मन नित्य उनसे बातें करते। पुजारी जी ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लगा देते। घर में आकर माँ से सारी बातें कहते; देख सुनकर माँ प्रसन्न होती। इन्हें संतों के चरणों में प्रणाम करने को कहती; उनकी छोटी मोटी सेवा करने की प्रेरणा देती। संत जब इन्हें आर्शीवाद देते तो मन ही मन बड़ी प्रसन्न होती। बाद में कभी कभी कहते–"इस दास को वैष्णवता के संस्कार मातृकुल से ही प्राप्त हुए।"

इस प्रकार स्मार्त एवं वैष्णव दोनों प्रकार के संस्कारों के बीच इनका बचपन पला।

माता कैलाशादेवी कहा करती थीं कि–शाँत स्वभाव और बड़ों की आज्ञा पालन करने के कारण कभी इनको डाँटने डपटने का अवसर आया नहीं।

इनके बालसखा जो गौरा गाँव में विराजते हैं श्री रामेश्वर पाण्डेय कहते– "ये तो महात्मा हैं। बाल्यकाल में भी ये बहुत गम्भीर, शाँत और सदाचारी थे, बड़ों का सम्मान, आज्ञा पालन, दया, क्षमा, सेवा प्रेम आदि गुण इनमें सहज ही विद्यमान थे। कहाँ जानते थे हम कि हमारे ये सखा आगे जाकर ऐसे महापुरुष के रूप में ख्यात होंगे। हम तो इनकी मित्रता प्राप्त कर धन्य हो गये।"

एक बार एक सन्त भिक्षा माँगने आये इनके घर, कुछ क्षण इनका मुख देखते रहे फिर बोले– "यह बालक घर पर रहने के लिये धरती पर नहीं आया है।" उस समय इनकी आयु पांच वर्ष की थी, सुनकर माँ व्याकुल हो उठी, तब इस पाँच वर्ष के बालक ने ही उन्हें समझा बुझाकर शाँत किया। गायों के प्रति बचपन से ही इनके मन में प्रेम था। एक बार दीपावली पर माँ ने इन्हें कई सारी बत्तियाँ दीपकों में रखने के लिये दी किंतु इन्होंने सारी बत्तियों को मिलाकर एक ही मोटी बत्ती बना ली और उसे गौशाला में रखकर जला दी इससे

वहां पड़े फूस ने आग पकड़ ली। उस प्रकाश को देख बालक गयाप्रसाद बड़े प्रसन्न हुए कि अब गौमाता के आवास में अंधेरा नहीं रहा। उन्होंने दौड़कार माँ को सूचना दी-

देखो माँ! गाय के थान में कितना उजाला हो गया। तुम्हारी दी हुई बत्ती मैने वहाँ जलाई।" माँ दौड़कर गयीं और फूस में लगी आग बुझा दी इन्हें समझाया कि गायें कोई बालक थोड़े ही हैं कि अंधेरे में डर जायेंगी। उल्टे यह आग बढ़ जाती तो बुझाना कठिन होता और गायें भी जल जाती इसलिये आगे से ऐसा न करें।" गया प्रसाद को अपनी भूल समझ में आ गयी।

8 (आठ) वर्ष की आयु में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पं. लक्ष्मण प्रसाद जी ने अपनी क्षमतानुसार धूमधाम से यह उत्सव सम्पन्न किया गाँव की सामान्य सी पाठशाला में इन्हें प्रवेश दिलाया गया। पाठशाला में अन्य विषयों के साथ उर्दू भी अनिवार्य विषय था। गयाप्रसाद संस्कृत पढ़ना चाहते थे, उर्दू में इनकी रुचि न थी फिर भी गुरुजनों की इच्छानुसार पढ़ाई आरम्भ हो गयी। इतने छोटे बालक को घर से दूर अध्ययन के लिये रखने पर कोई सहमत न था। न चाहते हुए भी गाँव पढ़ना पड़ा। पाठशाला के शिक्षक उग्र स्वभाव के थे, पाठ याद न करने पर बालकों की पिटायी करते थे। दूसरों को मार खाते देख बालक गयाप्रसाद के प्राण काँप उठते थे। शाँत और शालीन गयाप्रसाद सावधानी पूर्वक अपना पाठ याद कर लिया करते थे।

पं. लक्ष्मण प्रसाद, श्री गदाधर वख्श, और चाचा ताऊ इनके आदर्श थे जो किसी पुस्तक की समीक्षा अथवा पूजा के समय गुरु गम्भीर स्वर में श्लोक पर श्लोक बोलते चले जाते। उनका तेजपुंज विशाल भाल त्रिपुण्ड भूषित रहता वे श्वेत वस्त्रों से सुशोभित हो खड़ाऊ खटकाते मंद स्वरों में शिवस्तुति की आवृत्ति करते घर में प्रवेश करते तो उन तेजो दीप्त ब्राह्मण श्रेष्ठों को देख गयाप्रसाद का हृदय गर्व से भर जाता, गौरव से मस्तक उठ

जाता मन ही मन सोचते–"मैं भी ऐसा ही बनूँगा... ऐसा ही.....। यह अलीफ–बे की पढ़ाई उस समय इन्हें वेहद खटक जाती। "ब्राह्मण के बालक को संस्कृत का विद्वान होना चाहिये।" कभी सुना हुआ यह वाक्य ध्रुव सत्य बन गया।

अपने बस्ते में ये अन्य पढ़ाई की पुस्तकों के साथ गीता भी रखा करते, माँ के पूछने पर बताया–"इससे बस्ता बड़ा दिखायी देता है।" मन में कहा–" गीता संस्कृत ग्रंथ है और सभी इसका महत्व बखान करते हैं।"

महापुरुषों की जीवन शैली बचपन से ही साधारण लोगों से भिन्न दिखायी पड़ने लगती है, वे अन्य लोगों की भांति बँधी–बँधाई प्रणाली से घिसे पिटे पथ से नहीं चलते। वे अपनी अदम्य इच्छाशक्ति और अध्यवसाय द्वारा भिन्न पथ का निर्माण चयन करते हैं यथा–

लीक लीक कायर चलें लीक लीक कपूत।
लीक छोड़ तीनों चलें, शायर सिंह सपूत।

वे मुक्त पक्षी की भाँति अनन्त गगन में ऊँचे से ऊँचे उड़कर, पहुँच कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। वे सिंह की भांति पगडंडियों पर नहीं चला करते, वे किसी की उंगली पकड़ कर नहीं चलते, वे बाधाओं की कंटकाकीर्ण झाड़ियों, विपत्तियों की खाइयों और दु:ख के पहाड़ों को असीम साहस से रौंदते हुए पार कर लक्ष्य पाकर ही चैन लेते हैं। विपत्तियाँ और बाधायें उन्हें दृढता और साहस प्रदान करते हैं।

गृहत्याग– गया प्रसाद भी गाँव की संस्कृत उर्दू पाठशाला की पढ़ाई से संतुष्ट नहीं थे उस समय सीतापुर जनपद के कमलापुर कस्बे में राजा सूरजवख्श द्वारा संचालित जवाहर संस्कृत पाठशाला थी किंतु वहाँ भी प्रवेशिका तक ही पढ़ाई होती थी। इसके आगे तो फिर काशी ही विद्या केन्द्र था। मोह ममता के कारण घर में किसी की भी राय नहीं थी कि विद्यार्जन के लिये गया प्रसाद को उतनी दूर काशी भेजा जाय। राय भले किसी की न

हो पर क्या कोई बाढ़ के उमड़ते-उफनते जल को रोक पाया है? रोक पाया है कोई दावानल की लपलपाती जिह्वा को?? रोक पाया है कोई प्राणों की अभिप्सा लिये लक्ष्य की ओर पद बढ़ा देने वाले राही को???

"ब्राह्मण बालक को शास्त्राध्ययन करना चाहिये।" शास्त्राध्ययन के लिये संस्कृत पढ़ना आवश्यक है फिर मैं यह म्लेच्छ भाषा क्यों पढ़ूँ?" मन में अनेको प्रश्नों के वाल्याचक उठते, पर पूछें किससे? माँ से?

"नहीं। माँ तो सबसे पहले मना कर देंगी काशी जाने के लिये। किसी और से पूछने की तो हिम्मत ही कहाँ थी? आखिर कई दिनों के मनोमंथन के पश्चात् गयाप्रसाद के बालमन ने निश्चय कर लिया-" बिना किसी को बताये ही चुपचाप किसी दिन काशी के लिये चल पड़ना है। पूछते पूछते पहुँच ही जाऊँगा।" "भोजन?" मन ने प्रश्न किया।

"ब्राह्मण बालक हूँ, भिक्षा माँग कर निर्वाह कर लूँगा, और क्या। "बुद्धि ने उत्तर दिया।

"भिक्षा भी सभी से तो नहीं माँगी जा सकती न?

"हाँ हाँ गाँवों में ब्राह्मण तो रहते ही हैं। ब्राह्मण घर से भिक्षा ग्रहण करने में तो कोई दोष नहीं होगा फिर काशी पहुँचने पर कोई चिंता रहेगी ही नहीं। वहाँ तो बहुत पाठशालायें होंगी और पढ़ाने वाले तो ब्राह्मण ही होते हैं। वहीं किसी पाठशाला के उपाध्याय जी की आज्ञा ले अध्ययन भी कर लूँगा और उनके यहाँ सेवा करके भोजन भी पा लूँगा। वाह, फिर तो पूरा विद्वान बनकर ही घर लौटूँगा। नहीं, नहीं एकाध बार घर भी आना पड़ेगा अन्यथा माँ तो रो रोकर मर ही जायेगी। पहुँचने के कुछ दिन बाद पत्र लिख दूँगा कि चिंता न करें, मैं काशी में पढ़ रहा हूँ।"

थोड़े दिन भले दु:खी होगी पर जब मैं पढ़ लिखकर विद्वान बनकर घर लौटूँगा–पिताजी, ताऊजी की तरह तो सब कितने प्रसन्न होंगे। वाह, वा फिर तो क्या कहने......।'' नित्य ही मन मोदकों का स्वाद लेते हुए गयाप्रसाद ने तीसरी कक्षा पास करली।

आखिर बाढ़ का जल कब तक उमड़ता–घुमड़ता रहता एक दिन धक्का मार कर बड़ों के संकोच और ममता के भूधर को ढहा ही दिया। गया प्रसाद ने निश्चय कर लिया–"आज रात्री को घर छोड़ काशी की ओर चल पड़ना है।''

उसी दिन विरक्त द्वारकाप्रसाद जी ने पिपरीबाबा पर रहते हुए जो पिपरी बाबा ही कहलाने लगे थे इनको बुलाकर कुछ रुपये दिये और कहा– ये रुपये अपनी माँ को दे देना।'' इसके अतिरिक्त एक रुपया देकर बोले–"यह एक रुपया तुम्हारे लिये हैं।"

गया प्रसाद ने वे रुपये माँ को दे दिये और अपना एक रुपया खिड़की के पास रख दिया कि घर से जाते समय साथ ले लूँगा।

काशी जाने की दृढ़ इच्छा और त्वरा के कारण उनको नींद नहीं आयी। धीरे धीरे रात गहराने लगी। मध्य रात्री को गया प्रसाद धीरे से उठे, सरकंडा जलाकर खिड़की के पास रखा रुपया ढूँढना चाहा किंतु खिड़की तक पहुँचने से पूर्व ही सरकंडा बुझ गया। अनुमान से हाथ फेरा पर रुपया नहीं मिला। बिना ही मार्ग व्यय लिये अपना बस्ता उठा घर से निकलकर अनुमान से ही चिरवांछित पथ पर चल पड़े।

चल तो दिये किंतु उस समय जब न सड़क थी न यातायात के कोई निश्चित साधन तब उस तेरह चौदह वर्ष के नासमझ अनजान बालक के लिये काशी तक की पैदल यात्रा क्या संभव थी ?

कभी किसी गाँव में आश्रय मिला और कभी वृक्ष के नीचे रात्री व्यतीत हुई। कभी भोजन की व्यवस्था हुई और कभी जल भी न मिला। पथ पूछने पर किसी ने आयु का

अनुमान कर घर लौट जाने की सलाह दी। किसी ने गम्भीरता पूर्वक पथ की कठिनाइयाँ गिना कर उचित निर्देश दिये और कहीं किसी मनचले ने उल्टी ही दिशा दिखा दी। महिलायें तो आँखों में आँसू भर समझाती- "घर जा लल्ला तेरी (मैया) माई रोती होगी।" "क्यों माँ का अन्नजल जहर करने घर से निकल पड़ा है लल्ला!"

" अरे बड़ा होकर पढ़ लिख लेगा। बाभन का बेटा है, कौन सा पढ़ लिखकर किसी की चाकरी करनी है कि लाटसाब बनेगा जा। घर जा भैया!"

"हाय, कैसा सुन्दर सलौना बालक है, किस बैरी ने ऐसी सलाह दी।"

"हाय , धूप में तपकर चेहरा कैसा लाल हो गया है, आ बेटा तनिक सुस्ता ले।"

कोई कहती-"जल पियेगा ?"

"तुम कौन जात हो ? मैं ब्राह्मण पुत्र हूँ।"

नहीं महाराज! हम सूद्र ठहरे, थोड़ा सुस्ता के अगले गाँव चले जाओ वहाँ ब्राह्मण है।"

इस प्रकार दो महीने हो गये भटकते हुए आखिर थक हार कर एक दिन गया प्रसाद ने अपने गाँव की राह पूछी।

उस दिन बालक नत्था के घर न लौटने पर चारों ओर खोज ढूँढ होने लगी। माँ रोते रोते बेहाल हो गयी। कुंआ, बावड़ी, नदी, ननिहाल सब स्थान ढूँढ लिये। पुरुष तो जैसी "हरि इच्छा" कहकर चुप हो गये, पर माँ?

उठते बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, घर का काम करते और बातचीत करते हुए भी उसकी ममता नेत्रों से झरने लगती, लम्बे निश्वासों से हृदय का रक्त सूखता जाता। दो महीने बीत गये एक एक दिन गिनते, इन दो महीने का प्रत्येक दिन माँ के लिये युग युग समान

बीता। कहीं भी खुटका होता कि उसकी आँखें द्वार की ओर उठ जातीं। किसी भी कच्चे गले की आवाज उसे अपने वात्सल्य-भाजन का कंठ स्वर लगता उसके कान चौकन्ने हो उठते हृदय की धड़कन थम सी जाती कहीं नत्था तो नहीं है? क्षण भर के लिये हृदय उल्लसित हो उठता किंतु दूसरे ही क्षण ज्ञात होता-वह स्वर घर के ही किसी अन्य बालक का है-वह पदचाप किसी अन्य की है तो एक गहरी निश्वास के साथ घुँघट में छिपी दो सीपियाँ अपना कोष रिक्त करने को आतुर हो उठतीं। उस महीयसी नारी ने चुपके चुपके कितनी मानतायें देवताओं की मानी, कितनी प्रार्थनायें गौरी, गणेश और गदाधर से की कि उसकी गोद के रत्न की-वह जहाँ भी हो रक्षा करें-उसे लौटा लायें।"

"आह! वह भूखा होगा" यह स्मरण आते ही थाली का अन्न जहर हो जाता। "वह कहाँ सोया होगा? किसी पेंड़ के नीचे? कहीं साँप या जंगली पशु......" आगे की बात वह सोच नहीं पाती कलेजा काँप उठता, शय्या पर जैसे अंगारे बिछ जाते, वह मन ही मन प्रणाम करके प्रार्थना करती-"हे महादेव! उसकी रक्षा करो, मेरी आयु उसे लगा दो........।

आह! मेरा छौना कहाँ होगा? वह तो बहुत भोला है, उसे तो भिक्षा माँगनी भी नहीं आती, हे ईश्वर! मुझ दुखियारी माँ की गुहार सुनो कृपा करो.......कृपा करो.......हे..... करुणाकर.......दया......करो....। आसुओं की बाढ़ में मन के शब्द डूब जाते।

उस सुन्दर, सुकोमल, सुशील बालमूर्ति को देखने के लिये उसकी आँखे तरस तरस जातीं।

"नत्था आ गया" "नत्था आगया" एक दिन अकस्मात सुनायी दिया "क्या सच?" हृदय धक् से रह गया धड़कन रूक गयी जैसे सृष्टि थम गयी हो। यह भी कानों का भ्रम है" मन में कहा "ऐसा भाग कहां?"

कुछ ही क्षण लगे इस भ्रम को भंग होने में, सभी तो कह रहे हैं-"नत्था आगया।" घर के लोग भी बाहर जा रहे हैं" आँखे बरबस द्वार की ओर घूम गयीं-एक बालक दुबला सा द्वार के बाहर कुछ दूर खड़ा था। माँ की ममता आकुल हो उठी अपनी कोख के खोये धन को हृदय से लगाने को.......किंतु मर्यादा के घनगम्भीर स्वर के एक पद भी उधर-उस ओर बढ़ाने नहीं दिया-"राजा साहब की आज्ञा है कि-कल विप्र समाज की बैठक होगी उसमें निश्चय होगा कि बालक से क्या प्रायश्चित करवाया जाय। प्रायश्चित के पश्चात ही नत्था घर में प्रवेश कर पायेगा।" आह री! कटु कठिन मर्यादा! तू क्या जाने मातृहृदय की आकुल व्यथा। तुझे तो केवल प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा होना ही आता है, तू केवल विधि निषेध की ही जननी है, कटुता ही उगलना आता है तुझे! काश! तू ने भी कभी प्रसवपीड़ा सहकर किसी शिशु को जन्म दिया होता, तूने भी किसी शिशु को दुग्धपान कराया होता, उसका निर्दोष भोला मुख निहार कर भी क्या तू इतनी ही कठोर-कटुता भरी रह पाती ...... ? उस दिन नत्था को भोजन घर से बाहर ही दिया गया। उस समय घर की देहरी लाँघ-बाहर जाकर अपने बालक को लाड़-छोह करने की बात महिलायें-विशेष करके बहुयें सोच भी नहीं पाती थीं। "बालक आ गया है" इसी बात को सुनकर कलेजा ठंडा करना है, आया है तो घर में भी देर सवेर कभी न कभी आयेगा ही यही संतोष करना है अभी तो।

प्रायश्चित - दूसरे दिन अवस्थी जी की अध्यक्षता में ब्राह्मण समाज की सभा हुई। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का खान पान आचार विचार सदा उच्च श्रेणी का रहा है। "लक्ष्मण प्रसाद त्रिपाठी का बालक बहुत दिनों तक गाँव से बाहर-जाने कहाँ रहकर लौटा है, उसे समाज-परिवार में ऐसे ही कैसे सम्मलित कर लिया जाय? जाने किस किस का अन्न किस किस के हाथ का खाया है, किस किसका स्पर्श किया होगा और किसके यहाँ रहा होगा अतः बिना शुद्धि करण के कैसे समाज में मिलाया जा सकता है?

सबने सोच विचार कर निर्णय दिया–"प्रायश्चित के रूप में ब्रह्मगायत्री का एक पुरश्चरण करे, इसके साथ ही त्रिकाल गोमतीस्नान, संध्यावंदन, त्रिकालसंध्या में छःहजार गायत्री जप, श्रीगायत्री हृदय, कवच एवं सहस्त्रनामादि का पाठ, नित्य हवन, हविष्यान्न का भोजन तथा भूमि पर कुशासन बिछाकर शयन। इस पुश्चरण के लिये गोमती किनारे के सिद्ध तीर्थ पिपरीबाबा का स्थान चुना गया। गयाप्रसाद निर्विकार मुखमुद्रा लिये चल पड़े, दण्ड विधान पालन करने अपने काका अखण्ड ब्रह्मचारी द्वारिकाप्रसाद जी के पास।

वे चल तो पड़े थे ऐसे ही हर्ष, शोक, भय रहित मुद्रा में उस वृहद् ब्राह्मण सभा में भी जहाँ खड़े होने में संकेत के अनुसार एक ओर होने में अच्छे अच्छों के छक्के छूट जाते। वहाँ पहुँच कर संकेत के अनुसार एक ओर हाथ जोड़ विनयपूर्वक खड़े हो गये।

जब अवस्थी जी ने धीर गम्भीर स्वर में पूछा–"घर से क्यों भाग गये?"

अवस्थी जी के भव्य–प्रभावशाली व्यक्तित्व के सम्मुख उत्तर देना तो दूर इतने छोटे बालक के लिये खड़ा रहना भी सहज न था किंतु यदि अवस्थी जी साधारण नहीं थे तो क्या गया प्रसाद साधारण बालक थे? इसका उत्तर भविष्य ने दिया–"नहीं, वे असाधारण महापुरुष थे। तभी ऐसा उत्तर दे पाये। मृत्यु को निश्चित रूप से सम्मुख पाकर जैसे भय भाग जाता है: वैसे ही इस दण्ड विधान की सभा में वे दण्ड पाने ही आये हैं फिर वह जो भी हों बालक गयाप्रसाद के प्रश्न सुनकर सिर थोड़ा सा ऊपर उठाया और सहज स्वर में गुरुजनों से भरी सभा में अवस्थी जी एवं अपने–पिता की ओर संकेत करके बोले–"काशी जाकर संस्कृत पढ़ने के लिये, "उन्होंने रुक कर सांस ली "मैं आप सब के जैसा बनना चाहता हूँ।"

आवेश और अपनी आयु से अधिक बड़ी बात बोलने के कारण आँखों में भर आये आँसुओं की लज्जा छिपाने के लिये वे दूसरी ओर देखते हुये उन्हें आँखों में ही समाने का प्रयत्न करने लगे।

प्रायश्चित तो अनिवार्य था ही पर बालक का मनोरथ और बात सुनकर पितृव्यों को गौरव का अनुभव हुआ। अवस्थी जी ने अपने ग्राम में संस्कृत पाठशाला की स्थापना की जिसके अध्यापक श्री स्वामी दयाल शुक्ल नियुक्त हुए जो केवल मध्यमा तक शिक्षित थे। बड़ों की आज्ञा में ननु-बच करना उस कुल की परंपरा में नहीं था अतः गया प्रसाद पिपरीबाबा पर रहकर तप में प्रवृत्त हो गये।

इस कठोर तप से बालक गयाप्रसाद के शुभ संस्कार उत्थित हुए, ऋताम्भरा शक्ति जाग उठी और देह ब्रह्मतेज से उद्‌भासित हो गयी। जब वे गोमती में स्नान कर कौपीन धारण किये हाथ में कमण्डलु लिये सीढियाँ चढ़ते-वहाँ स्नान करने आये लोग उन्हें देख कर चकित रह जाते। लगता-मानों सन्यासपूर्व के आद्य शंकराचार्य ही चले आ रहे हों। उनका स्वतः गम्भीर स्वभाव और नेत्र जैसे किसी अगम-अटल की खोज में डूबे हों।

इस अवधि में उन्हें कई लोकोत्तर अनुभव हुए-एक दिन जप करते हुए उन्होंने देखा उनके सम्मुख श्वेत रोम हनुमान जी पालथी मारे वरद हस्त उठाये विराजित हैं। लगा-मानो सत्वगुण स्वयं मूर्त हो गया हो।

इनकी देह में हलका सा कम्पन हुआ, एक पल लगा सम्हलने में, जप चलता रहा। इन्होंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। हनुमान जी मुस्कराये, हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया और अदृश्य हो गये।

इसे स्मरण कर दिन में कई बार इनकी देह रोमाञ्चित होती रही, कृपा का स्मरण कर नयन भर भर आते और मन प्रसन्नता के आवेश में डूब डूब जाता।

कुछ अंतराल के पशचात पुनः एक दिन उनके सामने माता अम्बिका सहित औढ़रदानी शिव प्रकट हो गये। भवानी की गोद में बाल गणेश और दिव्य दम्पति के बीच आगे की ओर हाथ में बाण लिये बाल रूप में देव-सेनापति कार्तिकेय खड़े थे। शिव के दाहिनी ओर

नंदीश्वर खडे दिखायी दिये। इस दिव्य दर्शन से क्षण भर के लिये माला की मणियों पर संचरित उंगली एवं सतत् जपरत जिह्वा स्तम्भित हो गयी, देह रोमाञ्चित हो कंपकंपा उठी। वे विस्फारित नेत्र चन्द्रमौलि के दिव्य रूप और अद्भुत छटा को निहारते रहे। कितने समय तक ? समय तो सापेक्ष है ?, कैसे कहा जाय कि-इतना समय ।

इसके पश्चात् तो जैसे सिलसिला शुरू हो गया-नींद में, जागृत में, कभी कोई देवता और कभी कोई सिद्ध ऋषि-मुनि दर्शन देने पधारते ही रहते। गयाप्रसाद भी धीरे धीरे आदी हो गये।

गुरुजनों के मुख से सुना है कि जैसे- मिट्टी की बनी हुई मटकी जब तक आग में तप कर पक नहीं जाती, उसमें पानी ठहर नहीं पाता। उसी प्रकार मानव देह भी जप, तप, संयम और साधना की आग में तपकर पक नहीं जाती भगवद्दर्शन का तेज सह नहीं पाती। हीन सत्व मनुष्य को किसी की कृपा से दर्शन हो भी जाय तो या तो देह ही छूट जाती है अथवा मस्तिष्क विकृत हो विक्षिप्त हो जायेगा। सम्भवतः इसीलिये नाना साधनाओं का विधान है शास्त्रों में गुरु परम्पराओं में।

गया प्रसाद की देह किशोरावस्था में ही कठिन तप में तप कर सिद्ध हो गयी अतः उन्हें अदृश्य दर्शन होने लगा और महज्जनों की कृपा-करुणा की उन पर अजस्त्र वर्षा होने लगी।

जिस दिन अनुष्ठान पूर्ण हुआ उन्हें पद्मासना हंसवाहिनी माता गायत्री का कृपा अनुग्रह एवं दर्शन प्राप्त हुआ।

प्रायश्चित के पश्चात गयाप्रसाद पिता की सन्निधि में स्वाध्याय करते रहे। पश्चात कुर्सी गाँव की संस्कृत पाठशाला में प्रवेश दिलाया गया। पाठशाला के अध्यापक शुक्ल जी उग्र स्वभाव के थे। विद्यार्थी उनसे बहुत भयभीत रहते थे। एक दिन उन्होंने अपने भतीजे

रघुनाथ को पाठ में त्रुटि होने के कारण इतना पीटा कि वह अचेत हो गये। यह देख सहज कोमल हृदय गयाप्रसाद सहम गये। उन्होंने पुनः काशी जाकर अध्ययन करने का निश्चय किया। प्रथमा की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने अपने मित्र गौरा गाँव के रहने वाले रामेश्वर पाण्डेय एवं श्रीराम त्रिपाठी से चर्चा की। तीनों ने निश्चय किया कि बिना किसी को बताये चुपचाप निकल पड़ना है। निश्चय के अनुसार रात्री के अंतिम प्रहर में अपनी पाठ्य पुस्तकें बाँध गयाप्रसाद और श्रीराम त्रिपाठी रामेश्वर के घर गये। धीरे से कुण्डी खटखटाते ही रामेश्वर घर से निकल आये वे पहले से ही प्रस्तुत बैठे थे। धीरे से द्वार बंद किया और माघ की उस शीतभरी अंधेरी रात्री में लक्ष्य प्राप्ति हेतु अनजाने पथ पर चल पड़े। गाँव और घर के लोग निश्चिंत सो रहे थे किंतु लक्ष्यवेद के लिये धनुष के छूटे तीर को विश्राम कहाँ?

काशी की ओर–द्रुत गति से चलकर उन्होंने गाँव की सीमा पार कर ली तब गयाप्रसाद ने विवेकपूर्ण परामर्श–दिया"हमें मुख्य मार्ग त्याग कर पगडंडियों के मार्ग से आगे बढ़ना चाहिये अन्यथा पकड़ लिये जायेंगे। इसी निश्चय के अनुसार वे "बाड़ी" नामक कस्बे में होते हुए लखनऊ जाने वाली सड़क पर आगये। इसके पश्चात भी जहाँ तक सम्भव हुआ सड़क छोड़ कर रेल की पटरियों और पगडंडियों के सहारे ही चलते रहे। पैसे के नाम पर केवल गया प्रसाद के एक रूपया पास छः आना था, श्रीराम त्रिपाठी के पास भोजन बनाने के कुछ बर्तन के अतिरिक्त तीनों के पास एक एक जोड़ी वस्त्र और पुस्तकें, बस, इतनी, ही पूँजी लेकर ये महदाकाँक्षी किशोर घर से निकल पड़े थे।

लखनऊ से जुग्गौर और मल्हौर स्टेशन पार कर वे बाराबंकी पहुँचे। तीनों को भूख लग आयी किंतु खायें क्या? गया प्रसाद ने अपने पास से एक पैसा निकाल कर दिया और श्री राम से कहा–"पास की बस्ती से तुम नमक ले आओ, हम दोनों यहाँ बैठते हैं।" नमक खाकर भूख कैसे बुझेगी? इससे तो वह और भी तीव्र हो जायेगी, दादा। रामेश्वर ने कहा।

तुम जाओ तो गयाप्रसाद ने रेल की पटरी के दोंनों ओर लहलहाते चने के खेतों की ओर देखकर उसकी मेंड़ पर बैठते हुए कहा।

"नमक आने पर उसे मील के पत्थर पर रखकर पीस लिया और खेत से चने का साग तोड़कर नमक के साथ खाकर आगे बढ़ गये।

इस प्रकार जैसे तैसे पेट भरते और कभी खाली पेट चलते हुए दरियाबाद-शाहगंज होते हुए शिवपुर पहुँचे। कभी एक कभी दो दो दिन खाली पेट बिना कुछ खाये आगे बढ़ते रहे। उस समय के पथ की बाधाओं और कष्टों का आज रेल, मोटर और वायुयान के जमाने में अनुमान नहीं लगाया जा सकता और अनुमान से परे हैं उन विद्यार्थियों का दृढ़ निश्चय और लगन भी।

तीनों किशोर 17 (सत्रह) दिनों में काशी पहुँचे। काशी पँहुचकर कितने प्रसन्न हुए वे। किंतु बाधायें अभी समाप्त नहीं हुईं थीं, भोजन और रहने की व्यवस्था का योग बिठाना भी कम कठिन विषय नहीं था इस परदेश में। पर जहाँ दृढ़ लगन होती है राह कोई न कोई निकल ही आती है। कमलापुर स्टेशन के पास सरबरपुर गाँव के एक व्यक्ति से परिचय हुआ जो सपरिवार कल्पवास कर रहे थे, उन्होंने आश्वासन दिया कि"हम तुम्हारी सहायता के विषय में विचार करके तुम्हें बतायेंगे। दूसरे दिन उन्होंने श्रीराम त्रिपाठी को एक पंडित जी जो अकेले रहते थे- उनके यहाँ भोजन और आवास की व्यवस्था कर दी और कहा- जब तक चाहो यहाँ रह सकते हो।"

श्रीराम त्रिपाठी उन पंडित जी की सेवा करते, रसोई बनाते और अध्ययन करते हुए सुख पूर्वक रहने लगे। गया प्रसाद और रामेश्वर पाण्डेय को रामपुरा छात्रावास में आवास और चन्द्र कॉलेज में पढ़ने की व्यवस्था हुई। यहाँ के प्रधानध्यापक थे स्वामी दर्शनानंद जी महाराज। छात्रावास में दोनों को केवल रहने की सुविधा प्राप्त थी, भोजन की नहीं। भोजन

वे विश्वनाथ मंदिर के सदाव्रत क्षेत्र से करते थे सो भी एक ही समय सायंकाल वहां से केवल उबले हुए चने मिलते थे। चने लेकर दोनों मित्र गंगातट पर दशाश्वमेध घाट पर चले जाते और बातें करते हुए चने खा गंगाजल पीकर लौट आते। काशी के विषय में प्रसिद्ध यह दोहा इन पूर्ण चरितार्थ होता-

चना चबैना गंगजल, जो पुरवै करतार।
काशी कबहुँ न छाँडिये, विश्वनाथ दरबार।।

कुछ समय पश्चात् एक सन्यासी के मठ में रहने की व्यवस्था हुई और वहाँ रसोई बनाने की सेवा मिली।

छः महीनों तक इन्होंने घर पर कोई समाचार नहीं भेजा कि कहीं कोई आकर शिक्षा छुड़ा फिर से घर न खींच ले जाय। छः महीने पश्चात गयाप्रसाद अस्वस्थ हो गये औषधि सेवन से भी जब स्वस्थ्य न हुए तो किसी ने कहा-आपके कारण आपके माता पिता चिन्तित दुःखी हैं, इसी कारण आप अस्वस्थ्य हुए हैं।"

तब इन्होंने पत्र द्वारा घर पर सूचना दी कि- "मैं काशी में रहकर विद्याध्ययन कर रहा हूँ।"

पुत्र के समाचार पाकर माता पिता को संतोष हुआ। विशेष कर माता के हृदय में अपने सुयोग्य शाँत पुत्र को स्मरण कर जो ताप होता वह इस समाचार रूप चंदनलेप से शीतलता प्राप्त कर पाया।

गयाप्रसाद ने काशी में रहकर दो वर्ष में लघुसिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन किया। अकेले काशी में रहने लगे। इसके पश्चात रामेश्वर के बड़े भाई काशी आकर उन्हें अपने साथ घर लिवा गये। इसलिए अकेले ही रहने लगे। कभी कभार पिता से पत्र व्यवहार होता था।

रामेश्वर को घर आया जानकर 'माँ' ने पति से गयाप्रसाद को भी घर आने के लिये लिखने का आग्रह किया।

"देखो भागवान! उसे विद्या की लगन है।" पति पत्नी को समझाते हुऐ बोले-"उसे पढ़ने दो, अधिक आग्रह करने पर वह कहीं और न चला जाय। अबकी छः महीने में समाचार भेजा है, फिर पता नहीं.......। "कभी कभी उसे देखने को बहुत मन करता है,"माँ के आँसू भरे नयन छलक पड़े गला रुंध गया-"पढ़ने को हम कहाँ मना करते हैं? कभी कभी दो एक दिन के लिये घर आ जाय बस.......।" उन्होंने अपने को सम्हाल कर कहा। पिता ने वैसा ही पत्र में लिख दिया।

इसके पश्चात गयाप्रसाद अवकाश लेकर कभी कभी घर आने लगे।

गयाप्रसाद के जन्म के पश्चात, इनके दो भाई और तीन बहिनों का जन्म हुआ। इनसे छोटे भाई रोमेश्वर प्रसाद त्रिपाठी आगे चल कर न्यायालय में वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी बने इनके तीन संतान हुई, एक पुत्र एवं दो पुत्री।

तीन बहिनों के नाम-कृष्णवती, चन्द्रवती और रामपती हुए।

सबसे छोटे भाई रामप्यारे त्रिपाठी आयुर्वेद और ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता हुए, ये कृषिकार्य सम्हालते थे। रामप्यारे अत्यन्त सत्यनिष्ठ थे। इनके दो पुत्र और पाँच पुत्रियाँ हुईं। इस प्रकार पं' लक्ष्मण प्रसाद जी त्रिपाठी का वंश पुत्र पौत्रों के रूप में पुष्पित, पल्लवित और फलित होता रहा।

गयाप्रसाद के अतिरिक्त पाँच संतान और रहते भी माँ उनकें लिये व्याकुल हो जाती, सम्भवत: मातृहृदय में प्रत्येक संतान के लिये भिन्न प्रकोष्ट होता है और उस कक्ष को रिक्त पा माँ का मन सद्य: प्रसूता धेनु की भाँति अपने वत्स से मिलने को आतुर हो उठता है।

अध्ययन- कुछ समय पश्चात गया प्रसाद की एक सन्यासी के मठ में रहने की व्यवस्था हुई। वहाँ इन्हें रसोई बनाने की सेवा प्राप्त हुई। आज के छात्र उस समय के विद्यार्थी जीवन की कठिनाइयों की कल्पना भी नहीं कर सकेंगे। उस समय संस्कृत में यह बात प्रचलित थी। **"सुखार्थी वा त्यजेत् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत सुखम्"** इनके सेवाभाव और कार्य की तत्परता के कारण ये वहां सभी के प्रियपात्र बन गये।

गुरुजनों की विशेष कृपा से कान्यकुब्ज संस्कृत पाठशाला में निवास एवं भोजन की व्यवस्था हो गयी। इनके सहपाठी टीकमगढ़ जनपद निवासी पं. जयराम जी बताते थे कि-"तुम्हारे महाराज जी "महात्मा" बने नहीं वे तो भगवान के घर से महात्मा बने बनाये आये थे। बचपन में भी इनकी खेल कूद में रुचि नहीं थी। स्वयं ही थोड़ा व्यायाम कर लेते, हम लोगों के विशेष आग्रह पर गंगा स्नान करने चले जाते और तैर कर गंगा पार करते। तैरना ही इन की प्रिय क्रीड़ा रही।"

विद्यालय में दैनिक सेवा क्रमशः विद्यार्थियों में बटी हुई थी, किंतु ये सहपाठियों को सेवामुक्त कर अध्ययन में लगा देते और उनके बदले स्वयं सेवा करते। झाडू, पौछा, रसोई सभी सेवा करके अपने से छोटे छात्रों को पढ़ा भी देते थे। इनके सहज वात्सल्य के कारण इनसे बड़े और छोटे सभी विद्यार्थी कहते- **"गयाप्रसाद जी तो हमारी मां जैसे हैं।"**

सेवा और अध्ययन के बीच जब भी अवसर प्राप्त होता ये सत्संग लाभ लेते। उस समय युवासन्यासी स्वामी श्री करपात्री जी के प्रवचन सुनने बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती, जहाँ तक होता गया प्रसाद भी सुनने अवश्य ही जाते और उनके सनातन धर्म पर शास्त्र सम्मत प्रवचन किशोर मन पर अमिट छाप छोड़ जाते। प्रवचन के अतिरिक्त समय में भी वे सम्भव होता तो उनसे मिलकर शंकासमाधान और अपने विचारों से उन्हें अवगत कराते। स्वामी श्री करपात्री जी से मेल जोल बाद में भी बना रहा। गोवरधन में गीता जयंती पर

स्वामी जी ने इनके आग्रह पर वे प्रवचन देकर गोवर्धन वासियों को आनंद प्रदान किया। गौरक्षा आंदोलन में जब गिरफ्तारियाँ हुईं तब स्वामी जी और गयाप्रसाद एक साथ तिहाड़ जेल में रहे। जेल में स्वामी जी के प्रवचन के बाद इनका प्रवचन होता।

काशी में रामानुज सम्प्रदाय के उद्‌भट विद्वान श्री देवनायकाचार्य जी से भी गयाप्रसाद सम्पर्क में आये। आचार्य स्वामी जी के निकट सहयोगी थे।

सन्यासी मठ में गया प्रसाद को रसोई की सेवा तो मिली किंतु भोजन व्यवस्था संभव नहीं हो सकी। वहाँ रहते थे इसलिये भोजन बनाने की सेवा करते किंतु भोजन करने के लिये दौड़कर अन्न क्षेत्र जाना पड़ता। कभी कभी विलम्ब के कारण वहाँ भी कुछ नहीं मिलता उस दिन चना-चबैना खाकर अथवा केवल जल पीकर ही रह लेते। विद्यालय में गुरुजनों द्वारा पढ़ाया हुआ पाठ याद करने के लिये समय ही नहीं मिलता था, ऐसी स्थिति में कागज पर सूत्र वृत्ति और सूत्रार्थ लिखकर उसे लकड़ी से दबाकर सामने रख लेते, भोजन बनाते समय उसे देख देख कर कण्ठस्थ कर लेते। ये लगनशील और परिश्रमी विद्यार्थी थे, इनकी मेधा असामान्य थी। सेवा का यह क्रम इनके जीवन में सदा बना रहा। बाद में सेवा की महत्ता वर्णन करते हुए कहते-" हमने जीवन में जो कुछ पाया है सेवा द्वारा ही पाया है।

कान्यकुब्ज संस्कृत पाठशाला के छात्रावास में टीकमगढ़ जिले के दो छात्र रहते थे। मगरपुर के पंडित श्री प्रसाद और गोरागांव के पंडित जयराम। ये दोनों गयाप्रसाद के मित्र थे। टीकमगढ़ जनपद के विख्यात तीर्थ ओरछा में विराजे भगवान श्री रामराजा के अयोध्या से ओरछा पधारने की अद्‌भुत कथा मित्र से सुनकर भी जैसे इन्हें तृप्ति नहीं होती ये मित्रों से आग्रह कर बार बार सुनते-भक्तहृदय की अमन्यता और भक्तवत्सल की भक्त-धीनता इनके हृदय में घर बना कर बैठ गयी। यहीं से गयाप्रसाद का भक्तचरित्र के प्रति आकर्षण हुआ। कथा इस प्रकार है- सोलहवीं शताब्दी में हुए ओरछा के परमभक्त राजामधुकर शाह

और इनकी पटरानी भक्तिमती श्री गणेश देई। एक बार वर्षा ऋतु में झूला दर्शन के लिये महाराज मधुकर शाह मथुरा पधारे और महारानी गणेश देई अयोध्या। भाद्रपद मास उतरने पर महाराज मधुकर शाह ओरछा पधार गये किंतु महारानी श्राद्धपक्ष लग जाने पर भी लौट कर नहीं पधार सकीं। जब कई बार के संदेश का भी कोई परिणाम न हुआ तो महाराज ने तनिक खीज कर संदेश वाहक से कहा–"लगता है अब तो महारानी श्री रघुनाथ जी को साथ लेकर ही लौटेंगी ? संदेश सुनकर महारानी के मुख से निकला–"जैसी आज्ञा, मैं श्री रघुनाथ जी के साथ ही आऊँगी।"

कहने को तो वे कह गयीं किंतु विचार आया–"प्रभु से कैसे कहूँ–अयोध्या को छोड़कर– इसे सूनी कर मेरे संग ओरछा पधारें और अकेली भी अब कैसे जाऊँ? क्यों न धाम में ही देह विसर्जन कर दूँ कि दोनों बातें रह जाय। निश्चय के अनुसार सरयू स्नान के समय वे जल में उतर गयी, करुणामयी सरयू ने उन्हें ऊपर फेंका उन्हें लगा उनके हाथों में कुछ आ गया है। उन्हें डूबते देख साथ के सेवक सेविकायें जल में उतर कर उन्हें तट पर ले आयीं। आँख खुलने पर उन्होंने देखा अपने हाथों में थमा रघुनाथ जी का अनुपम सुन्दर विग्रह। हृदय भर आया प्रभु की महती कृपा पर। प्रसन्नता पूर्वक उन्होंने ओरछा समाचार भेजा–आपकी आज्ञानुसार मैं श्री रघुनाथ जी के साथ आ रही हूँ, आप स्वागत की और इनके विराजमान होने की तैयारी करने की कृपा करें।"

अनेक संतों, कीर्तनकारों, ब्राह्मणों, सेवकों के साथ रानी गणेशदेई ने पुष्य नक्षत्र मुहुर्त में श्री अवध से ओरछा की ओर प्रस्थान किया जैसे ही पुष्य नक्षत्र उतरता सम्पूर्ण लवाजमा ठहर जाता। तम्बू डेरों की कमानें खींच कर बाँध दी जाती, उन्हीं में प्रभु और संतों की व्यवस्था होती। महीने भर तक कथा, कीर्तन, लीला दर्शन से जंगल में मंगल होता रहता, उगता– जैसे साकेत धरा पर उतर आया हो अथवा श्री अवध प्रभु के संग संग चल

रहा हो। क्यों न हो–**"अवध तहाँ जहँ राम निवासु"।**

इस प्रकार वर्ष भर चलकर पुष्यनक्षत्र में ही ओरछा में प्रभु में प्रवेश किया। उनके विराजमान होने के लिये जो मंदिर महाराज ने बनवाया था उसमें अभी कुछ काम बाकी था अत: बड़े भारी स्वागत समारोह के साथ उन्हें महारानी के महल में ऐसे कक्ष में पधराया गया कि–बाहर के (प्रजा) के लोग भी आकर दर्शन कर सकें और एक द्वार अन्त:पुर की ओर होने से महारानी सेवा–दर्शन और भोग राग, प्रस्तुत कर सकें। सेवा करते समय खड़े रहते से कोमलाङ्गी महारानी श्रम जल से भीग जातीं थक कर; देखकर प्रभु ने फरमाया–"आप विराज जायँ खड़े खड़े थक गयीं हैं।"

" आप भी तो प्रभु खड़े ही हैं। आप विराजें तो मैं भी बैठ जाऊँ।"

"मैं तो भक्तों के लिये हाथ में शस्त्र लिये तत्पर खड़ा रहता हूँ कि भक्त की पुकार पर तुरंत दौड कर पहुँच जाऊँ उसकी विपत्ति विदारण के लिये। यदि बैठ गया तो उठकर दौड़ने में–पहुँचने में विलम्ब होगा, यह मुझे सह्य नहीं है।" भक्तवत्सल ने उत्तर दिया।

"भक्तों की विपत्ति विदारण का कार्य हनुमान जी को सौंप कर आप विराज जायँ।" महारानी ने प्रार्थना की।

"आपकी बात मुझे मान्य है, किंतु यदि मैं बैठ गया तो फिर उठूँगा नहीं।"

"आपको उठने के लिये कहता ही कौन है मेरे सर्वस्व! भावपूर्ण स्वर में महारानी ने कहा प्रेमातिरेक से उनकी देह रोमांचित हो कंपकंपा उठी और नेत्रों की सीपीयां आराध्य चरणों में मुक्ता वर्षण करने लगीं। दूसरे दिन दर्शनार्थियों ने देखा–कल हाथ में धनुषबाण लिये खड़े हुए रघुनाथ जी का विग्रह आज विराजित हैं।

जब मंदिर बनकर पूर्ण हुआ, प्रभु को उसमें पधारने के लिये उठाने के अनेक प्रयत्न किये किंतु सब निष्फल। महारानी ने निवेदन किया "उस मंदिर में पधारना है।"

"मैने तो आपसे पूर्व में ही कहा था-"बैठ गया तो उठूँगा नहीं।" प्रभु मुस्कराये।

"जैसी प्रभु की इच्छा, जहाँ चाहें विराजें।" रानी ने प्रसन्न मन कहा।

नये बने मंदिर में चतुर्भुज नाथ का विग्रह पधराया गया।

महाराज मधुकरशाह ने काशी से विद्वान ब्राह्मणों को बुलवाकर भगवान "रामराजा" का ओरछा के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। एक राज्य में दो राजा नहीं रह सकते-एक वन में दो सिंह नहीं रहते के अनुसार ओरछा राज्य भगवान रामराजा को अर्पण कर स्वयं टीकमगढ़ रहने चले गये। नित्य रानी सहित आकर पूजा अर्चना करते रहे जीवन भर।

कथा सुनकर गयाप्रसाद की देह रोमांचित हो काँपने लगती, नेत्रों की वारिवर्षा वक्षस्थल का प्रक्षालन करती रहती, वाणी रुद्ध हो जाती और मन प्राण अवश हो उसी देश उसी काल में जा पहुँचते। उनका आकर्षण केवल इसी चरित्र में आबद्ध न रहकर उत्तरोत्तर बढ़ कर इतना विस्तृत हुआ कि भविष्य में ये भक्त-चरित्र-ग्रन्थ "भक्तमाल" के प्रसिद्ध भाष्यकार और मधुर वक्ता हुये।

कान्यकुब्ज महाविद्यालय से गयाप्रसाद ने मध्यमा की परीक्षा उत्तीर्ण की इस बीच दो-एक बार घर भी हो आये। जब भी घर जाते इनके विवाह की चर्चा चलती, विशेष कर माँ कहतीं- " अब और अधिक पढ़ लिखकर क्या होगा? बालक बड़ा हो गया है, विवाह करके इनका घर बसाओ।"

अभी उसकी और आगे पढ़ने की इच्छा है, बहुत बड़ा विद्वान बनना चाहता है तो पढ़ने दो उसे। विवाह कौन भागा जा रहा है पिता अपनी अर्धांगिनी को समझाते।

"विद्वान बनकर करेगा क्या? तुम जो इतना पढ़े लिखे हो, फिर भी घर द्वार ही तो सम्हाल रहे हो न? उसे भी आखिर में यही करना है। तब बहुत हो गयी पढ़ायीं, शीघ्र ही

ब्याह करदो इसका, और कहो कि अब घर पर ही रहकर जो कुछ करना हो करे। हमें उसका घर से इतनी दूर रहना नहीं सुहाता।"

माता पिता की यह चर्चा गयाप्रसाद को बड़ी अरुचिकर प्रतीत होती। धीरे-धीरे घर आना कम होता गया। शास्त्रों-वेदान्त के अध्ययन से इनके चित में वैराग्य का उदय हो चुका था, यह गृहस्थ होने की चर्चा उन्हें फूटी आँखों नही सुहाती।

वैराग्य- मध्यमा की परीक्षा के पश्चात गयाप्रसाद ने अवकाश के समय भागवत पढ़ने का विचार किया। काशी के प्रसिद्ध भागवताचार्य श्री नृसिंह द्विवेदी जी के यहां पढ़ने गये। श्री गणेश के दूसरे या तीसरे दिन भागवत महात्म्य प्रकरण में गोकर्ण जी पिता को प्रबोध देते हुए कहते हैं-

असारःखलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्जवलतेऽनिशम्।।
न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः।।
देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यन त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः।।

सुपात्र को केवल इंगित पर्याप्त होता है।

पाठशाला से पढ़कर लौटते हुए साथियों से गयाप्रसाद जी ने कहा- "मेरी तो भागवत की पढ़ायी हो गयी। "क्या कहते हैं? अभी तो महात्म्य भी पूरा नहीं हुआ और आप कहते

हैं- पूरी भागवत की पढ़ायी हो गयी। "भागवत का सार तो यही है कि-संसार असार है। यहाँ सुख किसी को है ही नहीं, भले वह इन्द्र हो कि चक्रवर्ती 'राजा' सुख केवल एकान्तवासी विरक्तों को है अतः सार की बात यही है कि-**वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः।** बस अब इसी पथ को अपना कर चलना है।"

गया प्रसाद जी के हृदय में जो वैराग्य की चिंगारी थी वह इन श्लोकों ने फूँक मार कर मानो प्रज्वलित कर दी। तभी विरक्त जीवन अपनाने की प्रबल प्रेरणा से एक घटना और घट गयी इनकी बढ़ती हुई उदासीनता को देख साथियों ने कहा-"चलो नाटक देखने चलें।"

उन दिनों संस्कृत नाटकों का आयोजन अधिकांशतः हुआ करता था। इनमें सभी पात्र संस्कृत ही बोलते थे और नाटकों का स्तर भी उच्च श्रेणी का हुआ करता था। इन दिनों दशाश्वमेध घाट पर "भर्तृहरि" चरित्र नाटक का मंचन हो रहा था। मित्रों के आग्रह पर पं. गयाप्रसाद जी भी इस नाटक को देखने गये। भर्तृहरि दो हजार वर्ष पूर्व अवन्तिका (उज्जैनी)के राजा थे। कथा वस्तु इस प्रकार चली-

राजा भर्तृहरि अपनी रानी से अगाध प्रेम करते थे। उनके राज्य के एक दरिद्र ब्राह्मण ने सूर्य की आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर लिया। सूर्यदेव ने ब्राह्मण से वर माँगने को कहा, ब्राह्मण ने दरिद्रता से मुक्त होने का वर माँगा। सूर्यदेव ने कहा-"अपने प्रारब्ध के फल स्वरूप दरिद्रता तो तुम्हें भोगनी ही पड़ेगी, किंतु मैं तुम्हें एक अमरफल देता हूँ, इससे तुम अमर हो जाओगे।" कहकर सूर्यदेव तो अंतर्धान हो गये।

ब्राह्मण ने सोचा-"जब दरिद्रता का दुःख भोगना ही है तो अमर होकर क्या करुँगा? जितना अधिक जीवित रहूँगा। उतना ही अधिक समय तक दरिद्रता का दुःख सहूँगा। स्वयं खाऊँ उससे तो अच्छा है यह फल राजा का दे दूँ। राजा धर्मनिष्ठ हैं, वे अमर हो जाय तो

दीर्घकाल तक प्रजा सुखी रहेगी।" यही सोचकर ब्राह्मण ने वह फल राजा को दे दिया। राजा अपनी रानी में आसक्त थे। उन्होने सोचा-"मैं अमर होकर क्या करुँगा, यदि मेरे सामने ही मेरी प्राणप्रिया का देहान्त हो गया तो वह दुःख मैं कैसे सह पाऊँगा?

यह सोचकर राजा ने वह फल रानी को दे दिया। काल की गति बड़ी वक्र है, संसार उसी का प्रतिबिम्ब है अतः यहां न सम्यक सुख है न निश्छल प्रेम। भर्तृहरि की रानी राज्य के कोतवाल पर आसक्त थी, उसने वह अमरफल अपने प्रेमी को दे दिया। छल का यह प्रहसन यहीं समाप्त नहीं हुआ, वह कोतवाल रानी से केवल स्वार्थवश प्रेम का स्वांग करता था उसका आंतरिक प्रेम पिंगला नाम की वैश्या से था। उसने वह फल उस पिंगला वैश्या को प्रदान कर दिया। पिंगला अपने पापमय जीवन से दुःखी थी, उसने सोचा-"मैं पापिनी अमर होकर क्या करूँगी अधिकाधिक पाप ही की कमाई तो करुँगी जो यहाँ संसार में भी और परलोक में भी दुःखदायी है। अमर होने योग्य तो है राजा भर्तृहरि जो धर्म धुरीण हैं। पिंगला ने वह फल राजा को भेंट कर दिया। इस प्रकार राजा के पास से चला वह फल फिर से राजा के पास आ गया। फल पाकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, गुप्तचरों द्वारा पता लगाने पर वे सम्पूर्ण रहस्य से अवगत हो गये। सब जानकर राजा के मन में संसार से वैराग्य हो गया, उन्होंने अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को राज्य सौंप दिया और वह अमरफल खाकर वनों में चले गये। उन्होंने वैराग्य से पूर्व गृहस्थ जीवन में सौ श्लोकों वाला ग्रन्थ "श्रृंगार शतक" लिखा और अब वैराग्य होने पर सौ श्लोकों वाला "वैराग्य शतक" लिखा जो वैराग्य पथ के पथिकों के लिये दीपक अथवा पथ प्रकाशित करने वाली मशाल के तुल्य है।

गया प्रसाद की उदासीनता दूर करने के लिये मित्र इस नाटक को दिखाने के लिये ले गये थे, किंतु प्रभाव विपरीत ही हुआ। इनके हृदय में धीमी गति से जलती हुई वैराग्य की

अग्नि में जैसे इस नाटक की कथा वस्तु ने घी की आहुति देदी इससे दावाग्नि वैराग्यग्नि की भाँति धूधू करके जल उठी, उसकी विकराल जिह्वाओं ने गृह परिजनों की रही सही ममता को भी जलाकर राख कर दिया।

अधिकांशतः वैराग्य का अर्थ जगत से इसके सम्बन्धों से घृणा ही किया जाता है किंतु यह अधूरा अर्थ लगता है। वैराग्य का अर्थ जगत के प्रलोभनों–लोभ, मोहादि से मुँह फेर–सर्वेश्वर–अपने प्राणप्रियतम से मिलने की लालसा, अपने स्वरूप को पहचानने की जिज्ञासा– लगन ही वैराग्य है। जगत से उपरामता और भगवद्नुराग की प्राप्ति ही इसका ठीक ठीक अर्थ है। गोकर्ण जी ने यही तो कहा है– **वैराग्यरागरसिको भव–भक्तिनिष्ठः**। यही वैराग्य गयाप्रसाद जी के हृदय में प्रज्वलित हो उठा।

इन्हीं दिनों पं. लक्ष्मणप्रसाद त्रिपाठी का पत्र मिला जिसमें पुत्र गयाप्रसादजी विवाह करके गृह कार्यों में उनकी सहायता करने की बात लिखी थी। पिता के पत्र में जो राय दी गयी थी– उनके अपने मन में ठीक उसके विपरीत विचार उठ रहे थे। पत्र पढ़कर इन्होनें पिता को लिखा–"मेरा विचार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का नहीं है। आजीवन विरक्त रहकर भजन करना चाहता हूँ। आपके आशीर्वाद एवं आज्ञा से सुदीर्घ काल के लिये आज्ञातवास में जाने की उत्कट अभिलाषा है।"

महत्तम पिता और सुयोग्य पुत्र– पं. लक्ष्मण प्रसाद त्रिपाठी परम गम्भीर प्रकृति के भगवत्भक्त पुरुष थे। वे साधारण गृहस्थों जैसे नहीं थे। जो संतान को जगत के दलदल में धकेलने को आतुर हो उठते हैं। संतान की वैराग्य युक्त भावनाओं को कुचल कर उन्हें लोभ मोह के घेरे में अपनी कामनाओं की रस्सी से जकड़ कर बांध देने में ही जिन्हें जीवन की सार्थकता दिखाई देती है।

पत्र पाकर महत्तम पिता ने सुयोग्य पुत्र को लिखा–"बेटा मानव जीवन का चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति रूप परम कल्याण ही है। भोग तो कूकर शूकरादि योनियों में भी सुलभ हो जाते हैं, किंतु आत्मकल्याण–साधन मानव देह द्वारा ही सम्भव है। इस नश्वर देह के द्वारा अविनाशी की प्राप्ति कर लेने से अधिक बुद्धिमानी और क्या होगी। तुम ने तो पवित्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में जन्म पाया है, मैं तुम्हारे आत्मकल्याण के मार्ग में बाधक नहीं बनूँगा। यदि तुम अपना परम कल्याण निवृतिपूर्ण जीवन में ही समझते हो तो पूर्ण विरक्त होकर, संग्रह परिग्रह से रहित रहकर आजीवन अनिकेत, अमानी अनासक्त भाव से भजनमय जीवन व्यतीत करो, फिर तुम्हें हमारी चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं। किंतु यदि तुम्हारे चित्त में संसार के प्रति किंचित भी राग शेष हो तो फिर मेरी आज्ञा का पालन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो अतः हम सबकी सार सम्हार करो और निवृति–निश्चय यदि भीतर से हो तो सार्थक साधुजीवन के लिये मेरा शुभ आशीर्वाद।

पुत्र की शुभेच्छा का सम्मान करते हुए पं. लक्ष्मणप्रसाद जी ने उचित सलाह आशिर्वाद तो दे दिया किंतु स्वयं से अनजाने ही पितृहृदय में कहीं गहरे हल्की सी उदासी घिर आयी। जब पुत्र का स्मरण होता–छोटी सी विश्वास के साथ हृदय से एक प्रार्थना निसृत होती–"हे करुणामय उसके निश्चय की वेश की लाज रखना, वह कृतकाम हो, प्रभु वह कृतकाम हो।" उन्होने पुत्र के विषय में किसी को कुछ कहा या बताया नहीं।

"नत्था का.......

"अब वह पढ़लिख कर पंडित हो गया है, उसका नाम आदर से लेना चाहिये।" पत्नी का वाक्य पूरा होने पूर्व ही पति ने कहा।

पत्नी ने आश्चर्य से पति की ओर देखा फिर पलकें झुका कर बोली–'उसका समाचार मिले बहुत समय हो गया इसी से पूछा–वह स्वस्थ तो है? "चार महीने हो गये... ....।"

हाँ, ठीक है।" उन्होंने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक है? इधर तुम बहुत गम्भीर रहने लगे हो।"

"मुझे क्या हुआ है? और गम्भीर क्या अभी ही रहने लगा हूँ, पहले सदा हँसी ठट्ठा करता रहता था?

"हंसी ठट्ठा की बात नहीं कही मैने, पर कुछ तो है चेहरा कैसा थका थका सा लगने लगा है। न हो, न.... गयाप्रसाद को बुलवा लो काशी से और अपना भार सम्हला दो उसे–आप विश्राम करो। बेटे इसी दिन के लिये तो होते हैं। कल ही उसे पत्र लिख दो।" पत्नी ने कुछ हठ मिश्रित स्वर में आग्रह किया।

"कैसी बातें करती हो तुम, ऐसे कैसे लिख दूँ?" उनके मुख पर विवशता की एक गहरी रेखा दीपक के मंद प्रकाश में भी पत्नी को दिखायी दे गयी।

पति का मुख देख कैलाशा देवी विचलित हो उठी–"नहीं कल ही लिख दो उसे घर लौटने को। मेरा मरा मुंह देखो जो न लिखो। नहीं पढ़ाना हमें उसे और। दो दो घरों का काम सम्हालते सम्हालते कैसे हो गये हो? समय से पहले ही बुढ़ापा आ गया है।"

"तो क्या अब मैं युवा हूँ? बीस वर्ष का तो बेटा ही है मेरा! फीकी हँसी हँसते हुए लक्ष्मण प्रसाद जी बोले।

"तुम्हें मेरी सौगन्ध, बुला लो अपने उस बीस वर्ष के बेटे को, मैं तुम्हें अब और खटने नहीं दूँगी।"

"भागवान!" पत्नी की सौगन्ध ने उन्हे विवश कर दिया–"गयाप्रसाद अब अपना पुत्र नहीं रहा।"

"क्यों ? क्यों, क्या हुआ उसे ? गंगा में तो नहीं डूब गया ? कही......... माँ की ममता अनेकों प्रश्नों से घिर गयी वह पति की बात काटते हुए कई प्रश्न पूछ गयी।

"**शिव! शिव!! शिव!!! शांतं पापं।** उसे कुछ नहीं हुआ है, वह सकुशल है। तुमने यों ही सौगन्ध धरा दी।" त्रिपाठी जी ने सम्हलते हुए कहा।

"फिर तुमने अभी क्या कहा–नत्था हमारा पुत्र नहीं रहा, हमारा नहीं तो कौन का पुत्र है ?" पुत्र सकुशल है सुनकर मन में संतोष हुआ किंतु यह क्या पहेली है ? अरे, जिसे मैंने जन्म दिया, दूध पिलाया, गोद खिलाया और वह मेरा पुत्र नहीं कैलाशा देवी ने आश्चर्य और तनिक भीति भरे नयनों से पति की ओर देखा।

"तनिक धीरज धारण करके सुनो भागवान! गयाप्रसाद अब तक साधु हो गया होगा, उसने पत्र द्वारा मुझे सूचना दी थी।" "और तुमने हाँ" भर दी ?" रूद्ध कंठ से इतना ही कह पायीं वे, आँखें बरसने लगीं।

"और उपाय ही क्या था ? क्या करता मैं ? आज्ञा के बल पर बुला कर ब्याह कर देता ? सुनों, भागवान! बाँधने पर भी नदियों के बहाव रुका नहीं करते। इससे एक जीवन और नष्ट हो जाता।"

"एक बार देख नहीं सकती उसे जी भरकर ?" माँ की ममता किसी ओर थाह न पाकर फूट पड़ी, दोनों हाथों से मुँह ढ़ाप लिया उसने।

"यह आशा छोड़ों अब।" पिता और पति को परे ठेल पं. लक्ष्मण प्रसाद पत्नी की पीठ पर हाथ रख सान्त्वना देते हुए बोले– "बड़े भाग्यवान हैं हम कि ऐसे भक्त और ज्ञानी पुत्र के माता पिता बनने का सौभाग्य प्रदान किया प्रभु ने। हमारी तो इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं, उसने गर्व से हमारा मस्तक ऊँचा कर दिया।"

"काश! तुम माँ होते...... रुदन के वेग में शब्द डूब गये।

"पंडित गयाप्रसाद की माँ को रुदन शोभा नहीं देता।" पत्नी के आँसू पोछते हुए त्रिपाठी जी ने कहा।

"हे रघुनाथ जी! हे करुणासागर! हे भोलेनाथ! मेरा बच्चा जहाँ भी रहे सुखी रहे, आप उसके त्याग, वैराग्य और देह की रक्षा करने की कृपा करें। हे हनुमान जी महाराज! मेरे बच्चे के साधु व्रत की रक्षा करना..... ? "हाँ, अब प्रकट हुई न पं. गयाप्रसाद की माँ।" पं. लक्ष्मणप्रसाद जी हल्के से मुस्कराये।

भगवान ऐसे पिता-ऐसे पुत्र सबको दें।

पं. गयाप्रसाद जी जब श्रीगणेशदास जी महाराज हो गये तब प्रसंगवश एक बार उन्होने कहा था- इस देह के पिता परम विवेकी लोकोत्तर महात्मा थे। उन्होंने मुझे सहर्ष साधु बनने की आज्ञा प्रदान कर दी।"

विध्यांचल की ओर- पिता का पत्र पाकर गयाप्रसाद जी ने अपना सारा सामान बर्तन, पुस्तकें, वस्त्र आदि विद्यार्थियों में बांट दिया और किसी को बिना ही बताये काशी से प्रस्थान किया। आराध्य के अनुग्रह से विरक्त जीवन में प्रवेश के सारे अवरोध मिट चुके थे। उन्होने भगवान विश्वनाथ, ढूँढिराज गणेश, माता अन्नपूर्णा, बिन्दुमाधव और कालभैरव को प्रणाम कर विरक्त जीवन निर्वाह की पूर्ण सफलता के लिये प्रार्थना की। भगवती भागीरथी और मोक्षदायिनी काशी को प्रणाम कर बिना ही पदत्राण धारण किये चल पड़े। सन् 1938 में मात्र बीस वर्ष की अवस्था में इस महामानव ने जगत के बन्धन काट दिये।

काशी से सिद्धक्षेत्र विंध्याचल की ओर प्रस्थान किया उन्होंने। तीसरे दिन सायंकाल विंध्याचल पहुँचे, अब तक मार्ग में बिना कुछ खाये पिये चलते रहते थे अतः क्षुधा उदर में उत्पात मचा रही थी। गंगा में स्नान करने से थकावट तो चली गयी किंतु क्षुधा निवृति का

तो काई उपाय वहाँ था नहीं अतः विवश होकर गंगातट की मिट्टी खाकर गंगाजल पी लिया। तितिक्षा का ऐसा उदाहरण आज के समय में शायद ही कहीं प्राप्त हो।

एक बार राजस्थान से श्री महाराज जी के साथ वृंदावन आ रहे थे-गाड़ी (रेल) के समय पर न पहुँच पाने से चौबीस घंटा बिना अन्न जल के रहना पड़ा। वृंदावन पहुँचने पर श्री राजेन्द्र दास जी ने कहा-"भूख के मारे चक्कर आ रहे हैं महाराज जी!"

तब श्री महाराज जी ने नीबू की शिकंजी के साथ कुछ अल्पाहार प्रदान किया, उसे खाकर बोले-"अब कुछ शांति मिली।" सुनकर श्री महाराज ने कहा था-"पंडित जी! अभी भूख कहां लगी? भूख तो हमें लगी थी जब काशी से विंध्याचल आये तब तीन दिन बाद मिट्टी खाकर ऊपर से गंगाजल पीकर भूख बुझाई थी।"

विंध्याचल पर विराजमान भगवती विंध्यवासिनी नंद यशोदा की पुत्री श्रीकृष्ण की प्रिय बहिन हैं जिन्हें कंस ने मारने का यत्न किया था। कंस के हाथों से छूटकर योगमाया भगवती अष्टभुजा के रूप में प्रकट हुईं और कंस को चेतावनी देकर विंध्याचल पर विराजमान हुई।

भगवती योगमाया कृष्णलीला की विधायिका और संचालिका हैं। श्रीकृष्ण से योग (मिलन) कराने वाली होने के कारण ही इनका नाम योगमाया है। व्रजकुमारिओं ने इन्हीं के एक स्वरूप माता कात्यायनी की आराधना की थी श्री कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिये।

विंध्याचल आने पर पं. गयाप्रसाद जी के हृदय में व्रज का आर्कषण बढ़ने लगा, अवश्य ही विंध्येश्वरी माता योगमाया की प्रेरणा थी। इन्होने श्री कृष्ण चरणों में अनन्य अनुराग और जगत से उत्कट वैराग्य प्राप्ति के लिये-माता को प्रसन्न कर वर पाने के लिये:-

कात्यायनी महामाये महायोगिन्यधीश्वरी। नंदगोपसुतं देवी पतिं मे कुरु ते नमः॥

इस श्लोक का संपुट लगाकर चंडीपाठ का अनुष्ठान आरंभ किया। उनके मन में रह रह करके विचारों की आँधी उठती–"कब मेरे प्राण श्यामसुन्दर के लिये व्याकुल होंगे?"

"कब कृष्ण नाम सुनते ही हृदय विह्वल हो उठेगा?""कब निरंतर स्मरण से चिंतन से मन सदा तन्मय रहेगा?"

कब याद आते ही नेत्रों से झड़ी लग जायेगी?""आह! ऐसा कब होगा कि मानस नेत्रों के सम्मुख उनकी लीलायें चलती रहेंगी और देह कंपित–कंटकित, अश्रु विसर्जन करते हुए व्रज की पवित्र रज में लोटता पोटता रहूँगा?"

"कब लज्जा त्याग कर हा, नाथ! हा, प्रियतम! हा, श्यामसुन्दर पुकार उठूँगा?"

"कब चराचर में उनके दर्शन करता हुआ मैं वृक्षों को आलिंगन करता डोलूँगा?"

"कब देहभान भूल कर उन्हीं के लिये हाहाकार करूँगा?"–

"कब भूख प्यास भूल कर व्रज की गलियों में विक्षिप्त की भाँति विचरण करूँगा?"

"कब मेरे प्राणों की पुकार उन्हें कृपा परवश कर देगी?"

"कब वे नयन गोचर होंगे?"

"कब ये हाथ उनका स्पर्श करेंगे?"

"कब मधुर स्वर में मेरा नाम पुकारेंगे?"

"कब? कब?? कब??? कब ऐसा होगा? कब देह–प्राण धन्य होंगे?"

हे करुणामयी कात्यायनी! हे योगमाये! कृपा करके मुझे प्रियतम के चरणों में अनुरागमयी रागनुगा भक्ति प्रदान करो। मुझे प्रेम प्रदान करो......हे महामाये! मुझे प्रेम......दो......प्रेम.....दो............।

हे अम्ब ! इसके बिना मेरा काम नहीं चलता इस सूखे-रेगिस्तान सदृश हृदय में प्रेम पयस्विनी प्रवाहित कर दो.....।

कभी स्नान करते हुए नदी की धारा के संग उनके नयनों की धारा भी मिलकर प्रवाहित होने लगती। कभी चंडीपाठ के साथ-**"या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।**

या देवी सर्व भूतेषु शांति रूपेण संस्थिता नमस्तस्यै......हिचकियों में स्वर डूब जाते शाँति......मुझे शाँति तभी मिलेगी जब....जब.....आपके अग्रज का संग साथ प्राप्त होगा.......। जिह्वा आवृत्ति करती रहती मन की आर्त पुकार भी साथ साथ माँ के चरणों में नमन के साथ होती रहती। यह अनुष्ठान तीन महिने चला।

सेवा तो जैसे इनकी जन्मघुट्टी में मिलाकर पिला दी गयी हो। वैराग्य और तप सहज स्वभाव थे।

कौपीन एवं कटिवस्त्र को छोड़ इनके पास और कुछ था नहीं। स्नान से पूर्व गंगा तट पर झाडू लगा देते, घाट को स्वच्छ करना प्रतिदिन का क्रम था।

कटिवस्त्र धोकर सुखा देते, कौपीन पहन कर स्नान करते जल में ही खड़े होकर जप करते और बाहर निकल कर कटिवस्त्र पहन लेते। कोई बिना माँगे सहज ही कुछ दे दे तो पा लेते अन्यथा गंगाजल पीकर अनुष्ठान में लगे रहते। अनुष्ठान के पूर्ण होने पर स्वप्न में माता विंध्यवासिनी ने व्रजवास एवं सार्थक सम्यक वैराग्य का वरदान प्रदान किया। गयाप्रसाद जी का हृदय हर्षावेग से पूर्ण हो जैसे नाच उठा—"और क्या चाहिये माँ! और क्या चाहिये मुझे ? आपने मुझ अर्धमृत को जैसे जीवनदान प्रदान किया।"

सात मास तक विंध्याचल में रहकर माँ से संकेत पाकर पैदल ही चित्रकूट की ओर चले।

चित्रकूट में— प्रेमी भक्तों की आकर्षण स्थली चित्रकूट। इस महिमा मंडित महात्म्य गान में कवियों की लेखनी प्रायः थक जाया करती है। प्रकृति परिवेष्ठित चित्रकूट का नाम जिह्वा अथवा मन में आते ही श्रीरघुनाथ जी अम्बा एवं लक्ष्मण जी सहित मानस नेत्रों के सम्मुख जैसे मूर्त हो जाते हैं। उनके चरण चिन्हों से अंकित यह धाम सर्व कामप्रद कामदगिरि लगता है तन इस रज में मिलकर उनके चरणों का स्पर्श अनुभव कर रहा है- तन मन गलकर मंदाकिनी में बह गया........। क्या कैसा लगता है? शब्द नहीं मिलते, वाणी खो जाती है, दृष्टि जिधर जाती है-हटती नहीं उधर की ही होकर रह जाती है। सघन वन-पर्वत, पादप, पुष्प, सर, सरिता बरबस मन को बाँध लेते हैं।

आज विकास के नाम पर बहुत कुछ विध्वंस हो गया है है फिर भी चित्रकूट चित्रकूट है। धाम,धाम है। उस समय तो चारों ओर प्रकृति का साम्राज्य था, मनुष्यों-यात्रियों का आवागमन नहीं के समान था। केवल परमार्थ पथ के पथिकों, सिद्धों और प्रेमी-शांत साधकों का निवास स्थल था चित्रकूट। आज की भाँति न भवनों की भीड़ थी न मनुष्यों की, न दुकानदारों की न खरीददारों की गहमा गहमी थी, न राजनीति के दिग्गजों की टक्कर न माइक का शोर। चारों ओर गहन -सघन वन शोभायमान थे उन वनों में सीधे-भोले और खूंखार वनवासियों का वास था। वहाँ के कैंथ, बेर, तेंदू, आम, बिल्व आदि वृक्ष वीतरागों की क्षुधा निवृति हेतु फलों की भिक्षा प्रदान कर स्वयं सार्थकता पाते थे।

मदगंजन महादेव चित्रकूट के कोतवाल कहे जाते हैं। उनकी आज्ञा के बिना चित्रकूट का वास नहीं मिलता सुना है कि श्री सीताराम जी ने लक्ष्मण जी को भेजकर मदगंजन महादेव जी से चित्रकूट में निवास की आज्ञा प्राप्त की थी। यह मंदिर मंदाकिनी के तट पर-पर्वत पर स्थित है यहीं रामघाट है। उस समय यह स्थान बस्ती से बाहर था इसलिए भालू भेडिया और चीता आदि वन्य जीवों की आवाज ही रहती थी। चित्रकूट पहुँच कर गयाप्रसाद जी ने मदगंजन महादेव मंदिर में ही निवास किया। मंदिर का पुजारी भी आरती सेवा पूजा करके समय रहते चला जाता था अतः इन्हें पर्याप्त एकान्त प्राप्त था।

प्रातः मदगंजन पर्वत से उतर कर देहकृत्य सम्पन्न कर रामघाट की सीढ़ियों पर झाड़ू लगाते फिर कटिवस्त्र को धोकर सुखा देते। स्नानकर कटि पर्यन्त जल में खड़े हो चार घंटे तक जप करते इसके पश्चात जल से बाहर आकर कटिवस्त्र धारण करते। भूख लगने पर वनफल ढूँढ़कर खा लेते। कभी कभी कोई श्रद्धालु अन्नाहार भी करा देता।

चित्रकूट निवास काल में गयाप्रसाद जी ने चित्रकूट महिमा वर्णन में दो ग्रन्थों की रचना की-

"चित्रकूट चन्द्रिका" एवं "चित्रकूट चर्चिका"। चित्रकूट चन्द्रिका हिन्दी भाषा में और "चित्रकूट चन्द्रिका संस्कृत भाषा में है। "चित्रकूट चन्द्रिका" में उन्होंने रामघाट की सीढ़ियों का महात्म्य वर्णन करते हुए लिखा है-

"सोपान सुघर अतिदिव्य भाव तट पर श्रीहरि के मंदिर हैं।"

इनका कहना था- "तीर्थ में जाने पर उस तीर्थ का हम पर ऋण हो जाता है अतः वहाँ जाकर किसी न किसी प्रकार की सेवा अवश्य करनी चाहिये।"

कठिन साधना एवं तपस्या के कारण यहाँ गयाप्रसाद जी अस्वस्थ हो गये। देह में पित्ती (छपाकी) उठने से वेदना होने लगी। उस निर्जन स्थान में औषधि-आहार किसी की भी व्यवस्था न थी। जानता ही कौन था कि इस एकान्त स्थल में यह युवक ब्रह्मचारी औषधि आहार के अभाव में कष्ट पा रहा है। कोई जाने न जाने जिनके यहां उन्होंने शरण ली थी वे भक्तवत्सल-भक्तभयहारी महादेव तो जानते थे। उन्होंने अपने पुजारी को स्वप्न में आदेश दिया- "मंदिर में रहने वाले संत की सेवा करो और उनके लिये औषधि तथा गौदुग्ध की व्यस्था करो। भगवान भवानी पति की आज्ञा से पुजारी ने उनके लिए औषधि और दूध की व्यवस्था की। औषधि और दुग्ध सेवन से देह में धीरे धीरे शक्ति आयी और फिर रोग भी जैसे आया था वैसे ही चुपचाप चला भी गया।

चित्रकूट के महान सन्त **"भगवान गूढार्थ प्रकाशिका"** के टीकाकार श्री रामाधीनदास जी के यहाँ श्री रामचरित्र श्रवण करने नित्य ही जाने लगे। चित्रकूट में वे रामायणी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। मानस पर लिखी गयी अन्य सभी टीकाएँ इस टीका के पश्चात् ही लिखी गईं हैं। रामायणी जी अपने स्थान पर नित्य श्री रामकथा किया करते थे। इनसे दिन दिन घनिष्टता बढ़ने लगी। रामायणी जी इनके तीव्र वैराग्य, अचल निष्ठा, और सरल स्वभाव पर रीझ उठे। गया प्रसाद जी ने उनसे विरक्त दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की।

आध्यात्म जगत में श्री हरि के विधानानुसार सम्प्रदाय, भजननिष्ठा, गुरूपरम्परा आदि सब कुछ पहले से ही निश्चित है। वे परम सिद्ध संत जानते थे कि-इनके ईश्वर निर्दिष्ट गुरुदेव कोई और ही हैं। अट्ठारह उन्नीस वर्ष की अल्पायु के किशोर जानकर वैष्णवीय दीक्षा, मंत्र और युगल कंठी ही प्रदान की। इस प्रकार भजन साधन एवं सत्संग में समय बिताते हुए छः सात महिने तक चित्रकूट में निवास किया।

ओरछा निवास- चित्रकूट से चलकर तीन दिन बाद ओरछा पहुँचे। भगवान रामराजा के पुजारी जी का बात सुनकर गयाप्रसाद जी आनन्द विह्वल हो उठे। कुछ क्षण चकित से पुजारी जी की मुँह देखते रहे फिर श्री रघुनाथ जी की अपने पर इतनी कृपा करुणा देख प्राणों में उठती प्रेमाभावों की बाढ़ नेत्रों की राह झर कर वक्षस्थल का प्रक्षालन करती हुई मंदिर के फर्श को शिक्त करने लगी। रात्री में प्रसाद पाकर लेटे तो नेत्रों के कोरों से निकल कर अश्रु उपतोषक को भिगोती रहीं। मेरे लिये आपने इतना कष्ट उठाया? मुझ अधम के लिये? करुणार्णव, भक्तवत्सल दीनबंधु....... मैं एकाध दिन और नहीं खाता तो मर नहीं जाता? क्यों अपने इतना परिश्रम किया? आह, मेरे प्राण! दीनवत्सल! तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है जो मुझ जैसे दीनों की सुध लें।

रोते रोते उनकी हिचकियाँ बँध गयीं। सारी रात रोते कलपते प्रार्थना करते और राजाराम बनकर छल करने पर उलाहना देते बीत गयी। जब जब उन्हें इस घटना की स्मृति होती वे रह रह रोमाञ्चित-विगलित रुद्ध कण्ठ अश्रु बहने लगते।

कहिये तो किशोर बालक गया प्रसाद जी ने ऐसा कौन सा साधन, व्रत अथवा तप किया था कि जिसके कारण भगवान रामराजा रीझ पड़े और राजाराम पंडित बन कर दर्शन देने दौड़े आये?

सुना और पढ़ा तो यही है कि –''अनेकों जन्मों तक साधन, तप करने पर भी दर्शन सुलभ नहीं होते।''

और साधन की अग्नि में तप कर जब तक देह पक नहीं जाती– मन निर्मल होकर एक विशेष स्थिति नहीं प्राप्त कर लेता, वह भगवद्दर्शन का तेज सह नहीं पाता। दर्शन होने पर या तो विक्षिप्त हो जाता है अथवा देह ही छूट जाती है।

तब?

केवल यही कहा जा सकता है कि–ऐसी साधन सम्पत्ति उन्होंने बारह वर्ष की आयु में ही अर्जित कर ली थी। किंतु जहाँ जन्म - जन्म तक तप, ध्यान, यज्ञ, पूजादि साधन करने के पश्चात भी........जो परिणाम नहीं प्राप्त होता वह इन्हें कैसे केवल छः महीना में एक गायत्री पुरश्चरण में?....... नहीं, मन मानता नहीं।

यों तो सर्वेश की इच्छा ही सर्वोपरि है। उसके सामने कोई नियम–सिद्धान्त टिकते नहीं पर मानव मन इतना सहज मान ले ऐसा सरल नहीं है। उसे तो तर्क युक्त समाधान चाहिये। तब तो एक ही बात, सिद्धान्त श्रीरघुनाथ जी के मुखारविंद द्वारा घोषित हुआ है–''निर्मल मन जन सो मोहि पावा।''

हाँ, पंडित गया प्रसाद सहज, सरल और निर्मल मन थे। अभी तक संसार ने उनके मन को छुआ तक न था। वे संसार में रहते अवश्य थे किंतु संसार अभी तक उनके भीतर घुस नहीं पाया था। इसी से गोकर्ण जी के केवल दो श्लोकों ने उनके हृदय में वैराग्य की

अग्नि धधका दी। जगत की आसक्ति से रहित होने के कारण ही घर परिजन छोड़ने में सोचना नहीं पड़ा न ही समय लगा।

निष्कर्ष यही हुआ कि मन की निर्मलता ही मुख्य है, उसमें आस्तिकता का बीज वपन होते ही त्वरित गति से अंकुरित होकर बढ़ जाता है। उसे यदि अनुकूल खाद-पानी सुलभ हो तो पौधे से पेड़ बनने में समय नहीं लगता और न ही सर्वेश धैर्य धारण कर पाते हैं- उससे बिना मिले वे भी नहीं रह पाते।

पं. गया प्रसाद जी को यह सब सहज सुलभ हुआ और वे अल्प काल में ही पं. गया प्रसाद से श्री गणेशदास जी सिद्ध महापुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये।

छः सात महिने उन्होंने ओरछा मंदिर में निवास किया। इस काल में घूम-घूम कर प्राकृतिक सौन्दर्य-संपदा से युक्त ओरछा क्षेत्र के दर्शन किये।

सबसे प्रथम भगवान के दर्शन उन्हें ओरछा में हुए इसलिये ओरछा के प्रति इनके मन में प्रेम-श्रद्धा सदा बनी रही।

ब्रज की ओर - गयाप्रसाद जी ने भक्तमाल की भक्तवल्लभा टीका के निजवृत्त में लिखा है-"श्रीराघवेन्द्र प्रभु की प्रेरणा से मैं विक्रम संवत् 2001 में काशी से चलकर चित्रकूट होता हुआ श्री ब्रजधाम में प्रविष्ठ हुआ।" संभवतः यात्रा पथ में कहीं और भी रूक करके भजन साधन में लगे रहे हों। क्योंकि उपर्युक्त कथन से इनकी आयु ब्रज में प्रवेश के समय छब्बीस वर्ष होती है।

उन दिनों श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी अनेक सिद्ध संतों के साथ ब्रज-चौरासी कोस की परिक्रमा कर रहे थे। पूंछरी गोवरधन से गया प्रसाद जी भी उस यात्रा में सम्मलित हो गये संयोग से ये भरतपुर की ओर से चलकर सर्व प्रथम पूंछरी ही आये थे। परिक्रमा का आरंभ

वृन्दावन से हुआ था। भक्तमाल जगत के मूर्धन्य महापुरुष श्री जगन्नाथ प्रसाद भक्तमाली भी इस यात्रा में सम्मलित थे। परिक्रमा में जहाँ जहाँ जाते उस स्थान का महत्व सुनाया जाता।

''श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव''

इस मंत्र का संकीर्तन होता, ब्रह्मचारी जी संकीर्तन में उद्दाम नृत्य करने लग जाते उनका जटामण्डल घूमने लग जाता। वे बालकों के समान कभी दौड़ते, कभी कबड्डी खेलते और कभी दोनों हाथ उठाकर उछल पड़ते–अद्भुत आनंद की वर्षा होने लगती, अनेक संतों को भावावेश–प्रेमावेश हो आता। कोई नाच रहे होते, कोई गा रहे है तो कोई हूंकार कर रहे होते इस प्रकार आनंद का समां बध जाता। इस परिक्रमा में ही गयाप्रसाद जी का ब्रह्मचारी जी से प्रथम परिचय हुआ और सदैव उनके प्रति पूज्य भाव बना रहा। परिक्रमा यात्रा में पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली द्वारा भक्त चरित्रों की कथा होती रहती। यहीं से गया प्रसाद जी को भक्तमाल ग्रन्थ की विशेष जानकारी प्राप्त हुई। इन्होंने अपने स्ववृत में लिखा है–''उसी समय पं. श्री जगन्नथ प्रसाद भक्तमाली वृन्दावन द्वारा कुछ श्री भक्तमाल की कथा श्रवण का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। पश्चात् श्री गिरिधारी दास जी भक्तमाली वृन्दावन के द्वारा श्री गोवरधन तथा श्री अयोध्या में श्री भक्तमाल का कुछ अंश श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतएव उक्त दोनों ही महानुभाव इस विषय के मेरे गुरु हैं।''

चौरासी कोस की परिक्रमा वृन्दावन में पूर्ण हुई। गया प्रासद जी पूंछरी में सम्मलित हुए थे अतः वृन्दावन से पूँछरी तक की यात्रा अकेले ही पूरी की। वहाँ से तो पुनः वृन्दावन की आरे चल दिये, राधा कुण्ड से आगे बसौती गाँव पहुँचे और साँझ हो जाने के कारण वहीं ऊँचे टीले पर हनुमान जी के मंदिर में ठहर गये। गाँव के लोगों का व्यवहार और एकान्त में हनुमान जी का सानिध्य देख कुछ दिन ठहरने की इच्छा हुई। एक दिन गाँव के लोगों से सुना कि ''गोवरधन में चचंलदास अखाड़े (लक्ष्मण मंदिर) पर अयोध्या के एक सिद्ध संत पधारे हुए हैं।'' सुनकर गया प्रसाद जी कुछ लोगों के साथ लक्ष्मण मंदिर गोवर्धन आये।

दीक्षा– श्री लक्ष्मण मंदिर हनुमान गढ़ी अयोध्या के सिद्ध संत– ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी श्री सरपंच बाबा महान्त श्री रामचरणदास जी महाराज द्वारा संचालित था। सरपंच बाबा उन दिनों लक्ष्मण मंदिर में विराजमान थे। प्रथम दर्शन में ही गया प्रसाद जी ने उनके चरणों में अपना समर्पण कर दिया और महत्तम सद्‌गुरु ने भी देखते ही अपने सत् शिष्य को पहचान लिया। श्री गया प्रसाद जी की प्रार्थना पर श्री सरपंच बाबा ने विधिवत् विरक्त भेष एवं पंच संस्कार दीक्षा प्रदान की।

''श्रीगुरुदेव ने आपका नाम पं. गया प्रसाद त्रिपाठी से बदलकर ''गणेशदास'' रख दिया। सम्भवत: सिद्ध गुरु ने जान लिया था कि– यह होनहार शिष्य आगे चलकर भक्तमाल जैसे ग्रन्थ की टीका, टिप्पणी और व्याख्या लिखकर भक्त और जीव जगत का कल्याण करेगा। और भी अनेक ग्रंथों का लेखन करके मानव जगत का हित साधन करेगा। यह बालक गणपति के समान ही बुद्धिमान एवं कार्य कुशल है। अत: यही ''गणेश दास'' नाम उचित है यथा – **धरेउ नाम गुरु हृदय विचारी।** इस प्रकार सन् 1944 में श्रीलक्ष्मण मंदिर गोवरधन में श्रीहनुमान गढ़ी अयोध्या की नागा परम्परा के परस सिद्ध संत श्री सरपंच बाबा से विधिवत वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करके हनुमानगढ़ी की परम्परा से जुड़ गये।

एक बार सुदामाकुटी वृन्दावन में एक संत रामकिंकरदास जी ने पूछा था–''महाराज जी! साधुओं के नाम तो भगवन्नामपरक होते हैं जैसे –''रामदास'', ''कृष्णदास'', ''गोविन्ददास'', ''माधवदास'', नारायणदास आदि–आदि। आपके गुरुदेव ने आपका नाम ''गणेशदास'' कैसे रखा?

तब इन्होंने उत्तर दिया–''हमारे गुरुदेव जानते थे कि इस दास में जन्मान्तरीय कोई भी भक्त संस्कार नहीं है। इसे तो इसी जन्म में भक्ति का श्रीगणेश करना है अत: गणेशदास नाम दिया।''

भगवान पद्मसंभव ने बड़ी चतुराई और सोच समझ के साथ अपनी दुकान इस संसार का निर्माण और इसके अनवरत रूप से चलते रहने की व्यवस्था की है।

इसकी विविधता ही आकर्षण का कारण है। इसमें इतनी विषमतायें और अपवाद हैं कि गिनने पर संख्या ही समाप्त हो जायेगी अतः असंख्य कहना ही उचित होगा। यहाँ कहीं किसी की किसी के साथ समता नहीं है इतने पर भी समता का यत्र तत्र आभास अवश्य होता है अतः इंगित ही किया जा सकता है–''इदमित्थम्'' नहीं कहा जा सकता। यहाँ पूर्वाग्रहों की भारी भीड़ है– चाहे परिवार हो, समाज, जाति, धर्म, राष्ट्र हो अथवा फिर सम्पूर्ण विश्व। अपने अपने पूर्वाग्रहों से ग्रसित सभी अपने को –अपनी बात को –मान्यता को स्थापित करने में लगे हैं। सोचकर देखने पर हँसी आती है–''क्या तुम से अधिक बुद्धिमान कोई नहीं है?'' जिसने इस सारे प्रपंच का, तुम्हारा निर्माण किया है– और निरन्तर–निर्विघ्न चलते रहने का प्रबन्ध किया है; वह? ? और जो उसका भी सृष्टा है वह? ? ? कहाँ है तुम्हारी गिनती इन सबमें? नगण्य! फिर इतना कोलाहल क्यों? क्यों? क्यों?

सम्भवतः हम अपने ज्ञान की उपेक्षा करते हैं, उसे ऊपर आने नहीं देते रहते है कि यह रंगीन दुनियाँ कहीं छूट न जाय।

जो अपने अंतर्यामी की बात सुनते हैं – अनुसरण करते हैं उसका वे कोलाहल में नहीं पड़ते–करते भी नहीं। चल पड़ते हैं चुपचाप; इन सबका–अपना मूल खोजने। वे नहीं देखते कि सम्मुख उबलती–उफनती नदी है कि पहाड़, गहरा खड्डा है कि गहन वन, सिंह मुख फाडे है कि चीर देने को तत्पर भालू। लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर किये वे चलते रहते हैं।

असत् पर नहीं टिकती निगाह, सत्य की है चाह जिसे।

गिनता नहीं पथ रोड़ों को, रत्नों की हैं खोज जिसे।।

यही विशेषतायें थीं श्री गणेश दास जी महाराज में। उन्होंने कभी स्वयं को स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। कभी पूर्वाग्रह नहीं पाले और न ही कभी किसी का खण्डन-मण्डन, संग्रह-परिग्रह किया। सदा अतल शाँत बने रहे। न इन्हें कभी किसी से विक्षेप हुआ न इनसे कभी किसी को विक्षेप हुआ। सदा सबके अनुकूल, हितैषी और सहायक रहे। कामना रहित हुए बिना ऐसा नहीं हो सकता।

निर्वाणी अखाड़ा- हमारे देश में धार्मिक पूर्वाग्रह कम नहीं थे- आज भी कम नहीं हैं, किंतु हमारे वैष्णव, स्मार्त, शैव, शाक्त, गाणपत्य, अघोरादि पंथ के विरोधी ही नही बल्कि बाहर से आये आक्रमणकारियों के भी धार्मिक अत्याचार कम नहीं हुए। स्मार्त-शैव, वैष्णवों के घोर विरोधी थे। कई बार होता कि शैव शस्त्र धारण कर वैष्णवों का संहार कर डालते। इस फूट के कारण बाहरी आक्रमणकारियों के धार्मिक अत्याचारों का जमकर प्रतिकार नहीं हो पाता। परिणाम में वे बलात् धर्म परिवर्तन करके अपनी संख्या-बल बढ़ाते जाते। यहाँ तक ही होता तो शांति प्रिय भारतवासी सहते किंतु अन्य अत्याचार जैसे-गौ वध, मूर्ति भंजन और नारी का अपमान असह्य हो उठा। किंतु संगठन के अभाव में हार ही उनके हाथ लगी।

इस प्रकार बाहर से आये आक्रमणकारियों और स्मार्तों-शैवों के अत्यचारों से वैष्णव त्रस्त हो उठे। तभी प्रभु की अशेष अनुकम्पा से स्वामी बालानंदाचार्य नाम के एक समर्थ वैष्णव महापुरुष ने कुछ संगठन बानाकर स्मार्तों का विरोध करके उन्हें पराजित किया। यह देख वैष्णव समाज ने स्वामी बालानंद जी के नेतृत्व में संगठित होने का निर्णय लिया जिससे उन्हें पुनः अत्याचारियों के क्रोध का पात्र न बनना पड़े।

स्वामी बालानंद जी ने अपनी बुद्धि और योग्यता का परिचय देते हुए नागा-परम्परा की व्यवस्था की। प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने उनके समर्थन में अपने-अपने सम्प्रदाय

से कुछ साधु नागा परम्परा को समर्पित किये। स्वामी जी ने इन हजारों नागाओं को तीन भागों में विभक्त किया। ये तीनों दल ''अनी'' कहलाये। ''अनी'' का अर्थ है सेना अथवा सेना का भाग। नागा परंपरा में इसका प्रचलित परिभाषिक अर्थ है- धर्म की रक्षा के हेतु समर्पित साधुओं की सेना। इन तीनों अनियों के नाम थे-1. निर्मोही, 2. निर्वाणी, 3. दिगम्बर। प्रत्येक अनी में आज भी सहस्त्रों नागा हैं। इन्हें उस समय युद्ध की शिक्षा और शस्त्रों से समृद्ध बनाया गया। ये निरन्तर नित्य युद्धाभ्यास करते थे, विविध शस्त्र चलाने में सिद्धहस्त योद्धा थे। जिससे समय पर आक्रमणकारी का तुरंत प्रतिकार कर सकें। यह सब करते हुए भी ये पूजा, पाठ, माला का नियम और साधु होने का अपना लक्ष्य भूलते नहीं थे।

इनमें निर्वाणी अनी का मुख्यालय अयोध्या का हनुमानगढ़ी मंदिर है। मंदिर किले की भांति बना हुआ है। सेवा पूजा एवं उत्सवों की जो नियमावली है, प्राचीन समय से ही उसका दृढता पूर्वक पालन होता है। मंदिर में निर्वाणीअनी के सैंकड़ों नागा साधु निवास करते हैं। इसमें सम्माननीय-गरिमामय पद आला-महान्त का होता है। निर्वाणीअनी भी संचालन एवं संगठन की दृष्टि से चार पट्टियों के रूप में व्यवस्थित है। पट्टी का अर्थ बृहद् संस्था के आंतरिक विभेदों से है। यह विभाजन सुव्यवस्था की दृष्टि से किया गया है। इनके नाम-बसन्तिया, सागरिया, उज्जैनिया और हरिद्वारी है। हनुमानगढ़ी की सेवा व्यवस्था और नागाओं के विचारणीय प्रसंगों का निर्णय लेने के लिये प्रत्येक पट्टी अपने कुछ सदस्यों को कार्यकारिणी के रूप में प्रस्तुत करती है। ये सदस्य पंच कहलाते हैं। इन पंचो का प्रमुख सरपंच कहलाता है। हनुमानगढ़ी में समन और गरिमा की दृष्टि से आला महान्त का पद सर्वोपरि है।

किंतु प्रशासनिक अधिकार की दृष्टि से सरपंच का पद अतिशत महत्वपूर्ण है।

सरपंच बाबा – श्रीगणेशदास जी महाराज के गुरुदेव श्री रामचरणदास जी महाराज वहाँ सरपँच पद पर विराजमान थे अतः सरपंच बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। एक निश्चित समय के पश्चात् सरपंच का चुनाव होता है। एक बार सरपंच बनने के बाद फिर से इस पद पर आसीन होना कठिन होता है किंतु सरपंच बाबा के उदार हृदय, व्यापक दृष्टि, न्यायप्रियता और प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण इस पद पर बार-बार चुने गये। वे आजीवन सरपंच बने रहे। सरपंच बाबा बसन्तिया पट्टी के थे अतः इनके शिष्य होने के कारण श्री गणेशदास जी महाराज भी इसी पट्टी में शामिल हुए।

रामानंद सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक स्वामी श्री रामानंदाचार्य जी महाराज के शिष्य थे श्री अनन्तानंदाचार्य जी महाराज। श्री अनन्तानन्दाचार्य के शिष्य श्री कृष्णदास जी पयहारी महाराज ने जयपुर में गलतापीठ की स्थापना की। इनके अनेक शिष्य परम सिद्ध एवं समर्थ धर्म प्रचारक संत थे। उनके नाम पर अलग-अलग अनेक स्थानों पर आचार्य पीठ स्थापित हुए। ये पीठ "द्वार" कहलाते हैं। जिन महापुरूषों के नाम से ये पीठ स्थापित हुए है वे द्वाराचार्य कहलाते हैं। पयहारी के सभी शिष्य द्वाराचार्य हुए। इनके अंतिम शिष्य श्री हठीनारायणदेवाचार्य जीमहाराज। इन्हीं की शिष्य परंपरा में श्री गणेशदास जी महाराज दीक्षित हुए। नागा साधुओं की भाषा में कहें तो श्री गणेशदास जी महाराज निर्वाणी अनी, बसन्तिया पट्टी, झुंडी जमात और बड़गल तिलक श्री युक्त परम्परा में दीक्षित हुए।

श्रीगणेशदास जी महाराज के गुरुदेव श्री सरपंच बाबा उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, योगीराज श्री रामचरणदास जी महाराज विलक्षण प्रभावशाली सिद्ध महापुरुष थे। ये विशाल व्यक्तित्व के स्वामी थे इनका असाधारण ऊँचा कद, तेजपूर्ण विशालभाल, और भव्य वपु के कारण कहीं भी आसपास के लोगों का सहज ही ध्यान आकर्षित हो जाता। कहते है उनकी लम्बाई सात फिट के आस पास थी। लम्बाई के अनुरूप ही पुष्ट शरीर ढाई तीन क्वींटल उनका वजन था।

गोवरधन के विख्यात कवि और लेखक श्री देवकी नंदन जी कुम्हेरिया का लिखना है कि–गौर वर्ण उच्च ललाट, अलौकिक आभा से दमकते मुख–मण्डल के सरपंच बाबा जब कुछ दिनों के लिये गोवरधन आते तो आस–पास के लोग उनके दर्शन करने अखाड़ें में भीड़ लगा देते। सायंकाल यदि अखाड़े से निकलकर वे किसी दुकान की गद्दी पर बैठ जाते तो पथ पर आते–जाते लोग उन्हें देख ठिठक जाते थे।

आश्रम की लम्बी चौड़ी सम्पति से सम्बन्धित मुकदमों के कारण श्री सरपंच बाबा को कई बार न्यायालय जाना पड़ता था। इनके भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हो इनके न्यायालय में पहुँचते ही वहाँ के कर्मचारी अपनी–अपनी कुर्सियों से उठ खड़े होते। वहाँ का अंग्रेज जज इनके बैठने के लिये कुर्सी मँगवाता और स्वयं भी उठ खड़ा होता। एक बार कलकत्ता न्यायालय में गंगासागर के कपिल मुनि मंदिर के सम्बन्ध में चारु बाबू नाम के बंगाली ने नालिश कर दी कि–''ये यू.पी. के लोग हमारे बंगाल के मंदिर का भेंट चढ़ावा और दक्षिणा लेकर चले जाते हैं यह अनुचित है।''

सम्मन जाने पर श्री सरपंच बाबा पेशी पर हाजिर हुए। उनका लम्बा चौड़ा शरीर और भव्य व्यक्तित्व देख लोग भौंचक रह गये, स्वयं न्यायाधीश अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। उसने सरपंच बाबा के लिये कुर्सी मँगवायी और जब वे बैठ गये तो अपने समीपस्थ व्यक्ति से कहा–"अपने जीवन में मैने इतना प्रभाव शाली व्यक्ति नहीं देखा।

जब आरोपी का तर्क श्री सरपंच बाबा को सुना कर उत्तर देने को कहा गया तो उन्होंने कहा– " आप लोगों के कानून कायदे हम नहीं जानते, सत्ता के साथ साथ कानून बदलते रहते हैं। प्रदेशों की सीमा रेखायें भी समय समय पर घटती बढ़ती और आगे पीछे होती रहती हैं।

अब हमारी बात सुनकर माननीय न्यायाधीश न्याय करें-प्रथम हम सूर्यवंशी है, सूर्यवंशी राजा सगर के पुत्रों ने पृथ्वी खोद कर समुद्र बनाया अतः समुद्र हमारा हुआ। दूसरी बात-समस्त पृथ्वी और ब्रह्माण्ड के राजा भगवान राम हैं और वे भी सूर्यवंशी है। तीसरी बात-हम साधु है और कपिलमहर्षि भी साधु थे। इस प्रकार कपिलदेव हमारे, समुद्र हमारा और राजा राम हमारे। आप अंग्रेजों का राज्य तो अभी कुछ ही काल से हुआ है और हमारे हनुमानगढ़ी अयोध्या के साधु तो मुगलकाल से ही इस मंदिर की सेवा पूजा करते आये हैं। अब चारूबाबू बतायें कि उनका हक कैसे बनता है? क्या वे साधु हैं? क्या समुद्र उनकी बपौती है? गंगा को धरा परा लाने वाले सूर्यवंशी भगीरथ क्या उनके पूर्वज थे? क्या वे राजा राम की परंपरा में हैं?"

श्री सरपंच बाबा की बुलंद आवाज और युक्तियुक्त बात सुन अदालत में सन्नाटा छा गया, प्रतिपक्ष को कोई उत्तर नहीं सूझा अतः अंग्रेज न्यायाधीश ने फैसला सुनाया-"कपिल मंदिर हनुमानगढ़ी अयोध्या के रामानंदी साधुओं की पूजा व्यवस्था के अधीन बहुत काल से चला आ रहा है अतः इस पर हनुमान गढ़ी अयोध्या का ही हक बनाता है आरोपी चारू बाबू कोई युक्ति संगत प्रमाण नहीं दे सके इसलिये न्यायालय अपना फैसला श्री रामचरणदास जी के हक में देता है।"

इनके चरणों में श्रीगणेशदास जी महाराज ने श्री भक्तवल्लभा टिप्पणी में श्रद्धासुमन इस प्रकार अर्पित किये हैं-

कोमल सरल सुशील सिंधु सम अति गंभीरा।
ब्रह्मचर्य व्रत धीर शुद्ध ज्यों सुरसरि नीरा।।
देखि दास अपराध दुःखित पर कुपित न कबहीं।
क्षमाशील शिवस्वरूप मुदित मन भावत सबहीं।।

भूलि भटकि आये शरण राखत अपनो मानि।
रामचरण के दास श्री रामचरण रति दानि।।

सन् 1944 में सरपंच बाबा से दीक्षा लेकर श्रीगणेशदास जी महाराज श्री लक्ष्मण मंदिर गोवरधन में रहने लगे। इस मंदिर के महान्त श्रीसरपंच बाबा थे इस कारण इन्हें अयोध्या से गोवरधन आना जाना पड़ता था। एक बार इनके गोवरधन आने पर श्रीगणेशदास जी महाराज भी अयोध्या दर्शन के लोभ से उनके साथ चले गये। अवध की राह में बढ़ते हुए मन अनेक भावउर्मियों से आड़ोलित रहता –''अवध, वह अवध जहाँ श्री रघुनाथ जी अवतरे, घुटनों चले, विवाहित होकर पधारे, दशरथ नंदन–कौसल्या आनंदवर्धन, सीतापति, राजाराम विराजित हैं। जहाँ का कण–कण चिंतामणि है, जहाँ का साधारण क्षुप, पादप कल्पवृक्ष से अधिक क्षमतावान है, जहाँ पापनाशिनी सरयू प्रवाहित है, जिसके घाटों–बुर्जियों पर प्रेमी साधक–संत स्नान करके लीलादर्शन में मग्न रहते हैं।

''ओरछा के रामराजा ही तो अवध के राजाराम हैं। मुझ अकिंचन पर अनन्त कृपा है प्रभु की। वहाँ भक्तराज श्रीहनुमान जी महाराज विराजते हैं, उनका सानिध्य दर्शन पाकर तो जीवन धन्य–सफल हो जायेगा। श्रीगुरुदेव की कृपा करुणा से, हृदय में जो दर्शन की लालसा पिपासा बनकर निरन्तर प्राणों को बेचैन किये रहती थी– परिकरों सहित श्री रघुनाथ जी के दर्शन–स्पर्श पाकर सदा–सदा के लिये तृप्ति शाँति पा जायेगी। कैसे होंगे भला उनके वे चारु चरण ? अरुण, अमल, कमल–कोमल......आह!'' आगे कल्पना के पंख थक कर ढीले पड़ जाते। मन ही मन हाथ उन चरणों का संवाहन करते–सहलाते। देह कंटकित–कंपित हो उठता, नेत्रों की वारिधारा वक्षस्थल भिगो देती पथ धुँधला जाता, गुरुदेव के चरणों का अनुगमन करते पद डगमग करने लगते। वाह्यज्ञान होने पर देह को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते, कभी सफल होते और कभी.....। आती हुई बाढ़ के आगे क्या कोई कभी बाड लगा पाया है।?

कभी सोचते–कैसी होंगी जगज्जननी माता जानकी? दया, करुणा, कोमलता, रूप और छवि का वह घनीभूत स्वरूप.........?

आंसुओं की बाढ़ और भावों के भार से कल्पना थक जाती।

हनुमानगढ़ी के पुजारी– हनुमानगढ़ी मंदिर में एक साथ चार पुजारी नियुक्त होते हैं। ये अनी की चारों पट्टियों से सम्बन्धित होते हैं। प्रत्येक पट्टी वाले एक साधु पुजारी के रूप समर्पित करते हैं। यह नियुक्ति मात्र छः महीने की होती है। जाति, शील, आचरण आदि की परीक्षा करने के बाद ही पुजारी के पद पर नियुक्ति होती है छः महीने बाद पुनः दूसरे पुजारियों का चुनाव होता है। मन्दिर के आय व्यय पर पुजारियों का ही नियंत्रण रहता है। यहाँ की महत् आय द्वारा पुजारी ही सारा खर्चा चलाते हैं। पुजारी बनने के इच्छुक साधु में विशेष गुण सम्पति होने की आवश्यकता होती है। बहुत लोग तो इच्छा रहते भी जीवन भर यह पद प्राप्त नहीं कर पाते।

हनुमान जी महाराज की और गुरु कृपा से श्री गणेशदासजी महाराज को अयोध्या पहुँचने के कुछ ही दिन बाद पुजारी बनने का अवसर मिला। दिनाङ्क 8-9-1946 में पहली बार ये हनुमानगढ़ी के पुजारी नियुक्त हुए। इस समय इनकी आयु 28 (अट्ठाइस) वर्ष की थी। उस समय वहाँ के लिये ये नये ही थे, किसी अधिकारी को पहचानते नहीं थे, न ही पुजारी बनने का विचार था तो उसके लिये प्रयास करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सम्भवतः हनुमानगढ़ी के इतिहास में ये पहले व्यक्ति थे जिन्हें इतनी शीघ्र और अनायास यह पद प्राप्त हुआ।

हनुमानगढ़ी के मंदिर की सेवा की अपनी ही रीति है, जिसे चारों पुजारी मिलकर सम्पन्न करते हैं। व्यवस्थापकों द्वारा एक व्यक्ति नियुक्त रहता है जो पुजारियों को दो-ढाई बजे के बीच जगा देता है। उसका संकेत मिलते ही पुजारी शय्या त्याग देह कृत्य सम्पन्न

कर सेवा के लिये मंदिर में प्रवेश करते हैं। इस आयु में सामान्य व्यक्ति के लिये निद्राजित होना बड़ा कठिन कार्य है किंतु गणेशदास जी सदा से निद्राजयी रहे। वे तो जगाने वाले व्यक्ति के आने से पूर्व ही उठ जाते। छः महीने की अवधि में एक भी दिन ऐसा नहीं हुआ कि इन्हें जगाना पड़ा हो।

ठाकुर जी की सेवा मिलना निश्चय ही बहुत बड़ा सौभाग्य है किंतु सेवापराध से बचना सरल कार्य नहीं है। सेवापराध भी कम नहीं रहते वैष्णव ग्रन्थों में इनका बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीगणेशदास जी सहज ही शाँत-निस्पृह चित्त थे अतः उनके द्वारा कोई अनियमितता हो यह सम्भव नहीं था पर वे अन्य तीन पुजारियों से भी कोई सेवापराध न बने इस विषय में सचेत रहते थे। इसके लिये ये निज मंदिर में ही भक्त अथवा भगवान की कथा आरम्भ कर देते जिसे वे तीनों पुजारी सुनते और परिणाम स्वरूप उनका मन भगवान में लगा रहता। किसी अन्य चर्चा को स्थान अवकाश ही न मिलता छः महीने की इसी नियत अवधि में ये नित्य 1008 तुलसी दलों पर "राम नाम लिखकर श्री हनुमान जी महाराज को समर्पित करते। इनका यह अभ्यास स्वभाव बन गया था बाद में भी दैनिक नित्यचर्चा का भाग ही बन गया।''

ब्रह्मचारी जी - अवध निवास काल में एक महाराष्ट्रीय संत का संग श्री गणेशदास जी महाराज को प्राप्त हुआ। इनके त्याग, वैराग्य, भजन- निष्ठा, तितिक्षा और अंतर्मुखी स्वभाव का प्रभाव श्री गणेशदास जी पर अमिट रूप से पड़ा। ये महाराष्ट्रीय संत ब्रह्मचारी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका जन्म एक रामभक्त परिवार में हुआ इन्होंने अपने गाँव परिवार और जिले आदि के विषय में कभी किसी को कुछ बताया नहीं। माता पिता की ये एकमात्रसंतान थे और रामभक्त माता पिता के भक्ति संस्कार मानों इन्हें परम्परा अथवा पैतृक सम्पति के रूप में प्राप्त हुए थे। ब्रह्मचारी जी ने न्याय, व्याकरण, वेदान्त आदि विषयों का

गहन अध्ययन कर विशेष ज्ञान प्राप्त किया था, इतना ही नहीं शास्त्रीय संगीत के अच्छे जानकार भी थे और रागों की सूक्ष्मताओं का अच्छा बोध था इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के वाद्य ये कुशलतापूर्वक बजा लेते थे। इनके लिये श्रीगणेशदास जी महाराज कहते थे कि ब्रह्मचारी जी महाराज का कहना था– "दो बातें हैं, या तो समझ कर पढ़ना चाहिये अथवा पढ़कर समझना चाहिये। दोनों में से किसी भी प्रकार से पढ़ने पर प्रपंच रहित होकर, शरीर-संसार से विरक्ति होकर श्रीरामचरणों में अनुरक्त हो निष्ठापूर्वक भजन में लगा जा सकता है।"

ब्रह्मचारी जी ने पढ़कर समझा और भजन में लग गये।

विद्या का कार्य है जीव को अविद्या के बंधन से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करना । ब्रह्मचारी जी ने शास्त्रों के मर्म को पूरी तरह समझा, केवल समझा ही नहीं, हृदय से ग्रहण किया और जीवन में उतारा भी जिसके परिणाम स्वरूप शरीर-संसार के प्रति अनासक्त हो गये। इसी के साथ अमरबेल सी बढ़ी-हरी दर्शन की व्याकुलता। घर-परिवार में रहना उनके लिये कठिन हो गया। मन अवध और अवधकिशोर के दर्शनों के लिये व्याकुल हो उठा। पुत्र की बढ़ती हुई व्याकुलता देख कर माता पिता ने अवध जाकर भजन करने की आज्ञा प्रदान कर दी। आनन्द से उछलता मन लिये वे रघुनाथ जी के दर्शन के लिये अयोध्या चल दिये। संकल्प लिया कि "पथ में जल के अतिरिक्त कोई आहार नहीं लूँगा, श्री अवध पहुँच कर ही भोजन करूंगा।

उन दिनों सवारियों की इतनी रेलमपेल नहीं थी अधिकांश यात्रायें पैदल ही हुआ करतीं। महाराष्ट्र से पैदल चलकर अवध पहुंचने में ब्रह्मचारी जी को कई दिन लगे। लक्ष्यस्थल पर पहुंचने की तीव्र लालसा के कारण न यात्रा के कष्टों की ओर ध्यान गया न भूख प्यास की ओर। यथाशक्ति तीव्र गति से चलकर अयोध्या पहुँचे, लगा-आतपतप्त को गहरी वटछाया सुलभ हुई, तृषावंत को शीतल स्वच्छ जलयुक्त पुष्करिणी प्राप्त हुई और मरणासन्न ने गंगाजल पाया।

श्री रामधाम-अवधपुरी और निर्मल जल से भरी सरयू को निहार जैसे जन्म फल पाया। अह्लादित ह्रदय लिये सरयू स्नान किया, वहीं से मिट्टी की एक हाँडी लेकर-उपले बटोर कर खिचड़ी बनायी। श्रीरघुनाथ जी को भोग लगाकर प्रसाद पाया। इनकी धाम के प्रति निष्ठा और संकल्प की दृढ़ता देख श्री अवध और उसके अधिष्ठाता दोनों ही रीझ गये। इनकी कृपा धारा में स्नात ब्रह्मचारी जी ने प्रसाद पाने के पश्चात् जैसे ही चलने को उद्यत हो पुरी की ओर निहारा-" अवध धाम का दिव्य चिन्मय स्वरूप प्रकट हो गया, उन्होंने देखा-वे सरयू के मणिजटित स्वर्णमय घाट पर खड़े हैं। अमृतसम निर्मल जल में हंस कारण्डव आदि जल पक्षी विहार करते हुए बोल रहे हैं, स्वच्छ जल में रंगविरंगी छोटी बड़ी मछलियाँ स्वच्छंद इधर उधर दौड़ रही हैं। दोनो ओर के तटों पर वन-उपवन सुशोभित हैं, उनमें पुष्पों से लदी लताओं से आवेष्ठित उन्मत वृक्षों का प्रतिबिम्ब सरयूजल में प्रतिबिम्बित हैं। वृक्षों पर बैठे शुक-सारिका, मयूरों वन कुक्कटों के कर्ण मधुर रव से तटप्रान्त मुखरित हैं। सरयू के समीप ही मणिखचित स्वर्णमय राजप्रसाद उनके उन्नत शिखरों पर फहराते सूर्यवंश के भगवाध्वज, गवाक्षों से निसृत सुगन्धित मंद झीना अगुरु-धूमजाल, वातायन से दिखते मंद समीर से हिलते विविध वर्णी झीने पर्दे। पुर की विशाल अट्टालिकायें उनके छज्जों पर बोलते कपोतादि पक्षी, प्रसन्न वदन फिरते नागरिक-सेवक, अश्वारोही, रथारूढ़ विशिष्ट जनों से शोभित वह पुरी......वह......पुरी.....वर्णन के लिये मुझे तो क्या भगवती वाग्वादिनी को भी शब्द प्राप्त नहीं होंगे। लगता है जैसे आनन्द उदधि हर्षावेग से धीमे-धीमे तरंगायित है। आनन्द विह्वल हो ब्रह्मचारी जी आपा भूल गये, उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ कि वे कब उस आनंद ह्रद में उठती उत्ताल प्रेम तरंगों के थपेड़ों में डूबते उतराते उन्मत्त नृत्य करने लगे। कब तक.......कब तक यों देह सुध भूले आनन्दमत्त रहे, कौन बताये? संत-शास्त्र कहते हैं-देश और काल दोनों की सापेक्ष हैं, तब प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच आने का साहस कर पायेंगे ये? नहीं! प्रेमी के अतिरिक्त कोई अपना अस्तीत्व खोना नहीं चाहता।

बाह्यज्ञान होने पर पूछते हुए प्रभु के रनिवास–कनक भवन पहुँचे। वह युगल दर्शन. ......वह छवि.....क्या किसी को होश में रहने देती है? वह मुस्कान; किसको मत्त नहीं कर देती? वह चितवन निहार किसके पद स्खलित नहीं होते? वह स्पर्श; आह! न पूछो..... बहुत छोटी; ब्रह्मा की सृष्टि में कौन ऐसा वीर है जो संयत रह सके कैसे कही जाय वह दशा, भाषा की झोली बहुत छोटी है........बहुत छोटी, न उसमें वह रूपराशि समा पाती है न उस आनन्दघन–दर्शन करने वाले चित्त दशा की अभिव्यक्ति। इतने पर भी कुछ तो कहना होगा, क्यों? क्या कुछ कहना आवश्यक ही है?

वंचित रहने वालों की जो हानि होगी.....क्षमा करेंगे वे?

तब केवल इंगित ही एक उपाय रहा, एक वाक्य में–"गूंगे को गुड़ का स्वाद।"

अथवा–"एक क्षण में युग जी लिये?

फिर भी इंगित इंगित ही है वह अभिव्यक्ति नहीं बन सकता अतः करने वाले इसी से संतोष करते हैं, न करने वाले दौड़ पड़ते हैं जैसे ब्रह्मचारी जी दौड़े, जैसे श्री गणेश दास जी महाराज दौड़े और भी बहुत बहुत लोग हैं।

पुजारी जी द्वारा प्राप्त प्रसादी माला, चंदन, चरणामृत, पान, प्रसाद लेकर श्री हनुमान जी के पास आये। दर्शन करके सोंचा–हनुमान जी के पास ही रहकर ही भजन करते हुए क्यों न जीवन बीते? बस; ब्रह्मचारी जी हनुमान गढ़ी पर ही बस गये।

नित्य सरयू स्नान करके कनक भवन दर्शन करना और हनुमान गढ़ी के संतों से ही मधुकरी भिक्षा जाकर दिन में एक बार पा लेना। उनका नाम जप अनवरत चलता रहता। रात्रि में सबके सो जाने पर वे सम्पूर्ण रात्रि खड़े रहकर हनुमान जी को भगवन्नाम सुनाते, प्रातः पुजारियों के आने पर वे अपनी कुटिया में चले जाते। इनकी धाम निष्ठा अनुकरणीय थी। ये कहते–धाम में पहुँच कर जब जीव का पुनरागमन नहीं होता तो मैं ही क्यों श्री अवध से बाहर जाऊँ? नाम, रूप, लीला, धाम और भक्त सभी में इनकी परिपूर्ण निष्ठा थी।

श्रीगणेशदास जी महाराज ने अपने जीवन–आदर्श के रूप में इन्ही महाविभूति–ब्रह्मचारी जी को स्वीकार किया। इनकी ब्रह्मचारी जी के प्रति अपार श्रद्धा थी और ब्रह्मचारी जी का इनके प्रति अपूर्ण वात्सल्य स्नेह था। ब्रह्मचारी जी से इन्हें दो विशेष बातें सुनने को मिलीं देह और संसार में आसक्ति एवं संग्रह परिग्रह दुख के भूल है, इन्हें त्यागकर निर्वाध भजन करना चाहिए। ये दोनो उपदेश वाक्य गणेशदास जी के साधु जीवन के आदर्श वाक्य बन गये। ये दोनों ही उपदेश उनके जीवन में पूर्ण प्रतिष्ठित थे। ब्रह्मचारी जी कहते–"किसी भी कला अथवा विद्या का ज्ञान भजन में बाधक है। विद्वान लोग अधिकांशतः तर्क वितर्क खण्डन मण्डन में फसकर प्रभु–भक्ति से वंचित रह जाते हैं। मैंने विधिपूर्वक शास्त्रों और संगीत का प्रणयन, अध्ययन और अभ्यास किया है–जब कोई वक्ता श्लोक का अशुद्ध उच्चारण करता है अथवा शास्त्र विरुद्ध बात कहता है या फिर बेसुरा गाता है तो मुझे अच्छा नहीं लगता, टोकने को जी चाहता है। साधक की दृष्टि तो गुण दोष रहित भगवन्मयी ही होनी चाहिये।

ब्रह्मचारी जी सरपंच बाबा के आसन पर नित्य ही मधुकरी लेने आते वहाँ श्रीगणेशदास जी से मिलने पर उन्हें "सिद्धजी" कहकर सम्बोधित करते। एक दिन इन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से दण्डवत प्रणाम करके कहा–"महाराज जी! सारी अयोध्या आपको सिद्ध संत के रूप में जानती है। मैं तो बालक हूँ, अभी ठीक से साधु भी नहीं बन पाया फिर आप इस दास को "सिद्ध" कहकर क्यों सम्बोधित करते हैं? ब्रह्मचारी जी ने प्रसन्नता पूर्वक कहा–मैं कहाँ का सिद्ध? मैं तो ठीक से साधक भी नहीं बन पाया। किंतु अवस्था में बालक होने पर भी अनेक जन्मों की साधना के पश्चात भी साधुता के जो लक्षण नहीं आ पाते, वे आप में सहज ही विद्यमान हैं। इसलिये मेरे द्वारा आपको सिद्ध कहना अनुचित नहीं है।

विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी— अयोध्या के निवास काल में ही ब्रह्मचारी विन्ध्येश्वरी प्रसाद नाम के विद्वान साधक से श्रीगणेशदास जी का सम्पर्क हुआ। ये उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले के निवासी हैं पिता का नाम पंडित कुबेरनाथ शुक्ला था। ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्पन्न ब्रह्मचारी जी वेद-वेदाङ्गादि अनेक विषयों के अधिकारी विद्वान है। काशी विश्वविद्यालय ने इनको व्याकरण, गणित, पूर्वमीमांसा और न्याय इन चार विषयों में स्वर्ण पदक दिया। इसके अतिरिक्त ज्योतिष, वेदान्त आदि के भी मूर्धन्य विद्वान है। कमर में मूँज की मेखला, जनेऊ और पलाश दण्ड धारण किये हनुमानगढ़ी में उस समय पधारे जब श्री गणेशदास जी पुजारी थे। श्रीगणेशदासजी ने इन्हें हनुमान जी का प्रसाद दिया और अपने समीप ही वासस्थान दिया। ब्रह्मचारी जी तप, शौच और स्वाध्याय के जैसे मूर्तिमान स्वरूप हैं, उन दिनों ब्रह्मचारी जी यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि विद्याध्ययन सम्पन्न हो जाने पर समावर्तन संस्कार किस आयु में होना चाहिये।

पारस्करगुह्यसूत्रादि ग्रन्थों में दो मत हैं, प्रथम विद्यार्थी को अड़तालीसवें वर्ष में समावर्तन करवाना चाहिये। दूसरा उपनयन के पश्चात् बारह वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात समावर्तन होना चाहिये।

कलियुग में मानव की पूर्ण आयु सौ वर्ष मानी गयी है अतः बारह वर्ष विद्याध्ययन के पश्चात् समावर्तन होना चाहिये" यही मत उपयुक्त लगता था, फिर भी किसी आचार्य कोटि के महापुरुषके अनुमोदक! उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो रही थी।

श्रीगणेशदास जी से मिलने पर ब्रह्मचारी जी ने यह बात इनसे पूछी श्रीगणेशदास जी ने ब्रह्मचारी जी के मत का ही अनुमोदन और पुष्टि की। इससे उनका पूरा समाधान हो गया।

ब्रह्मचारी जी कहते हैं–" उस अवधि में मैंने महाराज जी के समीप बैठकर व्याकरणशास्त्र का अध्ययन ज्ञान प्राप्त किया। श्री गणेशदास जी के प्रति वे गुरुभाव रखते थे, आज भी उन्हें स्मरण कर वे गद्‌गद्‌ हो जाते हैं, किंतु श्रीगणेशदास जी महाराज उनके प्रति सदा मित्रभाव रखते।

श्रीगणेशदास जी के भगवद्‌धामगमन का समाचार पाकर ब्रह्मचारी जी ने उपवास किया और तीन दिन तक अपना अध्ययन कार्य का अनध्याय रख कर उनके प्रति अपने गुरुभाव का निर्वाह किया।

भागीरथ राम जी– इसी अवधि में बस्ती जनपद निवासी नवयुवक ब्रह्मचारी श्री भगीरथराम भी इनके सम्पर्क में आये। श्रीगणेशदास जी महाराज से इनका सख्यभाव था। सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में इनकी सहज रूचि थी अतः इनमें इनका योगदान बना रहा।

अयोध्या पहुँचने के थोड़े ही समय बाद दिनांक 8.9.1946 को वे हनुमान गढ़ी के पुजारी नियुक्त हुए। यह पद सहज प्राप्त नहीं होता, नये आये हुए साधुओं का कई महीने बीत जाने पर तो सीधा खुलता है इसके पश्चात ही वह हनुमान गढ़ी के साधु समूह का एक सदस्य समझा जाता है। श्री गणेशदास जी का तो अभी सीधा भी नहीं खुला था कि इन्हें पुजारी का पद प्राप्त हो गया।

इस पुजारी पद की अवधि छः महीना होती है। इसके तुंरत बाद गंगासागर स्थित भगवान कपिलदेव के पुजारी का पदभार सम्भालने का दायित्व प्राप्त होता है।

कपिलाश्रम के पुजारी – पश्चिम बंगाल का गंगासागर– कपिलाश्रम तीर्थ भारत के महत्वपूर्ण तीर्थों में से एक है। प्राचीन समय से ही इस कपिल मंदिर की व्यवस्था– सेवा पूजा का अधिकार हनुमान गढ़ी को प्राप्त है।

श्री गणेशदास जी को हनुमान गढ़ी के पुजारी का पद दो बार प्राप्त हुआ प्रथम सन् 1946 में और दूसरी बार अपने गुरुभाई श्री परमेश्वर दास जी के बदले सन् 1952 में।

हनुमान गढ़ी की संचालन व्यवस्था के अनुसार सन् 1947 में और दूसरी बार सन् 1953 में छः-छः महिनों के लिये गंगासागर के कपिल मंदिर के पुजारी पद के लिये नियुक्त हुए।

त्याग, तप और सेवा श्री गणेशदास का सहज स्वभाव था। कपिलाश्रम की एकान्त स्थली में इनके इन गुणों की अधिकाधिक वृद्धि हुई। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में वर्णित कपिलोपाख्यान का ये नित्य पाठ करते। पाठ केवल उन श्लोकों की आवृत्ति मात्र नहीं था- उन श्लोकों का सार अर्थ-सिद्धान्त उनके मन-मस्तिष्क में घुल कर स्वभाव बन गया था। कपिलोपदेश उनके आचार विचार और व्यवहार में सदा दृष्टिगेचर होते। वे जब कभी भागवत कथा करते, कपिलोपाख्यान को विशेष रूप से निरूपण करते-खोल कर समझाते।

भगवत्कृपावश ऐसा संयोग बना कि अंतिम क्षणों में भी कपिलोपाख्यान सुनते हुए ये भगवद् धाम पधारे।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।।
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः।।
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।।

-भा॰ 3/29/21-22-23-24

''मैं आत्मरूप से सदा सब जीवों में अवस्थित हूँ, इसलिये जो भेददर्शी मनुष्य दूसरे जीवों और मनुष्यों का अपमान करके केवल मूर्ति में ही मेरी पूजा करते हैं, वे केवल पूजा का स्वांग मात्र करते हैं। मैं उस नाना सामग्रियों और विधि विधानपूर्वक की गयी मूर्ति पूजा से प्रसन्न नहीं होता। मैं ही सबका आत्मा हूँ अतः जो मोहवश अथवा अभिमानवश दूसरे जीवों की उपेक्षा अथवा वैर करके प्रतिमा पूजन में लगा रहता है वह मानों मुझसे ही द्वेष और वैर करता है उसकी पूजा तो माताजी! जैसे भस्म में हवन करना है।''

भगवान कपिल का अपनी माता देवहूति को दिये उपदेश के इन श्लोकों का अर्थ-सिद्धाँत श्रीगणेशदास जी महाराज के आचरण में पूर्णतः परिलक्षित होते थे।

कपिलाश्रम में प्रातः सेवा पूजा करके रसोई बनाते, कपिल मुनि को भोग लगाकर अपने साथी पुजारियों को प्रसाद पवाते। पश्चिम बंगाल का वह अंचल बहुत पिछड़ा होने के कारण वहाँ गरीबी-दरिद्रता का व्यापक साम्राज्य है गरीब लोग भगवान के भोग लगने का समय साध कर प्रसाद पाने आ जाते थे। श्री महाराज जी उन्हें भी आदर पूर्वक आसन पर बिठाकर प्रसाद परोस कर जिमाते। कभी-कभी तो अपना भोजन भी उन्हें खिला देते। कभी कई कई दिन इन्हें निराहार रहना पड़ता अथवा अल्पाहार पर ही संतोष कर लेते।

इनके साथी पुजारियों को इस प्रकार नित्य दूसरों को खिलाना अच्छा नहीं लगता वे कहते-''यहां तो कँगले-भिखारी आते ही रहते हैं कहाँ तक खिलाओगे।''

''पंगत के समय प्रसाद की आशा से कोई भी क्यों न आये, उसे अवश्य खिलाना चाहिये। महाराज जी ने कहा। आप सब चिंता न करें अन्न-जल भगवान कपिल पूरा करेंगे और रसोई की सेवा में मुझे कोई थकान नहीं होती।''

इस प्रकार भगवान कपिल द्वारा उपदिष्ट समस्त प्राणियों में भगद्भाव रख कर सेवा करने की वृत्ति श्री महाराज जी में सदा दिखायी देती थी।

गंगासागर की जलवायु नमी युक्त है। भोजन में प्राय: चावल ही प्रधान था, साग सब्जी और स्वास्थ्य के लिये उपयोगी वस्तुओं का वहाँ अभाव था अत: शरीर की प्रकृति से भिन्न प्रकार का वायुमण्डल और दरिद्रों की सेवा के कारण पर्याप्त आहार न मिलने से उनका स्वास्थ्य (शरीर) दिनों दिन दुर्बल होता चला गया। वे उदरशूल की व्याधि से ग्रस्त हो गये। कहने पर अन्य संत चिंता करेंगे वह सोंच कर किसी से कहते भी नहीं दर्द को सहते रहे। किसी भी प्रकार की चिकित्सा की वहाँ कोई व्यवस्था नहीं थी, औषधि के रूप में केवल गुनगुना गरम जल लेते, उससे तो कुछ होना नहीं था। व्याधि बढ़ती गयी। एक रात असह्य पीड़ा उठी पेट में, करवटें बदलने के अतिरिक्त तो कोई उपाय था नहीं, सोचा–प्रात: कहीं न कहीं पूछ पाँछ कर किसी डॉक्टर के पास जाना ही पड़ेगा। तभी ''राम नाम भव भेषज'' का स्मरण हुआ–''अरे, नाम के प्रभाव से तो सबसे बड़ा ''भव रोग'' नाश हो जाता है, यह बेचारी उदर पीड़ा है किस गिनती में?''

प्रसन्न हो गये। हरिनाम महिमा के स्मरण से हृदय भर आया। अभी नाम लेना आरम्भ नहीं हुआ था। केवल महिमा का स्मरण हुआ कि पेट दर्द जाने किधर गया और अंत तक लौट कर नहीं आया। आता भी कैसे बेचारा, कहीं अस्तित्व बचा हो तब न? सूर्य के समीप कभी अंधकार लौट कर आता है? लौट कर आता है कभी किसी का मन संसार में उस घनश्याम के मुख कमल का दर्शन करके? भँवर में पड़ कर कोई वस्तु लौटी है कभी?

एक दिन श्री महाराज जी पत्र लिख रहे थे कि एक बंगाली भिक्षुक आ खड़ा हुआ और सहज ही बोला–''ठाकुर! आमा के एकटा पोस्टकार्ड दावना।'' (मुझे एक पोस्ट कार्ड दीजिये) महाराज जी ने पूछा–''पोस्टकार्ड का आप करेंगे क्या?''

भिक्षुक ने कहा–''आपना के आमि सत्य कथा बोलबो कि मिथ्या कथा बोलबो ?''

''मैं आपको सत्य कहूँ कि झूँठ''?

श्री महाराज बोले–''झूठ क्यों प्रभु! सत्य ही कहिये।''

''आमि भिक्षारी मानुष, अमार मने एक इकय विश्वास आछे जे आपनी वारुन करबैना।''

''मुझे विश्वास है कि आप मना नहीं करेंगे, इसी से माँग लिया। मैं नहीं जानता कि मैं इसका क्या करूँगा।'' भिखारी ने अपनी माँगने की आदत के कारण अपने किसी काम न आने वाली वस्तु माँग ली। उसे विश्वास था कि जैसे उसने स्वयं स्वभाववश भिक्षा माँगी है, उसी प्रकार श्री महाराज भी स्वभावतः उदार होने के कारण मना नहीं करेंगे।

श्री महाराज जी ने पोस्टकार्ड दे दिया।

दोनों ने अपने अपने स्वभाव का परिचय दिया।

संगीताचार्य रामदास जी–एक दिन संग्रह–परिग्रह रहित एक अंतर्मुखी युवा साधु आये। श्रीमहाराज ने अपना सामीप्य प्रदान कर उनके ज्ञान वैराग्य को सत्संग द्वारा पोषित किया और पत्र लिखकर उस नवयुवक साधु को हनुमानगढ़ी श्री सरपंच बाबा की सेवा में भेजा। श्रीगुरुदेव ने उन्हें विधिवत भर्ती करके मार्गदर्शन किया। वे संत अभी वर्तमान में ''करुणानिधान भवन ''आयोध्या के महान्त श्री रामदास जी महाराज संगीताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं और गौ, ब्राह्मण, अतिथि, साधु की सेवा कर रहे हैं। गंगासागर में श्रीमहाराज को अनेक अनुभूतियाँ हुई, चमत्कृत करने वाली घटनायें घटीं, कई प्रेरणायें प्राप्त हुईं जिससे सहज प्रकृति का अधिकाधिक मार्जन होता चला गया। उनकी परदु:खकातरता, सहजता, सरलता और सेवाभाव निखर कर उनको अपूर्वता से मंडित कर दिया।

अपनी गंगासागर निवास की अवधि दोनों बार छः-छः महीना पूरी कर वे अयोध्या लौट आये।

अवध में जीर्णोद्धार - श्री महाराज जी सामाजिक हो या धार्मिक अपने द्वारा किये गये कार्यों में कभी अपना नाम प्रकट नहीं होने देते थे। प्रथम तो ऐसे कार्यों में नाम जुड़ने ही नहीं देते थे, यदि कहीं कदाचित् प्रकट हो ही जाता तो उस कार्य का श्रेय अन्य किसी भद्र पुरूष को प्रदान कर देते थे। लोक प्रसिद्धि से ये सदा दूर ही रहते।

इनके द्वारा किये गये अनेक ज्ञात अज्ञात कार्यों में से एक अयोध्या के दर्शनीय स्थलों को ढूँढकर वहां शिलालेख स्थापित करवाना भी है।

श्री रघुनाथ जी के लीला चरित्रों का स्मरण कराने वाले अनेक स्थल हैं अयोध्या में। इन स्थलों का वर्णन रुद्रयामल तंत्र एवं स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड में मुख्यतः प्राप्त होते हैं।

अंग्रेजों के राज्यकाल में बड़ी जगह के तत्कालीन महान्त जी ने सन् 1902 में समय के प्रशासक जे. डब्लू. हाऊस की सहायता ले अवध के अनेक स्थलों के परिचयात्मक शिलापट्ट लगवाये। इसके पचास वर्ष बाद जबकि अनेक शिलापट्ट गिर पड़कर स्थान च्युत हो गये, तीर्थस्थल भी पुराने होकर अपनी पहचान खोने लगे तब यह आवश्यक हो गया कि इन सबका जीर्णोद्धार होकर रुद्रयामल ग्रंथ के अतिरिक्त भी जिन जिन ग्रंथों में इन स्थलों का वर्णन है उनके आधार पर इन्हें चिह्नित कर दिया जाय।

श्रीमहाराज जी की सजग एवं अनुभव पक्व दृष्टि ने इस आवश्यकता को समझा और शासनाधिकरियों से संपर्क कर श्री भगीरथराम ब्रह्मचारी जी को इस ओर प्रेरित किया। जिन स्थलों के शिलापट्ट च्युत हो गये थे उन्हें पुनः उचित स्थान पर स्थापित करवाया और जहाँ नये शिला लेखों की आवश्यकता थी वहाँ शिलापट्ट खुदवा कर लगवाये गये। जहाँ

जिन स्थलों को पहले भी अनछुआ छोड़ दिया गया था– आर्ष ग्रन्थों के आधार पर उनहें खोज कर शिलापट्ट लगवाये गये।

कहीं किसी कुण्ड के विषय में उल्लेख तो मिला किंतु उस स्थल पर कुण्ड का चिन्ह भी प्राप्त नहीं हुआ तो श्री महाराज जी ने संतों को प्रेरणा देकर उस स्थल को खुदवा कर कुण्ड बनवाया। यह सब कार्य सहज सरल न थे, बहुत शोध, अध्ययन और बुद्धिमत्ता की आवश्यकता थी इसमें।

श्री महाराज के अध्यवसाय से ही यह महत् कार्य सम्भव हुआ ओर इसी के आधार पर श्री अवध की पंचकोसी और चौदह कोसी परिक्रमा के मार्ग एवं विश्राम निर्धारित हुए।

इस सारे कार्य को साहित्यिक रूप प्रदान करते हुए श्री महाराज जी ने भगीरथ राम जी ब्रह्मचारी का मार्ग दर्शन करते हुए ''अयोध्या दर्पण'' नामक ग्रंथ का लेखन करवाकर उसे प्रकाशित कराया। यह ग्रंथ श्री अवध के लीलास्थलों के दर्शन चिन्तन में सहायक है।

श्रीहनुमान जी को कथा सुनाना– एक बार श्री महाराज जी के चित्त में स्फुरणा हुई कि नैमिषारण्य में श्री हनुमान जी महाराज को वाल्मीकी रामायण का पाठ सुनाया जाय। रामायण के अनुसार इसी स्थल पर श्रीरघुनाथ जी ने अश्वमेध यज्ञ किया था और यहीं लव–कुश के मुख से रामायण की कथा सुनी थी।

निश्चय के अनुसार श्री विंध्येश्वरी प्रसाद जी और श्री भगीरथराम जी के साथ श्री महाराज जी नैमिष की ओर चल पड़े।

वहाँ पहुँच कर बस्ती से दूर जंगल में गोमती के किनारे एक पीपल के नीचे की भूमि को स्वच्छ करके गाय के गोबर से लीप दिया गया और पाठ आरम्भ करने के लिये प्रधान श्रोता श्री हनुमान जी महाराज का आह्वान किया। ठीक उसी समय उसी पीपल पर से एक स्वर्णिम कपि नीचे उतरा और श्री महाराज के सम्मुख बैठ गया। इस रूप में श्रीहनुमान जी

को देख श्री महाराज जी विह्वल हो गये, नेत्र और गला भर आया। कुछ क्षण इसी अवस्था के कारण बोल नहीं पाये फिर आत्म संवरण कर पाठ आरंभ कर दिया। पाठ पूर्ण होने पर वह कपि उसी पीपल पर चढ़ कर अर्न्तहित हो गया। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ, पाठ आरम्भ होते ही कपि पीपल पर से उतर कर आयाऔर सामने बैठ गया, पाठ श्रवण करके फिर पीपल पर चढ़ कर अतर्धान हो गया। नित्यप्रति ऐसा ही होने लगा। नवाह्न पारायण पारायण के अंतिम दिन भी वह कपि पाठ श्रवण करने लगा। पाठ पूरा होने पर नित्य की तरह पीपल पर चढ़ने के बदले वह श्री महाराज जी की गोद में आकर बैठ गया। कुछ देर गोद में बैठे रहकर वे कपिश्रेष्ठ श्री महराराज के कंधे पर बैठ गये और दोनों हाथ उनके मस्तक पर रख दिये। जब हनुमान जी महराज गोद में बैठे थे तभी श्री महाराज जी भावविभोर हो उठे थे और जब उन्होंने अपने हाथ श्री महाराज के सिर पर रख दिये तो उनकी प्रेम विह्वलता कैसे कही जाय।

कुछ देर कंधे पर बैठे रहकर–अपना आशिर्वाद प्रसाद देकर हनुमान जी छलाँग मार कर पीपल पर चढ़ गये। और अंतर्धान हो गये। इस सम्पूर्ण घटना के वे दोनों ही ब्रह्मचारी साक्षी थे।

पुनः अवध में – श्री सरपंच बाबा भक्तमाल ग्रंथ का नित्य पाठ करते थे। कोई सतसंगी आ बैठते तो उन्हें ग्रंथ में से भक्तों की एक दो कथायें भी सुना देते।

गुरु मुख से भक्त कथायें सुनकर श्री महाराज जी का भक्तमाल के प्रति आकर्षण हुआ। उस समय यह ग्रंथ दुर्लभप्राय था। इन्होंने गुरुदेव की आज्ञा अनुकम्पा से इसे पुनः प्रकाशित कराया। धीरे-धीरे इनके जीवन में भक्तमाल का प्रभाव बढ़ाता गया और ये मानों स्वयं भक्तमाल के स्वरूप ही हो गये। इस ग्रंथ में वर्णित भक्तों के आचरण जैसे इनका आचरण बन गया, उस में लिखे सिद्धान्त इनके जीवन सिद्धान्त हो गये। जो भी इनके सम्पर्क में आया उसे लगा– ''चलते फिरते जीवंत भक्तमाल के दर्शन कर रहा हूँ।''

बीस वर्ष की अवस्था में काशी छोड़ने के पश्चात ये भ्रमणशील साधु रहे। स्थान स्थान पर रुककर संतों का संग-सत्संग और सेवा करते घूमते रहे।

सन् 1953, अर्थात् पन्द्रह वर्ष पश्चात् का समय गोवरधन-वृन्दावन में व्यतीत किया। शास्त्रानुसार पहले यायावर रहकर ''बहुदक'' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और फिर एक स्थान पर रहकर कुटिचक का।

श्री अवध से गोवरधन गुरु सेवा और आज्ञा से ही आना हुआ। इसके पीछे की घटना इस प्रकार है- एक दिन श्री सरपंच बाबा अपना चश्मा उतार कर चिंतित से बैठे थे। श्री महाराज जी जब गुरुदेव को प्रणाम करने आये तो गुरुदेव का उदास मुख देखा। प्रणाम करके विनम्र स्वर में पूछा- ''महाराज जी! उदास कैसे हैं?''

''क्या करोगे पूछ कर? हमारी उदासी कोई दूर नहीं कर सकता। सब डण्वती भगत हैं, कोई आज्ञापालन करना नहीं चाहते।''

''फिर भी उदासी का कारण बताने की कृपा करें।''

''लक्ष्मण मंदिर गोवरधन में जो साधु भेजा था वह भाग करके आ गया है। वहाँ दुष्ट लोग किसी को टिकने नहीं देते। मंदिर में सेवा पूजा भी नहीं होती, स्थान भी टूट फूट कर नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। कोई वहाँ जाना ही नहीं चाहता, क्या करें।'' उदास और तनिक खीजे स्वर में गुरुदेव ने उत्तर दिया- समस्या बतायी।

''सरकार, दास को आज्ञा प्रदान करें।'' श्री महाराज जी ने विनयपूर्वक निवेदन किया।

''अरे वहाँ जाना प्राणों को संकट में डालना है, फिर कोर्ट कचहरी और मुकदमा बाजी का मामला भी है।

''कोई चिंता नहीं गुरुकृपा से सब मंगल होगा।'' श्री महाराज जी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

इनकी बात सुनकर श्री सरपंच बाबा प्रसन्न हो गये, उन्होंने बताया कि –''गोवरधन का लक्ष्मण मंदिर अयोध्या के हनुमान गढ़ी मंदिर की व्यवस्था के अंतर्गत है अत: इसके संचालन का भार भी उन्हीं के ऊपर है। इस मंदिर का निर्माण महान्त रामकिशनदास जी महाराज ने सन् 1725 से 1750 के मध्य कराया था। ये भरतपुर के राजा सूरजमल और उनके पुत्र जवाहर सिंह के गुरु थे। ये अपने इन यशस्वी शिष्यों को धर्म एवं संस्कृति रक्षण की प्रेरणा देते रहते थे। इनके साथ नागा साधुओं की विशाल जमात थी जिसे लेकर ये धर्म रक्षण और ज्ञान-भक्ति के प्रचार प्रसार हेतु समय समय पर देश में विचरण किया करते थे। महान्त रामकिशन दास जी के आदर्श एवं इष्ट देव भगवान श्रीराम के अनुज श्री लक्ष्मण जी महाराज थे। इन्होंने भरतपुर, डीग, कुम्हेर, नगर, परखम, आझई आदि स्थानों पर श्री लक्ष्मण जी के मंदिर बनवाये। इसी प्रकार गोवरधन का लक्ष्मण मंदिर भी बनवाया गया। गोवर्धन- वृन्दावन मार्ग के समीप बाटी गाँव की गढ़ी में भी श्री लक्ष्मण जी और उर्मिला जी के भव्य मंदिर की स्थापना की। सम्भवत: भारत के किसी भी अन्य भाग में इतने लक्ष्मण मंदिर नहीं बने हैं। अस्तु-महान्त श्री रामकिशनदास जी महाराज जब तक धरा पर विराजमान रहे तब तक कोई समस्या उपस्थित नहीं हुई। उनके पश्चात् सन् 1900 के आस पास तक की परम्परा का कोई इतिहास नहीं मिलता, किंतु सन् 1910 के आसपास गोवर्धन के लक्ष्मण मंदिर के महान्त श्री लाड़लीदास जी महाराज थे। उनके पश्चात् उनसे ही सम्बन्धित संत श्री चंचलदास जी को महन्ताई मिली। उस समय लोग इसे चंचलदास जी का अखाड़ा कहते थे। महान्त श्री चंचलदास के समय में ही अयोध्या के श्री सरपंच बाबा के एक शिष्य श्री रघुवरदास जी जो घुमक्कड़ स्वभाव के थे जमात लेकर यहाँ पहुँचे थे। जब वे दूसरी

बार घूमते हुए यहां आये तब तक श्री चंचलदास जी को देहावसान हो चुका था। चंचलदास जी ने बहुत सी जमीन गिरवी रख दी थी, कई दुकानों पर दुकानदारों ने कब्जा कर लिया था। ठाकुर जी की सेवा और आश्रम संचालन के लिये कोई साधु मिल नहीं रहा था।

गोवरधन के कुछ वरिष्ठ लोगों ने श्रीरघुवरदास जी से मंदिर संभालने की प्रार्थना की ''श्री गुरुदेव की आज्ञा बिना मैं इतना बड़ा काम कैसे कर सकता हूँ।'' उन्होंने उत्तर दिया– ''आप मेरे गुरुदेव से निवेदन करें।''

कुछ दिनों बाद जब रघुवरदास जी ने जमात सहित अयोध्या के लिये प्रस्थान किया तो गोवरधन के कुछ गणमान्य लोग उनके साथ अयोध्या गये। वहाँ पहुंच कर उन्होंने गोवरधन के लक्ष्मण मंदिर की स्थिति–परिस्थिति का वर्णन करके उनसे मंदिर–आश्रम संभालने की प्रार्थना की। जिसे उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया। श्री सरपंचबाबा ने गोवरधन आकर अपने शिष्य श्री रघुवर दास जी को विधिवत् वहाँ का महान्त नियुक्त कर दिया। यह सन् 1932 की घटना है।

श्री रघुवरदास जी का शरीर बहुत लम्बा चौड़ा और बलवान था। एक लाख मनुष्यों की भीड़ में भी वे हाथ भर ऊँचे दिखायी देते थे। महान्त बनने के बाद उन्होंने गिरवी रखी जमीन तो पैसा देकर छुड़ा ली किंतु एक स्थान पर टिक कर रहेने का स्वभाव न होने के कारण नाजायज कब्जे न छुड़ा सके। स्थान पर किसी साधु को छोड़ कर वे घूमने निकल जाते। एक बार जब वे हनुमानगढ़ी पर ही थे– प्रातःकाल देह में मालिश करवा कर छत पर टहल रहे थे। उस समय कोहरा बहुत घना था, और छत के आगे सिरे पर मुंडेर नहीं थी। कोहरे के कारण दिखाई नहीं दिया– छत के अंत से जैसे ही पाँव आगे बढ़ाया तीन मंजिल ऊपर से उनकी भारी देह भूमि पर आ गिरी, मस्तक फटने से उनका शरीर छूट गया।

एक बार मैं स्वयं गोवरधन गया तो व्रजवासियों ने यह विशाल शरीर देखकर वहाँ का महान्त बनने का आग्रह किया तब हमने हंसकर कहा–''भाई! रघुवरदास मेरे शिष्य थे। चेला की महन्ती गुरु को कैसे देने की बात कर रहे हो?'' पर व्रजवासी बोले- ''बाबा! यहाँ को महान्त कोई बनेगो तो बस तू ही बनेगो।'' तब हमें स्वीकार करना पड़ा। किंतु क्या कहें हमें भी तो सरयू स्नान, शाम चार बजे कथा सुनाने का नियम और हनुमान गढ़ी की व्यवस्था तथा सरपंच पद का निर्वाह करना है अत: किसी साधु को गोवरधन छोड़ कर हमें अयोध्या आना पड़ता। वहाँ जो भी साधु रहता या यहाँ से भेजते अनधिकार कब्जा जमाने वाले दुकानदार गुण्डों को बुलाकर पिटवा देते और धमकी देते कि-

''यदि यहाँ कोई भी आया तो मार दिया जायेगा।''

अभी भी वहाँ से भागकर साधु यहाँ आगया है''

''श्री चरणों की कृपा से सब मंगल होगा, सरकार चिंता न करें।'' श्री महाराज जी ने निवेदन किया।

सुनकर गुरुवर प्रसन्न-गद्गद् हो गये उन्होंने श्री महाराज जी को महन्ताई देने की बात कही।

''महन्त तो आप ही रहें सरकार! मुझे तो केवल मुख्तारनामा बनवा दें, उसी से काम हो जायेगा।''

मुख्तारनामा लेकर-गुरु आज्ञा सिर पर धारण कर श्री महाराज जी गोवरधन पधारे और एक दो नहीं चालीस मुकदमें लड़े। एक दो तो इलाहाबाद हाईकोई तक खिंचे।

अब गोवरधन इनकी कर्मभूमि बनी, इस अवधि में ये संत सेवी, सफल संचालक, सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता, मौलिक काव्यकर्ता, कुशल संपादक, गोभक्त और

व्यवहारिक-आध्यात्मिक मूल्यों को सतत् गतिशील बनाये रखने वाले समर्पित गुरुभक्त एवं कर्मयोगी के रूप में दिखायी दिये।

गोवरधन में आपका व्यक्तित्व एक संघर्षशील साधु के रूप में उभरा। प्राणिमात्र में भगवद्भाव को अपना आंतरिक भाव सुरक्षित रखते हुए निष्काम कर्म-मार्ग अपनाया और सभी चुनौतियों को स्वीकार कर उनका समाधन किया। अपने आचरण द्वारा यह बताया कि फल की आशा छोड़ अनासक्त हो कर्म करना चाहिये।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

गीता का यह श्लोक उनके जीवन में पूर्णतः प्रतिष्ठित था, फलाशा रहित हो-प्रमाद रहित हो उत्साह और पूरी शक्ति से कर्म करना यही उनके स्वभाव में था।

गोवरधन निवास - गोवरधन पहुँच कर सर्व प्रथम मंदिर की सेवा पूजा व्यवस्थित की। इसके बाद वहाँ के अराजक तत्वों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही आरम्भ की। जिन्होंने मंदिर की संपत्ति पर अवैध अधिकार कर लिया है। अलग अलग समय में दायर किये इन मुकदमों की संख्या चालीस थी। वर्षों तक चले ये मुकदमे। श्री महाराज जी के मन में किसी के प्रति वैर-द्वेष की भावना नहीं थी, प्रतिवादियों के प्रति भी इनके मन में सौहार्द, स्नेह और विश्वास बना रहा। मुकदमे की तारीख (पेशी) के दिन प्रातः जल्दी उठकर बहुत से पराठे बना उन्हें साथ ले मथुरा कचहरी पहुँचते और दोपहर में अवकाश के समय अपने साथ प्रतिवादियों को भी साथ लाया हुआ भोजन प्रसाद पवाते। इससे महाराज जी के मन की निर्वैरता-निर्मलता सिद्ध होती है। कभी इलाहाबाद कोर्ट में पेशी पड़ती, श्री महाराज जी को वहाँ तुलसीदास जी का बड़ा अखाड़ा नामक स्थान पर ठहरने की सुविधा प्राप्त थी पर प्रतिवादियों को तो शहर में पैसा देने पर ही ठहरने का स्थान मिल पाता। उनका कष्ट देख

श्री महाराज जी अपने परिचय के आधार पर अपने साथ ही उन्हें द्वाराचार्यपीठ में ठहरा लेते। इनके निर्मल मन की सहानुभूति से धीरे-धीरे प्रतिवादियों के मन बदलने लगे और अधिकांश मुकदमें ''राजीनामा'' द्वारा ही सुलझ गये। एक दो तो ऐसे मुकदमे थे जिन में प्रतिवादी हार गये किंतु श्री महाराज जी के करुणामय स्वभाव के कारण प्रतिवादी को बिना कोई नुकसान पहुँचाये मंदिर की संपत्ति की रक्षा कर राजीनामा कर लिया। इससे ज्ञात होता है कि यह कोर्ट कचहरी, वाद विवाद और दौड़ भाग केवल मंदिर की संपत्ति की रक्षा और गुरु आज्ञा पालन हेतु ही था। अपने आप में स्वयं तो वे निर्लेप अजातशत्रु ही थे।

आश्रमों और विरक्त संतो की संस्थाओं के निर्माण के दो कारण होते हैं। पहला कारण भजनानंदी अंतर्मुखी संत आश्रम में रहकर निर्विघ्न भजन कर सकें। उन्हें आवास और भोजन के लिये व्यग्र न होना पड़े। दूसरा-सेवा, श्री ठाकुर जी की सेवा, साधु सेवा, गौ सेवा और वेद-शास्त्रों का पठन पाठन। गोवरधन के निर्वाणी अखाड़ा लक्ष्मण मंदिर की वर्षों से चली आती अव्यवस्था के कारण सारी सेवायें समाप्तप्राय हो गयीं थीं।

सहनशीलता-श्री महाराज जी ने आकर सर्वप्रथम ठाकुर जी की सेवा सुव्यस्थित की फिर साधु सेवा की ओर ध्यान दिया। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई थी आश्रम का अर्थ संकट। आश्रम की दुकानों का किराया चार आना, आठ आना, एक दो रुपया और अधिक से अधिक तीन रूपया मासिक था। मुदकमों में भी पैसा लगना ही था, इस विषय में श्री महाराज जी ने अयोध्या जाकर श्री सरपंच बाबा के सम्मुख कई सुझाव पेश किये। इसके अनुसार खाली जमीन को दुकानें बनाने के लिये पट्टे पर उठा दी गयी, और परिसर के बाहर की ओर बनी हवेली के किरायेदारों के साथ निश्चित लम्बे समय के लिये नये अनुबंध करके किराया बढ़ा दिया गया। इस प्रकार आर्थिक सुधार होने से साधु सेवा का पथ खुल गया।

श्री महाराज जी की आत्मियता पूर्ण सेवा के कारण संतों का आवागमन बना रहने लगा। श्रीगिरिराज जी की परिक्रमा के उद्देश्य से आने वाले संत, श्री अवध से परिचित अपरिचित संत श्री लक्ष्मणमंदिर-आश्रम में आकर ठहरने लगे। श्री महाराज जी की संत सेवा ऊपर ऊपर दिखावे की नहीं थी उसे वे अपने भजन का ही एक अंग मानते थे। आश्रम में देह से दुबले पतले और स्वभाव से रूखे-झगड़ालू एक संत रहते थे, उनकी किसी से बनती नहीं थी। एक बार हनुमान गढ़ी अयोध्या से एक नागा संत आश्रम में आये, ये उन दुबले पतले संत से भी अधिक क्रोधी थे। किसी बात पर नागाजी उन कृशकाय साधु पर नाराज हो गये। दोनों में विवाद बढ़ गया और नागा संत ने लाठी का भरपूर वार उन पतले संत पर कर दिया, वह लाठी उनको लगती तो निश्चित ही उनका जय जय सीताराम हो जाता पर तुरंत श्री महाराज जी उन दोनों के बीच में आ गये। लाठी इनके माथे पर लगी और सिर फट गया, और रक्त बहने लगा। सहज शाँत स्वर में मुस्करा कर बोले-''नागाजी! अब भी आपका क्रोध शाँत न हुआ हो तो एक दो प्रहार और कर दीजिये मैं सह लूँगा किंतु ये दुर्बल-देह-महात्मा तो आपकी लाठी का एक भी प्रहार सह नहीं पायेंगे ये तो तुरंत ही धाम प्रयाण कर जायेंगे।''

इन्हें घायल देख नागा महाराज का क्रोध जाने किधर चला गया और वे पश्चाताप करने लगे, इधर वे दुबले महात्मा भी दु:ख से अधीर हो क्षमा याचना करने लगे।

उसी आश्रम में निम्बार्क सम्प्रदाय के बनवारी शरण जी प्रेमी संत रहते थे। श्री महाराज में उनकी बहुत श्रद्धा थी, यह घटना देख उन्हें क्रोध आया और वे लाठी लेकर नागा बाबा की ओर दौड़े, किंतु श्री महाराज जी ने यह कहकर रोक दिया कि -''ये भी तो संत हैं, आप इन पर प्रहार न करें- आपको मेरी शपथ।''

अपने श्रद्धेय की शपथ सुन बनवारी शरण जी विरत हो गये।

बनवारी शरण जी का विरत होना बड़ी बात नहीं थी, बड़ी बात थी श्री महाराज की सहनशीलता, क्षमाशीलता और दयाशीलता। यदि वे चाहते तो इस प्रहार का प्रतिकार कर सकते थे। ये उस अखाड़े के उस समय सर्वेसर्वा थे, इनके पास युवा होने के कारण देहबल भी था और जनबल भी किंतु ये अपनी सहज प्रकृति से जरा भी विचलित नहीं हुए।

यह घटना दोपहर भोजन के समय हुई। भगवद् प्रसाद तैयार था। श्री महाराज जी ने दोनों संतों से प्रसाद पाने का आग्रह किया पर ग्लानि के मारे नागा बाबा प्रसाद पाने को तैयार नहीं हुए। तब श्री महाराज जी ने हँसकर कहा –''बाकी लड़ाई प्रसाद पाने के बाद भी की जा सकती है। यदि आप दोनों प्रसाद नहीं पायेंगे तो अन्य संत भी पंगत के लिये नहीं बैठेंगे।

इसके पश्चात् भी महाराज जी का व्यवहार नागा जी के प्रति सहज सौहार्द का रहा जिससे वे ग्लानि से मुक्त हो जाय। श्री महाराज जी ने अपनी चोट का उपचार करवाया।

कुछ दिनों बाद जब नागा संत अयोध्या जाने लगे तो श्री महाराज जी ने उन्हें अंग-वस्त्र और बारह रू. दक्षिणा भेंट किये- कहा-''नागाजी ! यह आश्रम आपका ही है, जब भी आपकी इच्छा हो फिर आ जाइयेगा।''

बेचारे नागाजी हाथ जोड़ विनम्र स्वर में बोले-''आप धन्य है महाराज जी ! आज के युग में आप जैसे क्षमाशील संत जगत में विरले ही होते हैं। यद्यपि आपका निर्मल चित्त किसी का अपराध नहीं देखता फिर भी मैं अपनी करनी के लिये क्षमा याचना करता हूँ।''

''अरे प्रभु ! आप भी किस करनी की बात करते हैं। क्या आपने मुझको लाठी मारी थी ? क्या आपने मुझ पर प्रहार किया था ? क्या आपके चित्त में कभी मुझ पर प्रहार करने की बात आयी थी ? नहीं, आपने तो स्वप्न में भी ऐसा नहीं सोचा। जो कुछ हुआ उसमें तो

मैं ही निमित्त-कारण हूँ अत: क्षमा याचना भी क्यों? सच मानिये, मेरे मन में तो एक बार भी यह बात नहीं आई कि आपने कोई अपराध किया है। इसलिये कृपाकर प्रसन्न मन से यात्रा कीजिये और जब भी व्रज में आना हो यहीं ठहरिये।''

गोवरधन के पास पाडल गाँव है वहाँ बड़े रूखे, क्रोधी और अक्खड़ स्वभाव के एक महात्मा रहते थे। उन्हें मीठा बोलना जैसे आता ही नहीं था, निरपराध-रास्ते चलते लोगों पर भी वे क्रोध करते डाँटते फटकारते रहते थे। अपनी घोड़ी पर बैठ कर वे जरूरी सामान लेने गोवरधन के बाजार में आते और जाने से पहले कुछ समय लक्ष्मण मंदिर में श्री महाराज जी के साथ गुजारते-विश्राम करते।

एक बार उनके पैर में घाव हो गया, गाँव के लोग तो उनके स्वभाव के कारण वैसे ही समीप नहीं आते थे, सेवा कौन करता? दुखी होकर महान्त जी गोवरधन लक्ष्मणमंदिर चले आये।

महाराज जी ने अपने पास रखकर एक महीने तक उनके घाव की चिकित्सा और सेवा की किंतु-

''जो सींचो गुड़ घीव सों, नीम न मीठी होय''

मिश्री मिला दूध पिलाने पर भी साँप का जहर अपना असर नहीं छोड़ता, खैर टूट जाता है पर झुकता नहीं, और मरकर भी स्वभाव नहीं बदलता।

वे संत इतने रूखे बोलते थे कि कोई उनके समीप खड़ा रहना भी नहीं चाहता किंतु साधुता की प्रतिमूर्त्ति श्री महाराज जी विनम्र भाव से उनकी सारी सेवा करते। वे सदा रूखे और आदेशपूर्ण स्वर में प्रत्येक बात कहते- मेरे वस्त्र धोकर तुरंत सुखाओ'', मुझे ऐसा बिस्तर नहीं चाहिये अच्छा कोमल बिस्तर लगाओ मेरे लिये, ''अरे कहाँ मर गये सब जल्दी आकर मुझे बाहर ले चलो, मेरी घोड़ी को दाना पानी दिया कि नहीं? उसके सामने से घास

कभी खत्म नहीं होना चाहिये, नहीं तो वह भूख के मारे मर जायेगी, मैं किस पर बैठकर वापस जाऊँगा? तुम्हारा क्या है पैर घसीटते कहीं भी चले जाते हो। तुम लोगों की औकात ही क्या है? आदि-आदि।''

दिन भर वे ऐसी और इससे भी अधिक कड़वी बातें बोलते ही रहते। श्रीमहाराज जी सदा ''जी महाराज जी'' कहते हुए सदा तत्पर रहते और दौड़ दौड़ कर उनके हुकुम उठाते रहते।

यह सब देख सुनकर श्री देवकीनंदन कुम्हेरिया बड़े दु:खी हो गये, उन्होंने महाराज से कहा-'' आपके प्रति इन महान्त जी का ऐसा कठोर भाषण-व्यवहार मुझसे सहा नहीं जाता है। यह तो सर्वथा अनुचित है।''

श्री महाराज जी ने हंसते हुए कहा- कुम्हेरिया जी! मैं तो इन महान्त जी की सेवा में साक्षात दुर्वासा ऋषि की सेवा का आनन्द प्राप्त कर रहा हूँ।'' धन्य सहनशीलता।

पं. गया प्रसाद जी- संत दर्शन, उनकी कृपा प्राप्त होना, उनकी सेवा मिलना और महापुरुषों संतों का परस्पर मिलन का दर्शन अपने प्रयत्न से नहीं सम्भव होता, इसमें भगवत्कृपा ही विशेष कारण होती है। साधारण लोगों के लिये यह सब समझ पाना अति कठिन कार्य है।

श्री महाराज जी स्वयं ही विलक्षण महापुरुष थे, इनकी भेंट अनेक महापुरुषों संतों और आध्यात्मिक विभूतियों से होती रहती थी।

व्रजभूमि के भूषण, परम संत-पंडित श्री गया प्रसाद जी मानो साकार वात्सल्य ही थे। उनका जीवन सदाचार, वैराग्य, तितिक्षा, गुरुनिष्ठा और लगन की रंगभूमि रहा। अपने प्राणाधार के प्रेमसिंधु में वे सदा डूबते उतराते रहे। वे आदर्श साधक और भगवत्प्राप्त महापुरुष थे। शास्त्र वर्णित साधक, संत महापुरुष, भगवत्प्राप्त संत के सभी लक्षण उनमें

परिलक्षित होते, वे मानो आध्यात्म की जीवंत पाठशाला थे।

श्रीपंडित जी का जन्म सन् 1893 में उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के कल्याणीपुर गाँव में हुआ। इनका बचपन अनेक आश्चर्यों से मंडित था। इन्होंने पहला शब्द ''राम'' बोला, इनकी बाल क्रीड़ायें भगवन्नाम और भगवत् लीलाओं से युक्त होतीं। प्रारंभिक अक्षारंभ और यज्ञोपवीत के बाद वेद, व्याकरण, पुराण, ज्योतिष आदि विद्या ग्रंथों का विद्यिवत् अध्ययन किया और अपने गुरु गौरीदत्त जी की आज्ञा से विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया। माता-पिता के प्रथम पुत्र होने के कारण परिवार के भरण पोषण का दायित्व इन्हीं के कंधों पर था। माता पिता की सेवा मनोयोगपूर्वक करके मातृदेवो भव, पितृ देवो भव'' इन वैदिक वाक्यों को चरितार्थ किया। परिवार में विपन्नता का साम्राज्य होने पर और ब्राह्मण कुल का जन्म होने पर भी दान ग्रहण नहीं करते थे। सत्य, सदाचार और आहार शुद्धि इनके जीवन के भूषण थे।

अहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। छान्दों 07/26/25

अहारशुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्धि से निरन्तर भगवत्स्मृति होती है। भगवत्स्मृति से हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

छान्दोग्य उपनिषद की ये सूक्तियाँ इनके जीवन की व्यवहारिक व्याख्या सी लगती हैं।

गंगा किनारे उनकी भेंट एक बार श्री पूर्णानन्द तीर्थ (श्रीउड़िया बाबा) महाराज से हुई। उन्हें मन ही मन अपना गुरु मान लिया। इनके लिये गुरु और गोविन्द में अन्तर नहीं था।

एक बार पूज्य श्री उड़िया बाबा संतों के साथ यमुना स्नान करने गये पंडित जी बाबा के वस्त्र लिये तट पर खड़े रहे। बाबा संतों के साथ स्नान कर रहे थे कि पंडित जी को सखाओं के साथ स्नान-जलक्रीड़ा करते श्रीकृष्ण के दर्शन हुए।

हाथरस में वृन्दावन से आयी रास मण्डली का रासलीला दर्शन के लिये श्री पं. महाराज पधारे। रास के बाल कृष्ण स्वरूप ने श्री पंडित जी पर एक फूल फेंका, यह फूल नहीं ठाकुर जी की साक्षात कृपा ही थी, उसे पाकर पं. जी भाव विह्वल हो गये उनके हृदय में बालकृष्ण की छवि सदा के लिये अंकित हो गयी।

धीरे-धीरे सांसारिक कार्यों, सम्बन्धों से उपरति होती चली गयी अंतर का प्रेम समुद्र लबालब भरकर उफन ने लगा- जो भी आता स्नान होकर ही लौटता।

श्रीरासबिहारी ठाकुर से सदा संयोग सम्भव नहीं था अतः 14 वर्ष की कच्ची वय के पुत्र और 3 वर्ष की पुत्री शांती सहित गृह-परिजन त्याग कर विरक्त वेश धारण कर सदा के लिये गोवरधन आ गये।

श्री गिरिराज तरहटी में निवास करते हुए पंडित जी भगवद्भजन में निमग्न हो गये। फूल फेंक कर उनके चित्त पर बालकृष्ण ने पूर्णतया अधिकार कर लिया था। मन की सारी आसक्तियों के बंधन पहले ही कट चुके थे अतः उनके वात्सल्य भावाब्धि में जो उत्ताल लीला तंरगे उठती उन्हीं पर उनके मन प्राण झूलते रहते।

उनकी त्याग पूर्ण रहनी-करनी देख बड़े-बड़े संत सराहना करते।

सन् 1953 में श्री महाराज जी गोवरधन लक्ष्मण मंदिर में पधारे, इनके चौदह वर्ष पूर्व से ही श्री पंडित जी महाराज गोवरधन में वास कर रहे थे। श्री महाराज जी के मन में पंडित जी के प्रति अतिशय आदर का भाव था इसी प्रकार श्री पंडित जी का भी श्रीमहाराज जी के प्रति गूढ़ स्नेह-सम्मान का भाव था।

एक बार किसी ने पंडित जी से पूछा–''भगवत्प्राप्त महापुरुष के लक्षण क्या है?''

पंडित जी का उत्तर था –'' जो सर्वथा अमानी है– जिसकी रहनी भीतर बाहर से सदा एक सी रहती है वह भगवत्प्राप्त महापुरुष है।''

पूछने वाले ने कहा– ''ये दोनों लक्षण तो आप में ही दिखायी देते हैं।''

पंडित जी ने दैन्यवश इस बात को स्वीकार नहीं किया, तब उस व्यक्ति ने कहा–''आज के जमाने में ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नजर नहीं आता।''

पंडित जी बोले–''नजर क्यों नहीं आता। यहीं, गोवरधन में ही भक्तमाली श्री गणेशदास जी महाराज हैं जो पूर्णत: अमानी हैं और उनकी रहनी भी सदा एक सी है।''

एक अन्य अवसर पर पंडित जी ने श्री महाराज जी के स्वभाव का परिचय दो तीन वाक्यों में इस प्रकार दिया –''काम ठोस है, दिखावा नहीं'', ''दरबार सच्चा है।''

एक दिन सत्संग के बीच पंडित जी ने गीता वाटिका गोरखपुर के रस निमग्न संत राधा बाबा की चर्चा की –''राधा बाबा अपने सिद्ध स्वरूप से श्रीराधाकृष्ण की अंतरंग लीलाओं के केवल दर्शन ही नहीं करते उनमें प्रवेश करके उन लीलाओं में भाग भी लेते हैं।''

सुनकर श्री महाराज जी की इन भक्ति जगत की महान विभूति के दर्शन की इच्छा हुई। कुछ समय पश्चात अकेले ही गोरखपुर के लिये चल पड़े।

गीतावाटिका पहुँचे तब तक दोपहर हो आयी थी। इस अपरिचित स्थान में किससे कैसे पूछें? एक व्यक्ति से बाबा के दर्शन की बात कही तो ज्ञात हुआ–''इस समय दर्शन सम्भव नहीं क्योंकि यह बाबा के भिक्षा ग्रहण करने का समय है।''

श्री महाराज जी गीतावाटिका के द्वार पर ही विराज गये।

हमारा भारत देश यों ही ''जगद्गुरु'' नहीं कहलाता, इसे जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित करते हैं ये सिद्ध महापुरुष, जिनके प्रेम पूर्ण हृदय में प्रियाप्रियतम निरंतर क्रीड़ा करते रहते हैं अथवा जिनका हृदय ज्ञान की ज्योति से सदा आलोकित रहता है।

श्री महाराज जी का आगमन बाबा से कैसे छिपा रह सकता था। बाबा अपनी कुटिया से चलकर स्वयं ही गीता वाटिका के द्वार पर पहुँच गये। यह नितान्त अप्रत्याशित घटना थी कि बाबा इस समय और अकेले गीतावाटिका के द्वार पर उपस्थित हों। किंतु महापुरुषों का मिलन भी तो साधारण घटना नहीं होती। इसका निर्धारण इस लोक से नहीं ''उस'' लोक से होता है, फिर वहाँ से सम्बन्धित सिद्ध महापुरुष इसे न जान पायें यह कैसे संभव है।

हम जैसे अति साधारण लोग इतनी गूढ़ बात कैसे समझ सकते हैं, भला पंसारी की दुकान पर भी कभी गजमुक्ता मिला करते हैं? शफरी कभी सागर की थाह ले पाती है? अथवा नन्हीं तितली अपने कोमल गात-चित्रित पंखों द्वारा गगन को नाप पाती है? वह तो जौहरी, तिमिङ्गल (व्हेल) और गरुड़ द्वारा ही सम्भव होता है।

बाबा श्री महाराज जी को लेकर अपनी कुटिया में पधारे, उन्हें प्रसाद पवाया और कुछ देर बातचीत करके सस्नेह विदा किया। श्री महाराज जी गोवरधन लौट आये।

महापुरुष मुँह से बोलकर भले आपस में बातचीत न करें- मौन में ही उनकी बात हो जाती है।

हमारे जैसे निम्न धरातल के लोग सोचते हैं-''जब कुछ बात करनी ही नहीं थी तो ये लोग मिले ही क्यों? आये ही क्यों?

समानान्तर महापुरुषों की ही बात नहीं है यह हम जैसे अपदार्थ भी किसी महापुरुष के चरणों के समीप चुपचाप जा बैठें- भले वे संत कुछ न बोलें, कुछ न बोलें हम भी, पर

उनकी उपस्थिति मात्र से हमारे हृदय की संशय ग्रंथियाँ छिन्न होने लगती हैं।

श्रीराधेश्याम बाबा– गोवरधन में उन दिनों एक और महापुरुष निवास करते थे। श्री राधेश्याम जी झारखड़ी वाले।'' इनका नाम सीताराम दास था और ये रामानंदी थे। बाबा भरतपुर के सिनसिनी गाँव के समीप वन की झाड़ियों में खड़े होकर भजन किया करते थे। छप्पन वर्ष तक इन्होंने वन में रहकर साधना की। इनकी भजन रीति देखकर आश्चर्य होता है– कलिसंतरणोपनिषद के महामंत्र –

''हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

में सोलह नाम हैं, अधिकांशतः साधक एक बार मंत्र बोल कर सोलह की गिनती रखते हैं किंतु बाबा सीताराम जी एक मंत्र को एक ही मानते थे। इस प्रकार गणना करते हुए इन्होंने एक अरब जप किया। यदि प्रचलित रीति की गणना करें तो उन्होंने सोलह अरब जप किये। वस्त्र के नाम पर देह पर एक कौपीन मात्र और अहार के नाम पर एक दोना छाछ और पचास ग्राम गुड़ बस। इसी प्रकार छप्पन वर्ष गुज़ारे।

साधना सिद्ध होने पर इन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी के दर्शन हुए जिन्हें ये गुरु मानते थे। श्री हनुमान जी ने दर्शन देकर इन्हें अपनी भुजा पर बैठा कर चित्रकूट धाम और कामद्गिरि के दर्शन कराये। हनुमद्दर्शन के पश्चात् अपने आराध्य श्रीसीताराम जी के दर्शन के लिये इनके प्राण व्याकुल हो उठे– बाबा वृन्दावन आये और सेवाकुंज के सघन लता–पता में छिपकर बैठ गये। रात को इन्हें श्री राधाकृष्ण के दिव्य दर्शन प्राप्त हुए, श्री किशोरी जी ने सखियों सहित समीप आकर कहा –''**बाबा तू अब राधे श्याम ह्वै जा।**'' तब से बाबा राधेश्याम कहलाने लगे।

बाबा ने उनके अमल धवल चरणों पर मस्तक रखा और करूणामयी किशोरी जी ने कृपापूर्वक अपना करकमल उनके सिर पर पधरा कर जीवन–जन्म धन्य कर दिया।

अपने पिछले समय में बाबा मानसी गंगा के तट पर रहने लगे, वहाँ फूस की झोपड़ी में रहते हुए साधु-सेवा करते। गरीब लोग तो आकर बाबा से अन्न ले जाते- खा भी जाते किन्तु ऐसे लोग भी थे जो अपनी मर्यादा रेखा लाँघ कर सबके सामने नहीं आ पाते थे। वे रात के अंधेरे में आकर बाबा की कुटिया का द्वार खटखटाते अथवा धीमे स्वर में पुकारते-बाबा तुरन्त ही द्वार खोल कोई न जान पाये ऐसे चुपचाप रोटियाँ दे देते।

जब श्री महाराज जी गोवरधन आये तब बाबा बहुत वृद्ध हो चुके थे। श्री महाराज जी का 1953 में गोवरधन आना हुआ और बाबा सन् 1959 तक धराधाम पर विराजित रहे। इस प्रकार महाराज जी को छः वर्ष तक बाबा का दर्शन संग प्राप्त होता रहा। ''अनुभव प्रकाश'' नाम का बाबा का स्वरचित ग्रंथ भी है।

राधेश्याम बाबा का आश्रम ''कनक भवन'' उनके देहावसान होने के पश्चात् अराजक लोगों के हाथ में पड़ गया और वहाँ की व्यवस्था बिगड़ गयी। सूचना मिलते ही श्रीमहाराज जी ने आवश्यक कार्यवाही की। इसमें बहुत धन भी व्यय करना पड़ा पर श्री महाराज जी के प्रयत्न से व्यवस्था का सुधार हुआ और यह स्थान किसी प्रकार बच गया।

असहाय पर कृपा- श्री महाराज जी के समीप जो भी समस्याग्रस्त व्यक्ति आता, महाराज जी उसका उचित समाधान अवश्य ही कर दिया करते थे।

राजस्थान का एक क्षत्रिय युवक ट्रक चलाता था, उसके हाथ से एक बार दुर्घटना (एक्सीडेंट) हुई और उस में कोई मनुष्य मर गया। दण्ड के भय से वह साधुवेष में तीर्थ भ्रमण करने लगा। भूख लगने पर वह जब साधुओं के आश्रम और भंडारों में पहुँचता तो साधु उससे ''सम्प्रदाय'' ''गुरुद्वारा'' आदि के विषय में पूछते वह जाने तो बताये। ठीक-ठीक उत्तर न मिलने पर वहाँ से भगा दिया जाता। उसने दु:खी होकर सोचा-''क्यों न किसी से दीक्षा ले लूँ।'' पर किससे? निश्चय न कर पाने के कारण वह गिरिराज की परिक्रमा करने

लगा और व्रजवासियों के घरों से भिक्षा माँग कर खा लेता। बारहवीं परिक्रमा चल रही थी- विश्राम के लिये दोपहर में किसी वृक्ष के नीचे बैठ गया। थकान और गर्मी के प्रभाव से झपकी आ गयी, स्वप्न में देवर्षि नारद ने कहा-''यहाँ के लक्ष्मण मंदिर में रामानंद सम्प्रदाय के सिद्ध संत गणेशदास जी हैं, उन्हीं से दीक्षा प्राप्त करो। तुम्हारी परिक्रमा पूरी हो गयी, उनसे कुछ छिपाना नहीं , जीवन में जो कुछ अच्छा बुरा घटा है उन्हें सब बता देना।''

वह व्यक्ति लक्ष्मण मंदिर आया और श्री महाराज जी से ही पूछा -''गणेशदास जी महाराज कौन हैं?'' महाराज जी ने कहा -''मैं ही गणेशदास हूँ।''

उसने चरण पकड़ कर सब कुछ सुना दिया। श्री महाराज जी ने दीक्षा दी किंतु विरक्त वेश नहीं दिया कहा-''तुम गृहस्थ हो पत्नी और बच्चों के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करो-घर चले जाओ।''

''घर जाने पर तो मैं पकड़ा जाऊंगा।'' तब यही रहो, जीविका का कोई प्रबन्ध हो जाने पर उन सबको इधर ही बुला लेना। इनका नाम रखा सीताराम दास।

थोड़े समय पश्चात इन्हें एक मंदिर की सेवा पूजा मिल गयी और परिवार भी आ गया। इस प्रकार श्री महाराज जी की कृपा से एक विमुख व्यक्ति को शरणागति ही नहीं धाम का वास भी मिला। उनके संत्रस्त प्राणों को शांति, सुख और लोक परलोक का आधार मिला।

गोवरधन वास के समय श्री महाराज श्री के नेतृत्व में धार्मिक एवं सास्कृतिक कार्यो का आरम्भ हुआ।

गीता जयन्ती समारोह भी इनमें से एक है। अपने अनन्य सहयोगी कवि श्री देवकीनंदन जी कुम्हेरिया के अनुरोध से गोवरधन में पहली बार गीता जयन्ती उत्सव प्रारंभ किया।

इस उत्सव में प्रातः हवन, सस्वर गीतापाठ, अपराह्न में शोभायात्रा का आयोजन होता। सन्ध्या को काव्य गोष्ठी और प्रवचन होते।

इस प्रकार महाराज जी के प्रयत्न से गीता जयन्ती प्रतिवर्ष मनाई जाने लगी और हर बार इसमें कुछ नवीनता भव्यता का समावेश होता। आगे इसमें भारत के प्रसिद्ध वीणावादक स्वामी पार्वतीकर जैसे महान संगीतज्ञ ने भाग लिया। पुष्टिमार्ग के प्रथम पीठाधीश्वर गोस्वामी रणछोड़ाचार्य जी (प्रथमेश जी) आदि आचार्य मनीषी भिन्न भिन्न समय पर इस उत्सव में सम्मलित हुए। श्री महाराज जी द्वारा प्रारंभ किया गया यह गीता जयन्ती समारोह अब भी गोवरधन में मनाया जाता है।

देशभक्ति– देशभक्ति और हिन्दुत्व की समर्थक ''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ'' नामक संस्था के प्रति श्री महाराज जी के मन में बहुत विश्वासपूर्ण स्थान था। वे संघ के उत्सवों में भाग लेकर दक्षिणा के समय अर्थ सहित नारियल और यज्ञोपवीत भेंट करते। संघ के मुख्य मुख्य अधिकारी भी श्री महाराज जी के पास विचार विनिमय के लिये आया करते थे। कई बार विशेष कारणों से संघ की प्रभात एवं सायंकालीन शाखायें निर्वाणी अखाड़े के आंगन में लगा करतीं थी। संघ के सरसंघ चालक श्री माधवराव गोलवलकर से उनका आत्मिक सम्बन्ध था।

जब देश में भारतीय जनसंघ नामक राजनीतिक पार्टी का गठन हुआ तो समाज के शिक्षित देशभक्त और चरित्रवान लोग सहज ही इससे जुड़ गये। धार्मिक लोगों का समर्थन भी इस पार्टी को मिला। गोवर्धन में जनसंघ सन् 1953 में गठित हुआ। श्री महाराज जी की राजनीति में रुचि न होते हुए भी जन समाज के आग्रह से कई वर्षों तक जनसंघ के अध्यक्ष पद पर रहे। इस प्रकार संघ और जनसंघ से जुड़ना श्री महाराज जी की देशभक्ति का परिचायक है।

सन् 1955 के आसपास की बात है, कुछ सैनिक कुसुमसरोवर के समीप वन में शिकार करने लगे। साधु संतों ने उन्हें मना किया किंतु उद्दण्डता ही जिनका भूषण है- स्वभाव है, वे कैसे मानेंगे?

वे शस्त्र दिखा कर इन्हें भयभीत कर देते। संघ के जाने माने स्वयंसेवक श्रीदेवकीनंदन कुम्हेरिया जी ने कई स्वयं सेवकों को साथ ले उन्हें रोकने की योजना बनायी। एक ओर स्वयंसेवकों का जोश और दूसरी ओर सशस्त्र सैनिक, ऐसे में यदि बुद्धि कौशल का साथ न हो तो जोश होश खो बैठता है। न जाने कितने अनर्थों के जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुए हैं जिसकी साक्षी इतिहास देता है। श्री महाराज जी ने अपनी दूरदर्शिता से स्वयं सेवकों का इस तरह मार्ग दर्शन किया कि सैनिक डर कर भाग निकले और वन्य जीवों की रक्षा हो गयी।

श्री महाराज जी की सजग दृष्टि पुराने मंदिर- आश्रम कहीं भूमाफिया के हाथों में न चले जायँ- यह देखा करती थी। इस विषय में वे सदैव सजग सचेष्ट रहते थे। उनका कहना था- मन्दिर, मठ, आश्रम बनाना अच्छा काम है, किंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम है पुरातन मंदिरो आश्रमों की देखभाल करना, सुरक्षा और जीर्णोद्धार करना।

केवल गोवर्धन और उसके आसपास ही नहीं सुदूर राजस्थान के मंदिरों की सुरक्षा के भी प्रशंसनीय प्रयत्न श्री महाराज जी ने किये। ऐसे कई मंदिर आश्रम उद्दण्ड अराजक तत्वों के हाथों में जाने से बचा कर उनकी सुरक्षा व्यवस्था की जो किसी कुशल संचालक के अभाव में घोर संकट में थे।

दौसा के पास एक प्राचीन मंदिर के महान्त की मृत्यु के बाद वहाँ की चल अचल सम्पति को असामाजिक व्यक्तियों ने हथिया लेना चाहा। खबर मिलते ही श्री महाराज जी ने संतों को भेजकर वहाँ एक योग्य साधु को पदासीन कर उस स्थान की रक्षा की।

भरतपुर के कामा पहाड़ी क्षेत्र में स्थित एक प्राचीन मंदिर के बूढ़े महान्त का देहावसान हो गया। ठाकुर जी की सेवा पूजा करने वाला कोई न रहा। चारों ओर मेवों (मुसलमानों) के गांव थे। मंदिर की अपनी स्थाई सम्पति थी। काफी बड़ा वन प्रान्त और बहुत सी भूमि थी। महान्त के मरते ही लोगों ने मंदिर की चहार दिवारी तोड़ना आरम्भ कर दिया था और उस सारी भू सम्पदा को हथियाने का षडयन्त्र आरम्भ हो गया। श्री महाराज जी ने अपने एक विश्वास पात्र साधु को भेजकर ठाकुर जी की सेवा पूजा एवं सम्पत्ति की सुरक्षा करवायी।

श्री हरेराम बाबा–सन् 1955 या 56 के आस पास गोवरधन के परिक्रमा मार्ग में कटीली झाड़ियों के बीच पड़े एक संत, महाराज जी को दिखाई पड़े। संत उस समय भाव मग्न दशा में थे। कुछ समय बाद उन्हें होश आया तो वे बड़ी जोर से ''हरे राम'' कहते हुए उछल कर खड़े हो गये और महामंत्र का कीर्त्तन करते हुए नाचने लगे। उस समय उनकी स्थिति ऐसी थी कि महाराज जी के प्रयत्न करने पर भी वे पैरों चलकर लक्ष्मण मंदिर उनके साथ नहीं जा सकते थे। कुछ लोगों की सहायता से इन्हें लक्ष्मण मंदिर लाया गया और तब से ही सख्यभाव होते हुए भी हृदय से दोनों परस्पर अत्यन्त आदर करते थे।

इन संत का नाम रामदास जी था पर ''हरे राम बाबा' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। ये सन् 1994 तक धरा पर विद्यमान रहे। इन चालीस सालों में जहाँ तक हो सका दोनों साथ ही रहे। कभी-कभी दोनों ही भिन्न दिशाओं में तीर्थ यात्रा पर चल देते, किंतु हरेराम बाबा का आसन श्री महाराज जी के समीप आश्रम में ही रहता और वे घूमफिर कर महाराज जी के पास लौट आते।

हरे राम बाबा का सारा जीवन आश्चर्य जनक घटनाओं से भरा है। इनके जन्म से लेकर धाम गमन तक की उनकी जीवन यात्रा जैसे किसी संत के अंतिम जन्म की पावन

कथा है। जिसे कह सुनकर ''अपवित्रं पवित्रो वा'' अपवित्र भी पवित्र हो जाते हैं।

बड़ौदा के एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हरे राम बाबा का जन्म हुआ। घर की वार्षिक आय बीस लाख रुपये होने से प्रत्येक सुख सुविधा उपलब्ध थी। हाथी घोड़ों, नौकर, चाकर, विक्टोरिया कार जो उस समय अंग्रेज ऑफीसर या अत्यधिक समृद्धशाली व्यक्तियों को ही नसीब थी, इनके यहाँ थी। ऐसे भरे पूरे घर की एकमात्र संतान होने से बड़े लाड़ दुलार से इनका लालन पालन हुआ।

पिता का नाम वंशीधर जी एवं माँ का नाम हरदेवी थी। हरेराम बाबा का नाम रामजी लाल रखा गया था।

बालक रामजीलाल स्वभाव से ही अतिशय उदार, दयावान और पर दुःखकातर थे।

घर में ठाकुर जी का मंदिर था और कथा सत्संग नित्य होते रहते इसके प्रभाव से इनका कोमल मन किसी का भी दुःख सह नहीं पाता। सेवकों में से किसी के भी कष्ट निवारण के लिये ये बड़ी से बड़ी धनराशि सहज ही खर्च कर दिया करते। कभी कभी इसी कारण इन्हें पिता की नाराजगी भी सहनी पड़ती।

जीवन में घटी एक आश्चर्य जनित घटना ने इन्हें नाम प्रेमी बना दिया है- ये अपने बगीचे में घूम रहे थे, उसी समय एक संत इनके समीप आये। उन्होंने कहा-'' आज हनुमान जी का दिन है, हमें हनुमान जी को सिंदूर का चोला चढ़ाना है। बेटा! यदि तुम सिंदूर, तेल, फुलेल, अगरबत्ती, पेड़ा, प्रसाद आदि की व्यवस्था कर दो तो तुम्हारा मंगल होगा।'' इस संत का नाम सीताराम दास जी था।

सारी सामग्री जुटा कर रामजी लाल अपने निजी वाहन से उन सन्त के साथ चल दिये। थोड़ी दूर जाकर उन्होंने सड़क छोड़ दी और कच्चे रास्ते पर चलकर जंगल के बीच एकान्त निर्जन स्थान पर पहुँचे। वहाँ एक हनुमान जी की मूर्ति दिखायी दी, उससे थोड़ी दूर

कुंआ था। दोनों कुंयें के पास पहुँचे रस्सी बाल्टी रखी थी दोनों ने स्नान किया फिर बाल्टी माँज कर पानी भरा और हनुमान जी के पास आकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की भोग लगाया। इसके बाद वे संत कीर्त्तन करने लगे-

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

उस निरव निर्जन वन के शाँत वातावरण में सुमधुर स्वर में तन्मय होकर किये गये कीर्त्तन के मधुर बोलों ने बालक रामजीलाल के निर्मल हृदय में अद्‌भुत आनंद का संचार कर दिया शुद्ध अन्तःकरण की उर्वर भूमि में जैसे नाम प्रेम के बीज का वपन हो गया। संत की तन्मय अवस्था देख वे आनन्द विह्वल हो देशकाल और अपने आपको भूल गये। उसी समय श्री हनुमान जी उनके सम्मुख प्रकट हो गये, उनके-हनुमान जी के दिव्य-भव्य स्वरूप को आनन्द से भर चकित नेत्र देखते रह गये। हनुमान जी ने वर माँगने को कहा तो रामजीलाल ने सहज बालस्वभाव वश कहा-''मुझे भूख लगी है।''

हनुमान जी ने तुरन्त ही जगन्नाथ जी का प्रसाद उपस्थित कर पाने को कहा।

इनके भोलेपन पर रीझ कर हनुमान जी ने भक्ति का वरदान प्रदान किया और फिर अंतर्धान हो गये।

इस घटना के पश्चात् रामजीलाल अधिकांश समय कीर्तन करने लगे।

हरे राम बाबा जातिस्मर महापुरूष थे। इन्हें अपने अनेक पूर्व जन्मों की याद थी। बचपन में ये कहा करते -''मैं पूर्व जन्म में राजा था। शिकार खेलते समय मेरे ही भाई ने मुझे मार डाला। परिवार के लोग इनकी बात पर आश्चर्य करते और इन्हें इनके बताये राजमहल में ले गये, इन्होंने वहाँ अपनी विधवा रानी को पहचान लिया और वहाँ के लोगों

को विश्वास दिलाने के लिये वहाँ गड़ा हुआ खजाना बताया। प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर पूर्वजन्म और इस जन्म के परिजन आश्चर्याभिभूत हो उठे।

रामजीलाल के वयस्क होने पर पिता विवाह के लिये प्रयत्नशील हुए किंतु रामजीलाल के पद तो किसी अन्य पथ की ओर मुड़ चुके थे, वे विवाह के लिये सहमत नहीं हुए।

अपने इकलौते पुत्र के विचार सुन पिता चिंतित-दुखित रहने लगे। पिता के दुःख का कारण जानकर वे विवाह के लिये प्रस्तुत हो गये, सोचा-एक पुत्र होने पर विरक्तों का पथ पकड़ लूँगा।

विवाह हुआ और फिर पुत्र भी हुआ। रामजीलाल जैसे इसी अवसर की प्रतिक्षा में थे। पिता का विपुल वैभव, सुमुखी पत्नी, सुन्दर सुकुमार शिशु पुत्र, और सामाजिक प्रतिष्ठा भी उनके पैरों की बेड़ी नहीं बन सकी। वे सर्वथा निर्लेप होकर घर में रहते। जब बालक चार वर्ष का हुआ तब जो घटना घटी उसने इनके निर्गमन का पथ प्रशस्त कर दिया।

पिता वंशीधर जी ने काफी बड़ी धनराशि किसी व्यक्ति को उधार दी। वह व्यक्ति यद्यपि ईमानदार था- इज्जतदार भी था किंतु किसी कारणवश वह समय पर धन लौटा नहीं सका। वंशीधर जी लेन दने के मामले में बड़े सटीक और कठोर नियमनिष्ट थे। वे कुछ दिन तो उगाही के लिये आदमी भेजते रहे किंतु जब पैसा नहीं मिला तो वे उसे बेईमान सिद्ध करने पर तुल गये। वह व्यक्ति अपनी बदनामी के भय से रामजी लाल के पास आया और अपनी कठिनाई का वर्णन किया। रामजीलाल ने उसे आश्वासन देते हुए कहा-"तुम चिंता मत करो, मैं पिता जी से कहकर तकादा रुकवा दूँगा। अपने पास पैसा आने पर पिताजी को दे देना। हम अभी के अभी तो उस पैसे के बिना अटक कर नहीं बैठे हैं।"

रामजीलाल ने उस व्यक्ति की ईमानदारी की बात करके पिता जी से प्रार्थना की कि-"अपना पैसा डूबेगा नहीं। समय लगेगा पर पैसा आ जायेगा।"

वंशीधर जी नरम होने के बदले गरम होकर बोले–''तुम्हें बीच में पड़ने की जरूरत नहीं है। ऐसा ही ईमानदार होता तो मेरे पास आता तुम्हारे पास क्यों आया? समझा होगा–''ना समझ बालक है इसे समझा लूँगा तो अपने एकमात्र पुत्र के दबाव पर पिता भी मान ही जायेगा।'' अब तो मैं तनिक भी नहीं ठहरूँगा, तुरंत पैसा वसूल करके रहूँगा।''

उस कर्जदार व्यक्ति को स्थिति का पता लगा तो अपनी प्रतिष्ठा बचाने का एक ही उपाय सुझा उसे विष खाकर आत्महत्या करले।

रामजीलाल उसके दु:ख से बहुत दु:खी थे। उनका उदास मुख देखकर पत्नी ने कारण पूछा तो उन्होंने सारी बात कह सुनायी। उस सती ने तुरंत अपने पीहर से मिले आभूषण लाकर पति के हाथ में सौंप दिये। रामजी लाल ने वे आभूषण बेचकर पैसा उस कर्जदार को दे दिया कि वह पिता के ऋण से मुक्त हो जाय। उस व्यक्ति ने तुरंत वैसा ही किया।

वंशीधर जी को धन पाकर जहाँ खुशी हुई वहीं आश्चर्य भी हुआ कि –''इतना धन यह आदमी अकस्मात कहाँ से पा गया?''

इन्होंने कुछ लोगों द्वारा पता लगवाया तो सारा रहस्य खुल गया। इतने बड़े प्रतिष्ठित घर की बहू के गहने बाजार में बिकने गये, यह बात उन्हें बड़ी अपमान जनक लगी। बहुत नाराज हुए वे।

गहने तो उन्होंने वापस मँगवा लिये पैसे देकर पर पिता–पुत्र के मनों में दरार सी पड़ गयी– अनवन रहने लगी। दोनों की अपनी अपनी, अलग अलग समझ थी। दोनों को ही एक दूसरे की बात समझ में नहीं आती थी। वंशीधर जी भौतिक धरातल पर खड़े होकर बोलते संसार के व्यापार के नियम सिद्धाँत समझाते और रामजी लाल परमार्थिक धरातल पर खड़े रहकर ''सीयराममय सब जग जानी'' अपनी आध्यात्मिक विचार धारा के सूत्र

समझाने की चेष्टा करते। अपने अपने प्रयत्न में दोनों ने ही विफल होकर मौन धारण कर लिया।

इस घटना ने रामजीलाल के हृदय में जलती वैराग्य की अग्नि में घी और समिधा का काम किया। यद्यपि वे अपने पिता के विशाल वैभव के एकमात्र उत्ताधिकारी थे और अभी केवल सत्ताईस वर्ष के युवा थे किंतु–

बांधने पर भी बहाव नदियों के रूका नहीं करते।

बंध आंसू के तारो से राहगीर रूका नहीं करते।।

रामजीलाल अंततः सब कुछ त्याग कर उस अनन्त पथ पर चल पड़े, जो परमार्थ पथ के पथिकों के परम स्पृहणीय लक्ष्य की ओर जाता है। क्यों न हो, जिसकी जिह्वा ने एक बार ''उनके'' नाम की मिठास चख ली, उसके लिये त्रिलोक के सारे रस फीके हो गये। जिसने एक झलक घनश्याम की देख ली उसके लिये सारे दृश्यों पर लीपा पोती हो गयी, वह तो ''यह देखो श्याम'' ''यह देखो श्याम'' करते उसी रूप माधुरी में पगा रहता है।

जिसे उनकी लीला कथा सुनने की लत लग गयी– जिसने कथासव का पान कर लिया उसके पैर कभी सीधे नहीं पड़ते, उसके कान दूसरे शब्दों वाक्यों की ओर आकृष्ट नहीं होते।

जिसे ''उनकी'' लगन लग गयी उसके होश कभी सलामत नहीं रहते। सुख–दुःख, राग–द्वेष, अपना–पराया कुछ भी तो स्मरण नहीं रहता उसे। सारे बंधन शिथिल हो जाते हैं, संग्रह परिग्रह सब छूट जाता है। मैं कौन? कहाँ हूँ? सब भूलकर तू ही तू, तू ही तू, तू ही एक तू है कहता भटकता रहता है। गद्‌गद् वाष्परूद्ध कण्ठ लटपटी वाणी से नाम पुकारता, कभी रोता, कभी हँसता, गाता चलता है, किधर? उसे स्वयं ज्ञात नहीं होता कि पैर कहाँ पड़ रहे है फूलों पर? काँटों पर? जल में या थल पर, कहाँ जा रहा है कुछ पता नहीं, खाया या

नहीं–कुछ पता नहीं। नींद नहीं, भूख नहीं, चैन नहीं, केवल एक चाह – जी भर कर उसे देखने की, उससे मिलने की, बस लोग उस पर हँस रहे हैं, गाली दे रहे है कि बुरा भला कह रहे हैं, पत्थर–कंकड़ फेंक रहे हैं, किसे अवकाश है यह सब देखने सुनने का। केवल एक यही बेचैनी उसे चेतन रखती है- कब, कब मिलेंगे, वे? कहाँ ......कैसे.....कब?

आह! यह बेचैनी कैसी मीठी है, यह रुदन कितना सुखद है, हृदय में लगी यह आग–यह दाह कितना प्रिय है.....कैसे कहा जाय..........।

सौभाग्य शलियों को मिलता है यह सुख यह सम्पत्ति और मिलती है, संतकृपा से, मिलती है अधिकारियों को सुपात्रों को। न सही हम सौभाग्यशाली, पुण्यशील, न सही सुपात्र–अधिकारी न मिले यह सब, किंतु ''यह मिले'' इस चाह की चाह ही मिल जाय.. ... धन्य हो जाय जीवन–जन्म। वह भी क्या अपने प्रयत्न से सम्भव है? नहीं, संत कृपा ही एक मात्र अवलम्ब है, आशा है और प्राणों का पाथेय है।

बचपन में रामजीलाल को जो सीताराम जी संत मिले थे। जिनके साथ वे हनुमान जी के पास गये थे। वे सिद्ध महापुरुष थे, किसी गहरी गुफा में निवास करते थे, वही एक सिंह भी रहता था। वे महापुरुष भजन में लीन रहते, कभी–कभी उस सिंह से मसनद की भांति कमर टिका कर बैठ जाते। रामजीलाल कभी कभी उनके दर्शन करने जाते, उनसे पथ–पाथेय और उत्साह पाते।

जब वे रामजीलाल घर–स्वजन त्याग कर चल पड़े तो श्रीसीतारामदास जी स्वयं ही उनके समीप आये। और उन्हें राजस्थान के गंगापुर सिटी जाने की आज्ञा दी। उन्होंने कहा–''वहाँ श्री जयराम दास जी आयुर्वेदाचार्य रहते हैं, तुम उन्हीं से मंत्र दीक्षा और विरक्त वेश लो।''

रामजीलाल ने गंगापुर सिटी पहुँच कर अपने गुरुदेव से दीक्षा ली और साधना में लग गये।

गुरुदेव ने इनका नाम ''रामदास'' रखा किंतु जीवन के उत्तर काल में हरे राम बाबा के नाम से ही इनकी प्रसिद्धि हुई। गुरूदेव के समीप रहकर इन्होंने मंत्रराज का छः करोड़ जप किया। पन्द्रह वर्ष गुरु सान्निध्य में रहने के पश्चात उनकी अनुमति से तीर्थ यात्रा पर निकल पड़े।

संग्रह के नाम पर पास में होतीं केवल करताल, जिन्हें बजाकर महामंत्र का कीर्त्तन करते हुए जिधर पैर चल पड़ें उधर ही दिशाओं को गुंजायमान करते जाते। गहन बनों में उन्मत्त हो विचरते, भावविभोर हो कभी गिरते-मूर्छित होते, कभी उच्च स्वर से अपने प्रेमास्पद को पुकारते दौड़ते, कभी वृक्षों से टकरा जाते कभी दिवारों से और कभी तपते पत्थरों पर देहभान रहित हो पड़े रहते। कभी रोते रोते दिन रात बीत जाते और कभी ठठाकर हँसते हुए धरा पर लोट पोट हो जाते। कभी दोनों हाथ उठाकर नील गगन की ओर उछलते, कभी पशु पक्षियों से अपने प्राण प्रियतम का पता पूछते और कभी पैड़ों से देह घिस लेते-कंटकपूर्ण सेमल खैर आदि पेड़ होते तो घयल हो जाते। कभी आवेग इतना तीव्र होता कि हूँकार कर उठते, आँखें बड़ी-बड़ी हो प्राणों के साथ बाहर निकलने को आतुर हो जैसे। कभी कुंये बावड़ी में जा गिरते। कभी स्नान के लिये जल में उतरते तो बाहर निलकने का ध्यान ही नहीं आता, घंटों किलकारी मारते हुए जल में खेलते रहते मानो अपने प्राणसखा के साथ जलक्रीड़ा कर रहे हों। तीर्थाटन के इन दिनों में हृदय से निकलने वाले उद्‌गारों को कभी कभी कोई भाग्यशाली सुनकर लिपिबद्ध कर संग्रह कर लेते। बाद में वह ''करूण पुकार'' नाम से प्रकाशित हुआ-किंतु कितना? गहन वन कान्तर में कौन था सुनने वाला? जिनसे बातें करते वे पशु-पाहन कब बोले? तीव्रतर आवेगमयी हूँकार को गगन कब

अभिव्यक्ति दे पाया? घंटों और दिनों तक चलने वाली उस मूर्छा की कथा धरा कब कह पायी? कब कह पाये वे सरिता, सर, निर्झर उस बेहाल अवश देह का हाल और कौन कह पाया उस चित्त, मन, प्राणों की करुण कथा जिनमें समाया वह निर्मम अहेरी अपने प्रेम के विष बुझे तीरों से निरन्तर घायल कर रहा था। जब वह विवश अश्रुविगलित रूद्ध कंठ लटपटी वाणी से कहता–

प्रेम को समझा था सुख स्त्रोत किंतु उसमें करता विष वास
अरे होता है यह अनुमान प्रेम है विष की बुझी कटार
रे खेल रहा कौन अहेरी हो निर्मम धनुष तान
छीन रहे प्राणों का चैन ये विष बुझे पैने बान

कैसी सुखद होती होगी वह दारुण व्यथा कि बिना ही मन बुद्धि की संगति के जिह्वा कह उठती है ह्वदय का हाल –''मर्म चीर अंगार भरे जैसे।'' छटपटाते हैं प्राण कि मर्म चीर अंगार भरे जैसे।

इस विष के स्वाद की समता क्या सैंकड़ों स्वर्गों के अमृत कुण्ड कर पायेंगे? धरा के समस्त सुख इन आँसुओं के सुख की समता पा सकेंगे? ब्रह्मलोक तक पर अधिकार पा लेने का मद भी क्या प्रिय की, स्मृति के मद में झूमते प्रेमी के सुख के एक पल की समता पा सकेगा?

''करुण पुकार'' तो कहीं भीड़भरे बीच बाग में अनजाने ही निकल पड़ने वाले उद्‌गार हैं? जिन्हें किसी सुपात्र ने सुना और लिखा। किंतु क्या अछूता रह पाया होगा वह भी इस पीड़ा भरे सुख से???

प्रकृतिस्थ रहने पर बाबा लोगों से अखंड कीर्त्तन कराते। जब लोग अपने गाँव, घर, अथवा शहर पधारने का आग्रह करते–बाबा की एक ही शर्त होती–''अखण्ड कीर्त्तन कराओगे तभी मैं आऊँगा।''

एक बार कोटा जिले के चम्बल नदी के किनारे बसे ढीपरी गाँव में बाबा की उपस्थिति में कीर्तन का आयोजन चल रहा था। बाबा प्रात:काल स्नान करने के लिये नदी पर गये। नदी के नीले जल को निहार हृदय में प्रियतम श्यामसुंदर की स्मृति का उफान उमड़ उठा, मिलन के आवेश में नदी में कूद गये। जल उस स्थान पर गहरा था, सम्भवत: गहरा दह था–बाबा डूब गये। बहुत विलम्ब होने पर भी जब बाबा कीर्तन स्थल पर नहीं लौटे तो लोग ढूँढने लगे। नदी किनारे जलपात्र–लाठी आदि पाकर लगा, बाबा नदी में डूब गये।

बहुत प्रयत्न करने पर बाबा की देह बाहर निकाल ली गयी, किंतु तब तक सन्ध्या हो चुकी थी। उनकी देह में जीवन की चेतना के कोई लक्षण दिखायी नहीं दिये। उन्हें मृत समझ लोग उन्हें कीर्तन स्थल पर ले आये और उनकी अन्त्येष्टि की तैयारी करने लगे। सोचा गया–"अभी रात है, प्रात:काल होने पर अंतिम संस्कार कर देंगे।

श्री द्वारका लाल दुबे कोटा में न्यायाधीश थे और थे बाबा के प्रिय शिष्य! इन्हें प्रात: ब्रह्ममुहुर्त में स्वप्न में ठाकुर जी का आदेश प्राप्त हुआ कि–"तुम शीघ्र ही ढीपरी ग्राम पहुँच कर अपने गुरुदेव की देह की रक्षा करो। वे इस समय मेरे धाम में मेरे पास हैं, कुछ समय पश्चात उनका शरीर चैतन्य हो जायेगा।" आदेश पाकर द्वारकालाल जी पुलिस वालों को साथ ले ढीपरी पहुँचे। ज्ञात हुआ कि बाबा की अर्थी ले लोग श्मशान चले गये हैं। जाकर देखा–बाबा को चिता पर रख दिया गया था। प्रयत्नपूर्वक लोगों को समझा बुझाकर द्वारकालाल जी बाबा का शरीर अपने घर ले आये और माला लेकर जप करते हुए उनके पास ही बैठ गये। वह पूरा दिन फिर रात बीतने पर बाबा की देह में करीब अड़तालीस घंटे बाद चेतना आयी और उठ कर बैठ गये।

उन्होंने द्वारकालाल जी से पूछा–"मैं तो चम्बल के किनारे था, तुम्हारे घर कैसे आगया"? आ गया"?

द्वारकालाल जी से सारी बात सुन कर बाबा अपने सुयोग्य शिष्य पर बहुत प्रसन्न हुए बोले– ''तुमने भगवान की आज्ञा मान कर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, जो चाहो–माँग लो।''

गुरुदेव! श्री चरणों की कृपा से और तो सब कुछ प्राप्त ही है, केवल एक ही चाह है–''मुझे भगवत्प्रेम प्राप्त हो और श्री ठाकुर जी के सम्मुख प्रेमोन्मत्त हो नृत्य करते हुए यह शरीर छूटे, मुझे भगवत्‌धाम की प्राप्ति हो।'' द्वारका लाल जी ने अनुरोध किया।

''ऐसा ही होगा'' बाबा ने प्रसन्न वदन आशीर्वाद दिया।

इस घटना के पश्चात द्वारकालाल जी में आमूल चूल परिवर्तन हो गया। वे अंतर्मुख और भजननिष्ठ हो गये। उत्सवों के समय वे पैरों में घूँघरू बाँध प्रेम में मत्त हो नृत्य किया करते। एक बार जन्माष्टमी के दिन कोटा के द्वारकाधीश मंदिर में वे ठाकुर जी के सामने नृत्य कर रहे थे कि प्रेमोन्माद में मूर्छित हो धरा पर गिरे और भगवद्धाम चले गये। वर्षों पूर्व की गुरु वाणी सत्य सिद्ध हुई।

गुरू के वचन अमोघ होते हैं।

बाबा कहते थे–''चम्बल में डूबने के पश्चात भगवान के पार्षद फूलों से सजे विमान पर बिठाकर मुझे भगवान के पास ले गये। उनके दर्शन कर जो आनन्द मिला– क्या कहूँ।''

''अभी मुझे आपसे कुछ काम लेना है।'' ठाकुर जी ने मुझसे और अपने पार्षदों से कहा।

''उनके श्री चरणों में साष्टाँग प्रणिपात करके चला तो अपने को शरीर में पाया और उठकर बैठ गया।''

प्रेतयोनि में कष्ट पाते अनेकों जीवात्माओं ने बाबा से अपने उद्धार की प्रार्थना की। राजस्थान में चम्बल के किनारे की बात है। बाबा को किसी के घर रुकना अच्छा नहीं लगता था। वे अधिकतर गाँव के बाहर झोपड़ी बनवा कर रहते थे। बाबा ऐसे ही अपनी झोपड़ी में भजन करते थे, वहाँ एक लड़का नित्य ही उनके पास आता और छोटे मोटे सेवाकार्य कर देता।

एक दिन बाबा ने उससे तीन बजे आने को कहा कि मुझे यहाँ से दूसरे गाँव जाना है। वह लड़का दूसरे दिन आधीरात को ही आ गया, बाबा को जगा कर उसने कुँए से पानी खींच उन्हें स्नान कराया और फिर यात्रा के लिये तैयार होकर चल पड़े। बाबा ने अपना झोला उसे दे दिया, वह बाबा के आगे-आगे चलने लगा। अचानक बाबा ने चलते-चलते देखा वह लड़का बहुत लम्बा हो गया है। बाबा समझ गये कि यह तो कोई भूत है उन्होंने डाँटते हुए पूछा- ''कौन है रे तू?''

उसने उत्तर दिया -''मैं ब्रह्म राक्षस हूँ, आपकी झोपड़ी के पास वाले पलाश के पेड़ पर रहता हूँ। कल जब आप उस लड़के को प्रात: में तीन बजे आने को कह रहे थे, तब मैं सुन रहा था अत: उस लड़के का रूप धारण कर आधी रात को ही आ गया। बाबा! मैं किसी खोटी नियत से आपके साथ नहीं आया हूँ।'' उसने रोते हुए हाथ जोड़कर कहा-''इस योनि में मुझे एक हजार वर्ष हो गये हैं, कृपा करके मेरा उद्धार करो बाबा।''

''कैसे उद्धार करूँ तेरा?'' बाबा ने उदास स्वर में कहा- मैं किसी से कोई चीज माँगता नहीं और स्वयं मेरे पास कोई धन पूँजी है नहीं।''

''बाबा! आप इसकी चिंता न करें, आपकी झौपड़ी के पीछे जो शमी वृक्ष है, उसके नीचे खोदने पर चाँदी के सिक्के मिलेगे उसी धन से आप मेरे लिये भागवत सप्ताह-कथा करवाइये, उससे मेरा उद्धार हो जायेगा।'' ब्रह्म राक्षस बोला। ''मुझे कैसे ज्ञात होगा कि तेरा उद्धार हो गया है?'' बाबा ने पूछा।

''मैं आपको संकेत कर दूँगा।''

खुदाई कराने पर शमी के नीचे दो सौ चांदी के सिक्के प्राप्त हुए। एक सदाचारी ब्राह्मण से श्रीमद्‌भागवत का मूल पाठ एवं कथा करवाई, कीर्तन और भंडारा भी हुआ। कथा के अंतिम दिन उस पलाश वृक्ष की बहुत मोटी डाल अपने आप अचानक ही टूट कर गिर गयी, यह उस ब्रह्मराक्षस की मुक्ति का प्रमाण थी।

इस प्रकार कीर्तन करते-कराते, दु:खी प्राणियों का उद्धार करते पन्द्रह वर्ष पश्चात् गोवर्धन पधारे। यहाँ करताल बजाते महामंत्र का कीर्तन करते श्री गिरिराज जी की परिक्रमा करते। परिक्रमा में जहाँ रात हो जाती वहीं विश्राम कर लेते। प्रात: फिर नित्यकर्म स्नानादि करके परिक्रमा में लग जाते। उनका नियम था किसी से भिक्षा नहीं मांगनी कोई पीछे से पुकार कर भिक्षा दे तो नहीं लेनी, केवल सामने आकर फल, दूध, दही, मिठाई आदि फलाहरी भिक्षा ही ग्रहण करनी है।

गोवरधन में मानसी गंगा-ब्रह्मकुंड के किनारे श्रीहरिदेव जी का पुराना मंदिर है। यह भगवान श्री कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ के द्वारा स्थापित हैं। मुगलकाल में हुई उथल पुथल के कारण पूंछरी के बिलछू कुण्ड में इन्हें पधरा दिया गया था। यह कुंड श्री किशोरी जी के चरणों की बिछुआ से प्रकट हुआ है।

बाद में परम भक्त श्री केशवाचार्य जी ने इन्हें कुंड से निकाल कर इसे लाल पत्थर के मंदिर में विराजमान किया। हरे राम बाबा इस मंदिर के दरवाजे पर सो जाया करते।

मंदिर के पास ही गोस्वामी श्री किशनस्वरूप जी परिवार सहित निवास करते थे, इनकी बाबा के प्रति बहुत श्रद्धा थी। एक बार बाबा भावावेश में उन्मत्त परिक्रमा करते हुए जतीपुरा मुखारविन्द पर आये। उस समय श्रीगिरिराजमहाराज के सामने छप्पन भोग सजा हुआ था। सख्य रस भाव में भावित बाबा बोल उठे-'' क्यों रे! अकेले अकेले सारा माल

खा रहा है? मुझे नहीं खिलायेगा? तू ने मेरा घर बार छुड़ाया, दर दर का भिखारी बनाया। और अब अकेले अकेले ही छप्पन भोग का मजा ले रहा है। जानता है? मेरा बाप छप्पन लाख का जागीरदार था और मैं? मैं राह का भिखारी हूँ। तेरे कारण, सुना तू ने? तेरे ही लिये, तेरे लिये यह फकीरी ली है मैंने...... । बाबा अपनी खुमारी में बोलते हुए आगे बढ़ने लगे, लोगों ने पागल समझ कर धक्के देकर उन्हें वहाँ से हटा दिया। ''पागल!'' हां, पागल। इस पागलपन में कितनी मस्ती है, कितना आनन्द है इसे कोई क्या जाने। किसी भुक्तभोगी ने ही तो कहा है-''इन्द्र बापुरो कौन''?

और ''जब तें कृष्ण नाम श्रवण सुन्यो री आली, हौं तो भूलि भवन बावरी भई री।''

क्यों हो गये पागल ये सब? क्यों घर-बार, एशो-आराम, स्वजन-परिजन, कड़वे लगने लगे इन्हें कि छोड़ छाड़ कर इस कंटकाकीर्ण मार्ग में कूद पड़े और फिर मुड़ कर नहीं देखा।

क्या है? क्या है ऐसा कि अब तक के अपने पराये हो गये? कैसी वारुणी है वह, जिसे पीकर मनुष्य ऐसा मत्त हो जाता है कि फिर होश में ही नहीं आता कभी।

सुना है- वारिधर-वर्ण-वपु छोरा है कोई उसकी वे बड़ी बड़ी आंखें अपने उन पद्मदलायत दीर्घ दृगों से एक बार जिसको देख लेता है अथवा जो उस दृष्टि को देख लेता है... बस, वह नजर वह नजर ही सारे फसाद की जड़ है।

अच्छा कहो तो, उस ओर देखा ही क्यों जाये।

आह, यह न पूछो! इस ''क्यो'' का त्रिलोकी में कहीं कोई उत्तर नहीं है। देखेगा क्यों? क्या अपनी मर्जी से? नहीं, पागल कुत्ता नहीं काटा है किसी को।

वह तो भैया! उन्हीं बड़ी-बड़ी आंखों का कमाल है- देखे बिना कोई रह ही नहीं सकता, और देखने पर.....? प्रलय अवश्यम्भावी हैं।

हां, और सुनो-वह अकेला ही नहीं है, उसके साथ सौन्दर्य, सुकुमार्यता और स्निग्ध्ता की घनीभूत मूर्त्ति एक किशोरी भी है..... जिसे वह देखले...... ?

अमीय हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार।

उठत गिरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

समझें कुछ? कैसे समझेंगे, यह तो समझ समाप्त हो जाने के आगे का प्रकरण है।''

हमीं नहीं समझे तो औरों को क्या समझायेंगे?

बाबा रूठ कर हरिदेव मंदिर के द्वार पर सो गये। बात भी ठीक थी, खाते हुए एक ग्रास मित्र के मुख में खिलाने के बदले धक्के खिलवाये। शत्रु की बात नहीं कह सकते पर मित्र तो रूठेगा ही न रूठे तो मित्र नहीं कुछ और होगा वह। बाबा लेट गये मंदिर के द्वार पर।

वह समझ गया कि मित्र रूठ गया है और अब छप्पन भोग तो क्या एक या आधा भोग भी उसके गले से उतरना था? आकुल हो उठा वह........।

अंधेरी रात की गहरी निस्तब्धता में बाबा को तंद्रा सी आ गयी थी कि एकाएक अपने पदतल पर अति कोमल सुखद स्पर्श अनुभव हुआ, लगा-कोई पद संवाहन करते हुए तलवे सहला रहा है। देह में दिव्य आनन्द की अनुभूति ने देह को रोमांचित - प्रकम्पित कर दिया। वे प्रयत्न पूर्वक उठ कर बैठ गये, देखा-सम्मुख मयूर मुकुटी घनश्याम अपने बड़े बड़े नेत्रों से निहोरा सा करते हुए निहार रहा है।

''रूठ मत, छप्पन भोग लाया हूँ- ले खा ले।'' सखा ने ग्रास आगे बढ़ाया।

मुख घुमा लिया इस फक्कड़ दोस्त ने। अभी गुस्सा ठंडा नहींहुआ था, ताजा ताजा बात जो थी।

एक हाथ दाढ़ी के नीचे लगा उस सुकुमार ने मित्र का मुख अपनी ओर फेरा–''ले, खा न, मैंने भी नहीं खाया तेरे जाने के बाद, एक भी ग्रास जो खाया हो.....। गला और नेत्र भर आये करूणार्णव के।

''क्यों, अब क्यों? उस समय तो धक्का–मुक्की खिलवायी, यदि उस समय तुम इसी प्रकार खिलाते तो कोई रोक लेता? आये बड़े छप्पन भोग लेकर।'' अक्खड़ दोस्त को मनाना सरल न था– ''पहले तो चेले चांटों से पिटवाया अब जले पर नमक मिर्च लगाने को खाओ, खाओ, खाओ।''

''अच्छा न खाओ। वे लोग क्या जानें हमारे प्यार को? ठीक है, न खाओ, मैं भी न खाऊँगा जब तक तुम न खा लोगे।''

ठाकुर जी भूखे हैं यह बात दिमाग में आते ही बाबा का गुस्सा पता नहीं किधर गायब हो गया। अपने पर इतना लाड़–प्यार देख विह्वल हो बोल पड़े–'' वहाँ नहीं खाया?''

ठाकुर जी ने नहीं में सिर हिला दिया, दोनों ज्योतिर्मय कुण्डलों ने दौड़–दौड़ कर बारी–बारी से कपोलों का चुम्बन करते हुए उनके कथन की साक्षी भरी। कुंचित भंवर केश भी मानो खिलखिलाकर हंस पड़े। ''तो फिर अब यहाँ आरोगो।''

''तुम खाओ तब तो मैं खाऊँ न।'' दोनों मित्र हंस पड़े, दोनों ने ही एक साथ ग्रास उठाकर परस्पर एक दूसरे के मुख में दिया।

उस समय जिस आनन्द की अनुभूति बाबा को हुई उसे अभिव्यक्ति दे सके कोई–सम्भव लगता है? भाषा तो बेचारी इने गिने अक्षरों में बंधी है, किंतु मन? मन ही कहाँ सक्षम है कि उड़ान भर कर चरम तक पहुँच जाय। उसके भाव पंख तो समीप पहुँचने से पूर्व ही सिथिल हो अपना अस्तित्व खोने लगते हैं।

यह घटना-प्रसंग स्वयं हरे राम बाबा ने अपने मुख से श्री गणेशदास जी महाराज के प्रमुख शिष्य-मलूक पीठाधीश्वर श्री राजेन्द्रदास जी महाराज को सुनाया था।

बाबा और ठाकुर जी एक दूसरे को खाते खिलाते आनन्द सागर की मानो थाह सी ले रहे थे कि अचानक ठाकुर जी अंतर्धान हो गये और उन्हें न देख बाबा चीत्कार कर उठे। उनकी वह मर्मभेदी चीख और ढाड़मार कर करुणक्रन्दन स्वर उस निस्तब्ध रात्री में चारो ओर पसरने लगा। मंदिर के समीप ही निवास करने वाले गोस्वामी किशनस्वरूप जी बाबा की चीख सुन कर जाग गये। वे उठकर बाबा के पास आये, देखा-बाबा आत्महारा हो रो रहे हैं और उनके पास छबरिया में तरह तरह की भोजन सामग्री रखी है। उन्होंने बाबा से रोने का कारण पूछा, बार-बार पूछने पर हिचकयों के मध्य इतना ही कह पाये-"अभी.....तो.....य.....हीं.....थे.....जाने.....क....हाँ.....च....ले....ग....ये.....।"

लगता था मानो कोई बाबा के प्राण ही देह से खींच कर निकाल ले रहा हो।

किशन स्वरूप जी समझ गये कि यह भोजन सामग्री ठाकुर जी ही लाये हैं और बाबा को दर्शन देकर ठाकुर जी अंतर्धान हो गये हैं इसीसे बाबा को ऐसी गहरी रुलायी छूट रही है।

उन्होंने पूरे परिवार को जगाकर वह प्रसाद दिया और स्वयं भी ग्रहण करके धन्य कृतार्थ माना स्वयं को। अच्छा कहो तो, ठाकुर जी अंतर्धान क्यों हो गये? अपने से ही तो आये थे, बाबा ने तो नहीं बुलाया था फिर? आये थे तो ठहरते तो सही, यह कैसी बान है उनकी, कि तृषित को जल दिखाकर-उसके होठों तक पात्र ले जाकर एकाएक हठा लेना कहाँ का न्याय है भला?

अपनी अनुपम रूप माधुरी दिखा कर, वचनामृत पान करवा कर, कृपा-करुणा बरसा कर अकस्मात सब कुछ छीन लेना कैसे हो तुम? क्या कोई बधिक भी इतनी निर्ममता से प्राण खींचता है?

बुरा न मानना हो? और कोई शब्द-संज्ञा नहीं मिली इसी से "वधिक" 'दुष्ट" कहा था। क्या कहूँ, भाषा बेचारी बड़ी गरीब है- दरिद्र है इसी से....। वैसे तो कहीं कुछ तुम से छिपा है नहीं।

किंतु क्या कहें इन प्रेमियों के ह्दय को तुम्हारी ये दुष्टता इन्हें भी कितनी प्रिय है; इसे कौन जाने...... ?

इस दुष्टता में भी कृपा है, करुणा है। तुम इसलिए आँख मिचोनी करते हो कि-प्रेमी की मिलन-लालसा और तीव्रतर हो, उस क्षणिक देखे गये रूप की चिन्तन धारा अखण्ड हो।

आह, तुम्हारा सब कुछ मधुर है, सब कुछ.......... सब कुछ .... सब .... कुछ .... मधुरा .... ति .... मधु .... र .... है .... सब .... कुछ .... म .... धु .... र .... और हरे राम बाबा डूब गये इस मधुरता के ह्रद में..........।

यह घटना स्वयं किशन स्वरूप जी ने श्री मलूक पीठाधीश जी को सुनायी थी।

बाबा प्रसिद्धि के भय से राजस्थान चले गये। वेसे भी एक स्थान पर अधिक समय तक रुकना उनके स्वभाव में नहीं था, वे स्वभावत: यायवर थे। घूमघाम कर वापस श्री महाराज जी के पास गोवरधन अथवा वृन्दावन लौट आते थे। उनकी प्रेमोन्मत्तता प्राय बनी ही रहती थी। कभी-कभी तो कीर्तन की ऐसी मत्तता आती कि काष्ठ-करताल बजाते-कीर्तन करते दिन रात निकल जाते, देहभान भूल जाते, नेत्रों की अजस्त्र वर्षा "निसदिन प्रेम प्रवाह द्रवत भूधर ज्यों निर्झर" श्री नाभादास जी की इस उक्ति को सार्थक कर देते धारायें चलती रहतीं भीगता रहता वक्षस्थल। जाने देह में इतना जल आता कहाँ से है कि चौबीस-चौबीस घंटा बहने पर भी कम नहीं होता। जब कभी बाहर का होश होता-बालकों सी क्रीड़ायें करने लगते। व्रजवासियों से इन्हें बड़ा प्रेम था और ब्रजवासी भी इन्हें बहुत चाहते।

श्री महाराज जी का बाबा के प्रति गुरूवत पूज्य भाव था और बाबा भी महाराज जी के प्रति श्रद्धा भाव रखते थे। बाबा कहा करते–''इस संसार में मेरा एक ही भाई हैं –''गणेशदास''।

बाबा जब भी विचरण से लौटते श्री महाराज जी के पूछने पर विचरण काल की घटनायें बताते।

ऐसे ही एक बार बाबा भ्रमण करते हुए पुराने साधना स्थल चम्बल तट के क्षेत्र में पधारे। वहाँ के पर्वतीय क्षेत्र में ऐसी कोई गुफा है जिसमें अपने आप जल बह कर बाहर आता रहता है। बाबा ने उस सिद्ध गुफा के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। बाबा कीर्त्तन करते हुए उस गुफा में प्रविष्ट हो गये ओर भीतर ही भीतर बहुत दूर तक चलते गये। घबराहट होने पर जल पिया इससे ठंडक मिली मुख धोया, नेत्रों को जल स्पर्श करते ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी। गुफा का दृश्य अंतर्हित हो गया, उन्होंने वहाँ अद्‌भुत तेजोमय तपोवन दिखायी पड़ा वहाँ अनेकों ऋषि मुनि तपोनिरत दिखायी पड़े, दिखायी पड़ा एक पांचफणों वाला मणिधर नाग भी। एक ऋषि ने समीप बुलाकर कहा–''सामान्य मनुष्य यहाँ नहीं आ सकता, आप भगवद् इच्छा से ही यहाँ आ पाये हैं। यह दिव्य तपोवन है, आप यहाँ आ तो गये है किंतु अब बाहर नहीं जा पायेंगे अतः अब यही रह कर भजन करें।''

बाबा ने तीन वर्ष तक कंदमूल फल आहार करते हुए उस ऋषि मुनियों के वासस्थल सिद्ध क्षेत्र में निवास किया। बड़ा स्वाद आ रहा था भजन में–नाम स्मरण में कि श्रीमहाराज जी का प्रेममय स्वरूप स्मरण आने लगा, धीरे-धीरे श्री महाराज जी से मिलने की व्याकुलता बढ़ने लगी। बाबा के चित्त की आकुलता उन सिद्धों से छिपी नहीं रही, उन्होंने कहा–'' आपको बाहर जाना है तो नेत्र बंद करके बैठ जाइये, श्रीसीताराम नाम कान में पड़ते ही नेत्र

खोल देना।'' बाबा नेत्र बंद करके नाम जप करने लगे। श्री सीताराम नाम सुनते ही नेत्र खोले तो देखा वे गुफा के द्वार पर ही बैठे हैं। बहुत देर तक इस आश्चर्य जनक घटना के विषय में सोचते रहे फिर घूमते हुए गोवरधन आ गये।

बाबा शौचादि से निवृत्त होने गोवरधन से चार पाँच किलोमीटर दूर जाते। लोग समझते यह बाबा का घुमक्कड़ स्वभाव के कारण है। वृंदावन में भी बाबा ऐसा ही करते सुदामा कुटी से चलकर परिक्रमा मार्ग छोड़ चार पाँच किलोमीटर दूर चले जाते। वास्तव में तो गोवरधन हो या वृन्दावन वहाँ की लीला स्थलियों के क्षेत्र में देह कृत्य करना उनके भावुक ह्रदय को स्वीकार नहीं था।

वृन्दावन धाम की घटना है यह उन दिनों ''टटिया स्थान दालान बाग'' के पीछे कोई बस्ती नहीं थी। एक दिन पेट दर्द के मारे बाबा को जल्दी शौच जाने की आवश्यकता महसूस हुई। बाबा उस वन के एक वृक्ष के पास बैठने लगे कि पास के एक दूसरे वृक्ष से एक संत प्रकट होकर बाबा के पास आकर बोले-''यहाँ मत बैठिये, यहाँ नहीं, यहाँ नहीं।'' ''क्यों भगवन्! आप क्यों मना कर रहे हैं, मुझे आतुरता है'' बाबा ने कहा।

इस वृक्ष के नीचे नित्य ही प्रिया-प्रियतम आकर विश्राम करते हैं, इसी से कहा-निवारण किया। आप यहाँ से कहीं दूर जाकर अपनी आवश्यकता से निवृत्त हों।''

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं- जो अपने किसी भी नियम का दृढ़ता पूर्वक पालन करता है और कभी किसी कठिन समय में वह नियम टूटने लगे तो तुरंत ही ठाकुर जी कृपा करके उस नियम को बचा लेते हैं और कोई न कोई अद्भुत अनुभूति प्रदान करते हैं।

दूसरे-यह वृन्दावन, यहाँ के वृक्ष, लतायें, पादप क्षुप सब चिन्मय हैं, यहाँ ऋषि, मुनि, संत जन ही इन रूपों में व्रजवास करते हुए भजन कर रहे है। अतः कभी कोई जानबूझ कर इनका उच्छेद - अपमान न करे।

एक बार बरसाना गये, श्री महाराज जी और श्री मलूक पीठाधीश भी साथ थे।

अपने नियम के अनुसार बाबा ब्रह्मगिरी से उतर कर नित्यकृत्य के लिये गये। उस समय बाबा की आयु नब्बे अथवा पिचानवे वर्ष की होगी, इतना उतरना चढ़ना उनके लिये बहुत कठिन था किंतु बाबा अपने नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे।

उस दिन ढाई तीन घंटे तक जब बाबा नहीं लौटे तो श्री महाराज जी ने अपने प्रिय और होनहार शिष्य श्री राजेन्द्र दास जी महाराज से कहा–"जाकर देखो तो, बाबा अभी तक क्यों नहीं लौटे ?"

जाकर देखा–बाबा दूर खेत में लाठी पकड़े शौच की मुद्रा में बैठे है और कीर्त्तन करते हुए अश्रु बहा रहे हैं। ढाई तीन घंटे जब तक श्री राजेन्द्रदास जी महाराज वहाँ नहीं पहुँचे वे भावावेश में ऐसे ही बैठे रहे। वापस लाने पर भी उस पूरे दिन उनकी अवस्था ऐसी ही रही।

भावावेश की विभिन्न अवस्थायें उनकी देह में अक्सर दिखायी देती। कई बार वे बड़ी तेजी से भागने लगते, किसी के भी बस की बात न रहती उन्हें रोकने की। सामने दीवार, वृक्ष, गाय, बैल, पहाड़ चट्टान से टकरा कर मूर्छित हो गिर पड़ते। कभी दौड़कर गन्ने के खेतों में घुस जाते, गन्ने के खेत अति सघन होते हैं उनमें चलना भी सरल नहीं होता दौड़ना तो दूर की बात है फिर गन्ने के पत्ते खुरदरे और किनारे तीखे होते हैं और उनसे दौड़ने वाले को चीरे आते ही हैं। श्री महाराज जी बताया करते थे कि– हमने हरे राम बाबा को एक दूसरे से जुड़े गन्ने के खेतों में तीव्रगति से दौड़ते हुए देखा है। खेतों में फाँस लगने से उनके पद घायल हो जाते पर उन्हें कहाँ देह की सुध रहती थी, वे तो एक के बाद एक खेतों को पार करते हुए दौड़ते। क्यों ?

जानने का कोई उपाय जो नहीं है, दौड़ने वाला देह में उपस्थित नहीं होता तो उत्तर कौन दे ?

काशी जिले के किसी गाँव की घटना है–बाबा गंगा किनारे हनुमान मंदिर में ठहरे हुए थे। उस गाँव में एक अहीर पहलवान रहता था। उसने जब बाबा के भावावेश में दौड़ने की बात सुनी तो बोला–''यदि अब बाबा भावावेश के दौड़े तो मैं अवश्य रोक लूँगा।''

संयोग से एक दिन बाबा कीर्त्तन करते हुए देहभान भूल कर दौड़ने लगे। वह पहलवान वहीं मौजूद था, बाबा को रोकने के प्रयास में उसने जैसे ही बलपूर्वक उन्हें पकड़ा–उसे लगा–बाबा के स्पर्श से उसकी देह में तेज करंट का झटका लगा और वह पन्द्रह हाथ दूर जा गिरा। उसे समझ में आ गया कि यह साधारण दौड़ नहीं, यह तो प्रेमी महापुरूष की भाव दशा है।

काशी क्षेत्र की ही एक और घटना है। किसी गाँव में रामलीला हो रही थी, बाबा भी रामलीला देखने गये। सीता–हरण की लीला थी, श्री जानकी जी का हाथ पकड़ रावण बरवस लिये जा रहा था। यह देख बाबा संयत न रह सके, वे एकदम से उठे और मंच पर चढ़कर रावण बने व्यक्ति को उठा कर पटक दिया और लगे मुक्के मारने। थोड़ी देर में वे मूर्छित हो गये। गाँव के लोगों की बाबा के प्रति श्रद्धा थी वे बाबा की परिचर्या करने लगे।

बाबा बड़े विनोदी थे, उनके विनोद से भी किसी न किसी का भला ही होता। कई बार तो ऐसा भी होता कि उनके विनोद पूर्ण व्यवहार से दूसरे व्यक्ति का जीवन ही बदल जाता। यह घटना आजमगढ़ जिले उ.प्र. की है। घूमते हुए बाबा वहाँ गये और सुरम्य अमराई देख कुछ दिन रुकने का विचार किया। बाबा को आम प्रिय थे और वहाँ आमों की कमी थी ही नहीं। उसी आम के बगीचे में एक अघोरपंथी तांत्रिक साधु भी रहता था। उस क्षेत्र में उस अघोरी के चमत्कारों के कारण उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी इस बगीचे पर उसी का कब्जा था।

वहाँ रहने से पहले बाबा ने उससे परिचय किया और अनुमति माँगी, उसने बाबा को रहने की स्वीकृति दे दी। धीरे-धीरे दोनों में घनिष्टता भी हो गयी।

एक दिन बाबा ने कहा-"गुरुभाई! तुम तो सिद्ध पुरुष हो, तुम्हारे चमत्कारों के सभी लोग गुण गाते हैं अतः मुझे भी अपनी कुछ करामात दिखाओ न?"

एक रात को वह अघोरी अपनी करामात दिखाने के लिये बाबा को श्मशान ले गया। वहाँ बाबा को कुछ दूर बैठने को कहा और स्वयं घड़े में गंगाजल भर कर उसमें गुड़ चावल डाल कर चिताग्नि पर रख कर मीठे चावल बनाये फिर उसने तांत्रिक मंत्रों द्वारा बहुत से भूतों का आह्वान किया। उनके आने पर सबको वह मीठे चावल परोस कर खुद भी खाने लगा।

बाबा दूर बैठे यह सब देख रहे थे। उनके स्थान पर दूसरा कोई होता तो या तो मर जाता न मरता तो बेहोश हो जाता यह भी न होता तो भाग तो अवश्य ही जाता। किंतु बाबा को भय कैसे होता? भय को भी जिससे भय लगता है वह तो बाबा का अपना स्वजन है। बाबा ने तो जीवन में कई प्रेतो-भूतों का उद्धार किया, सिद्धों का संग किया और देवताओं की सेवा ग्रहण की। अघोरी की क्रियाओं से वे भयभीत तो क्या होते, उन्होंने ऐसा विनोद किया कि अघोरी ही भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। बाबा ने एक लम्बे बाँस पर सफेद कपड़ा लपेटा और उसके छोर को ध्वजा की भाँति फहराते हुए मात्र कौपीन पहने अघोरी के सामने आये। उछलते कुदते डरावने शब्द करते बाबा जब अघोरी के सामने आये तब वह सब भूतों को खिलाने के बाद मंत्र जप कर रहा था।

बाबा ने स्वर बदलकर मेघ गर्जन की भाँति डरावने स्वर में उससे कहा-"अरे ओ पापी! तू प्रेतों को भोजन करवा रहा है पर मेरा भाग कहाँ है? मैं इस श्मशन का राजा प्रेतराज हूँ, शीघ्र मेरा भाग दे अन्यथा मैं तुझे कच्चा ही चबाकर खा जाऊँगा।"

बाबा का यह नाटक इतना सटीक था कि अघोरी सचमुच उन्हें प्रेंतराज समझ कर डर गया। उसने प्रेतराज को वश में करने के लिये कई मंत्रों का प्रयोग किया किंतु प्रेतराज हों तब तो वश में हो न। बाबा अपनी क्रियाओं से उसे भयभीत करते रहे। अपने मंत्रों का कोई असर न देख वह समझा आज आने वाला यह प्रेतराज बड़ा बलवान है, मेरे मंत्रों से यह आधीन होने वाला नहीं है। कहीं सचमुच ही यह मुझे खा न जाय, इस विचार के आते ही उसके रोंगटे खड़े हो गये और वह वहाँ से भाग गया।

दूसरे दिन आम के बगीचे में बाबा से उसने सारी बातें बतायी तो बाबा ने हँसकर कहा–''अरे तुम व्यर्थ ही डर गये, वह तो मैं ही था।''

इसके बाद बाबा ने उसे भक्ति का उपदेश दिया और पतन की ओर ले जाने वाली इन तांत्रिक क्रियाओं को त्याग कर भगवद् भजन करने की आज्ञा दी। थोड़े समय बाद वह अघोरी उस अमराई को छोड़ कर कहीं और चला गया।

आगरा के पास जगनेर गाँव के समीप कुछ पहाड़ियाँ हैं, यहाँ पहले कभी ग्वाल बाबा नाम के कोई सिद्ध महापुरुष रहते थे। उन्हीं के नाम से वह स्थान भी ग्वालबाबा कहा जाने लगा। बाबा एक बार वहाँ पहुँचे और कुछ महिने रहे बाबा पहाड़ी के ऊपर रहते, गांव का एक आदमी उन्हें थोड़ा सीधा–सामान पहुँचा जाया करता था। पहाड़ी पर पीने का पानी उपलब्ध नहीं था। नीचे से जल लाने में बड़ा परिश्रम होता। कुछ महीनों बाद गाँव के लोग बाबा के पास आने लगे तो उन्हें जल कहाँ से पिलायें? बाबा के मन में आया–''यदि यहाँ पहाड़ी पर ही पीने योग्य जल की व्यवस्था हो जाय तो सत्संग के लिये आने वाले लोगों को सुविधा हो जाय।

रात्री में एक बार बाबा के पास एक लम्बा चौड़ा आदमी आया उसने कहा–''आप जल की चिंता न करें मैं जल से भरे कई मटके यहाँ पहुँचा जाया करूँगा किंतु केवल

पिलाने से ही क्या होगा उन्हें प्रसाद भी तो प्रदान करना चाहिये। मैं सब व्यवस्था कर दूँगा।''

उसकी बात सुनकर बाबा बड़े प्रसन्न हो गये।

वह व्यक्ति पानी के मटके, घी, शक्कर, आटा आदि सामान पहुचा जाया करता था।

एक दिन उस व्यक्ति ने जो पहले बाबा को सीधा सामान पहुँचाया करता था- बाबा से पूछा कि-''आपके पास पीने का इतना पानी और मिठाई का सामान कहाँ से आता है?''

बाबा ने बताया-''तुम्हारे ही गाँव का एक बहुत लम्बा चौड़े शरीर बाला आदमी यह सब सामान पहुँचा जाया करता है।''

उस बेचारे आदमी ने अपनी बुद्धि पर बड़ा जोर लगाया पर ऐसा कोई व्यक्ति ध्यान में नहीं आया तो बाबा से आज्ञा लेकर एक रात वह पहाड़ी पर ही रुक गया। ठीक समय पर वह दीर्घकाय व्यक्ति आया और आते ही बाबा से कहा-आपने आज गाँव के आदमी को यहाँ क्यों रोक लिया? इससे तो सारे लोग जान जायेंगे, मैं तो किसी को भी बिना बताये सब गुप्त रूप से करता हूँ।''

वह छिपा हुआ आदमी इस दीर्घकाय को देख घबरा उठा, बाबा भी समझ गये कि यह साधारण व्यक्ति नहीं है। उस व्यक्ति ने बाबा के सामने ही अपना हाथ बढ़ाकर उस ग्रामीण को उठा लिया और भुजा बढ़ाते हुए नीचे गाँव में ले जाकर उस आदमी को वहाँ छोड़ वापस वह भुजा सामान्य हो गयी। यह सब देखकर भी बाबा डरे नहीं, उन्होंने उससे परिचय पूछा। उसने बताया -''मैं कुबेर का अनुचर यक्ष हूँ, थोड़ा पास ही कुबेर का खजाना गड़ा है मैं उसकी रक्षा के लिये नियुक्त हूँ। मुझे मेरे स्वामी का आदेश है कि पहाड़ी पर रहने वाले साधु की सेवा करूँ, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। तब से मैं पेयजल और मिष्ठान की व्यवस्था कर दिया करता हूँ।''

इसके पश्चात बाबा को साथ ले जाकर उसने कुबेर का वह कोष भी दिखाया जिसकी रक्षा के लिये वह तैनात था। यक्ष ने अपने पूरे परिवार सहित बाबा को प्रणाम और सत्कार किया बाबा ठहरे वीतराग, यहाँ रहना अब भजन में विघ्न स्वरूप होगा यह सोचकर दूसरी जगह चले गये।

मध्यप्रदेश के ओरछा तीर्थ के पास विंध्याचल के पर्वतीय क्षेत्र में बसे मुडारा गाँव की घटना है – इस गाँव में बाबा कुछ समय तक रहे। गाँव के पास वाली पहाड़ी पर सिद्ध बाबा का स्थान है। गाँव वालों का कहना है कि–''वहाँ सिद्ध बाबा का निवास है। जब बाबा वहाँ रहते हैं तो ऊपर कुण्ड में जल भर जाता है और जब बाबा कहीं घूमने चले जाते हैं तो कुण्ड का जल सूख जाता है। उस सिद्ध स्थल पर रात को कोई नहीं जाता। एक बार बाबा दिन ढलने पर वहाँ गये और ऊँची आवाज में पुकारा –''अरे गुरुभाई! कहाँ गया? मैं तेरे स्थान पर आया और तुम कहाँ छिप गये?''

इतना कहते ही सिद्ध बाबा सामने प्रकट हो गये। दोनों ने परस्पर दण्ड प्रणाम किया, दोनो हाथ फैलाकर बाबा आलिंगन के लिये आगे बढ़े कि सिद्ध बाबा पीछे हटते हुए बोले–''नहीं बाबा! नहीं, आप वैष्णव संत हैं और मैं अघोर मार्ग का सिद्ध हूँ, आपके स्पर्श के योग्य नहीं हूँ।'' उन्होंने यह भी बताया कि ''मेरी आयु हजारों वर्ष की है।'' इससे यह सिद्ध होता है कि वैष्णवी उपासना पद्धति कितनी श्रेष्ठ है, सात्विक और पवित्र है।

बाबा जैसे परम भक्त की सेवा के लिये सिद्ध, उपदेव और देवगण भी लालायित रहते थे। क्यों? कैसे?

बाबा संसार से उपराम, निर्लोभी, निष्काम, निर्मल और अपने आराध्य पर निर्भर थे, निर्भर होने के कारण ही निर्भय भी थे।

जिसे कुछ नहीं चाहिये उसे सभी देने को दौड़ पड़ते हैं।

जो किसी समर्थ पर आश्रित है उसे भय क्यों होगा ?

जो निर्मल है उसे कामना का दर्द कैसे व्यापेगा ?

जो केवल लक्ष्य को ही देखता है उसे इधर उधर क्या हो रहा है यह जानने की फुरसत कहाँ ?

कहते हैं–कर्त्तव्य से बढ़कर परमार्थी के लिये कोई फाँसी नहीं। इसके काटने के लिये वैराग्य से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं। मोह से बढ़ कर कोई अंधा कुंआ नहीं। इसके लिये– हरिनाम से बढ़कर कोई सीढ़ी नहीं।

और आसक्ति से बढ़कर कोई रोग नहीं। इसके लिये सत्संग से बड़ी कोई औषध नहीं। फिर भी एक बात रह जाती है– श्री महाराज जी, श्री हरेराम बाबा और भी कई अन्य महापुरुष बचपन से ही यों कहें कि जन्म से ही विलक्षणता लिये आये थे जैसे –शांत स्वभाव सरलता, सहजता, दया, पर दुखकातरता, सहिष्णुता और–और भी कई गुण। जब अभी इन्होंने कोई साधना आरंभ ही नहीं की तो ये गुण इनमें आये कहाँ से ?

एक ही उत्तर है– पूर्व जन्म की साधना का प्रभाव ही प्रतिफलित हुआ।

दूसरा – हरि इच्छा।

यदि केवल हरि इच्छा कहें तो बड़ी गड़बड़ी होगी। कहिये तो–हरि कृपा या हरिइच्छा किसी एक पर ही क्यों टूट पड़ी ? क्या दूसरे उसके अपने नहीं हैं ? फिर भेदभाव क्यों ?

अथवा कि कोई भक्ति–प्रेम चाहता नहीं ?

ऐसा तो नहीं लगता। बहुत–बहुत लोग हैं वसुधा की गोद में जिन्हें चाह है–अनुराग प्राप्ति की। किंतु कहाँ ? सर्वस्व त्याग के पश्चात भी बेचारों को जाने किस किस गोरखधंधे में उलझा दिया जाता है।

माना कि वह सब परोपकार ही है किंतु............. ?

तब यही कहना होगा कि पूर्व साधना और हरि इच्छा दोनों ने ही मिलकर इन्हें बनाया, अब इनकी कृपा से अनेकों बन गये।

अब आगे चलें? जयपुर के पास आमेर के जंगल में एक बावड़ी और सीताराम जी का मंदिर। श्री महाराज जी और श्री रामचंद्र जी पुजारी के साथ बाबा उसी मंदिर में ठहरे थे।

बाबा अपने ठाकुर जी की सेवा बड़े राजसी ढंग से करते। सेवा में इत्र, केसर, गुलाबजल पान का डब्बा, आदि वस्तुओं का प्रचुर प्रयोग होता। जहाँ तक हो सकता फूल-तुलसी बाबा अपने हाथ से उतारते। ऋतु-अनुसार ही इत्र धारण कराते और ऋतु फल का भोग पधराते। उन्हें अष्टयाम सेवा के बहुत से पद याद थे, समयानुसार उन्हें गा कर ठकुर जी को सुनाते। सम्पूर्ण मन से अत्यन्त भाव मग्न होकर सदा प्रेम पूर्वक अपने ठाकुर जी की सेवा करते।

सीताराम मंदिर में उन दिनों बाबा श्रीराम मंत्र के अनुष्ठान में लगे थे। अच्छा, लक्ष्य प्राप्ति भगवत्दर्शन के पश्चात भी अनुष्ठान किसलिये? क्या इसके आगे भी कुछ है?

अनुराग और भगवत्प्राप्ति के बाद भी शायद कुछ हो, जिसे पाने के लिये अनुष्ठान आवश्यक समझा गया हो। और कुछ बाकी हो न हो किंतु इस मार्ग में तृप्ति नहीं है।

वारुणी पावन प्रेम की चैन न लेने देती है।

और और कहती सदा हाथ बढाये रहती है।।

जैसे जागतिक लोग लखपति से करोड़पति और करोड़पति से अरबपति बनने दौड़ते रहते हैं, वैसे ही अनुरागी भी तृप्ति नहीं पाते। चैन दोनों ओर नहीं है, किंतु दोनों ओर की बेचैनी में बड़ा अंतर है भाई! बड़ा अंतर है। जगत की अतृप्ति अधिक से अधिक सुविधा

दे सकती है, सुख-शांति से वह अंत तक रीता ही रहता है, किंतु अनुराग की मस्ती-आनन्द कहने में नहीं आता। मत्त हो छका रहता है प्रेमी सदा। उसकी आँखों से, वचन से, रोम रोम से प्रेम झरता रहता है। सबसे बड़ी बात यह बड़ा छूत का रोग है। सुना है, जानते नहीं हम, देखा भी नहीं किसी को देखा होता तो रंग न जाते? सुना है- छूने से, मिलने से, देखने से, बात करने से भी इसकी छूत लग जाती है और वह बीमार कभी अच्छा नहीं होता, क....भी. ....नहीं। अस्तु।

यहाँ इसी मंदिर में अनुष्ठान के मध्य सेवा का इत्र समाप्त हो गया। बाबा ने श्री महाराज जी को इत्र की व्यवस्था के लिये कहा।

निर्जन वन में इत्र जैसी वस्तु की व्यवस्था कैसे हो? श्री महाराज जी ने परिस्थिति देख कर कहा- अभी तो कोई व्यवस्था संभव नहीं लगती, आप बिना इत्र के ही सेवा कर लें।''

''आज ठाकुर जी के श्री अंग में इत्र नहीं लगा पाऊँगा'' इस विचार से बाबा उदास हो गये। वैसे ही उदास मन से उन्होंने ठाकुर जी की सेवा की।

उसी समय स्वच्छ धोती-अचकन पहने एक व्यक्ति वहाँ प्रकट हो गया, उसने धातु की एक बोतल बाबा को देते हुए कहा-''लीजिये यह इत्र की बोतल है आप निश्चित होकर इससे ठाकुर जी की सेवा कीजिये। इसके समाप्त होने पर मैं और ला दूँगा।''

अचानक इस व्यक्ति को देख बाबा और श्री महाराज जी चकित रह गये। परिचय पूछने पर उसने कहा-''मैं देवलोक का रहने वाला हूँ, बाबा के ठाकुर जी की सेवा के लिये इत्र लाया हूँ।''

इतना कह कर वह दिव्य पुरूष वहीं अंतर्धान हो गया।

जयपुर में एक भक्त के घर की तीसरी मंजील पर कीर्त्तन हो रहा था, बाबा कीर्त्तन में मूर्छित हो जाते, उनकी देह में सात्विक अष्ट भावों का उदय हो जाता। ऐसे ही कीर्त्तन में भावोन्मत्त हो बाबा छत से नीचे आ गिरे और बेसुध हो गये। आश्चर्य यह कि इतनी ऊंचाई से गिरने पर भी बाबा के एक हाथ में हल्की सी चोट आयी बस। उनके शिष्य भूरामल बजाज ने उस समय उनकी सेवा की, भूरामल जयपुर के मेयर रह चुके थे। भूरामल और उनकी पत्नी के सेवा से प्रसन्न हो बाबा ने उनसे वर माँगने को कहा। भक्त हृदय दम्पति ने यही मांगा–"भगवत् सस्मरण करते हुए देह छोड़ें और हमें भगवत् धाम की प्राप्ति हो।"

"ऐसा ही होगा।" परम उदार गुरुदेव ने कहा।

आगे जाकर बाबा और श्री महाराज जी जयपुर के गलता तीर्थ में ठहरे हुए थे। दोनों महापुरुष एक दिन प्रात:काल स्नान-तिलक करके जप कर रहे थे कि बाबा एकाएक उठकर खड़े हो गये और ऊपर आकाश की ओर देख कर बोले-"श्रीसीताराम, श्रीसीताराम, जा रहे हो? ठीक है, प्रभु को हमारी भी दण्डवत कर देना।"

आप किससे बात कर रहे थे? "श्री महाराज जी ने पूछा।

भूरामल बजाज अपनी पत्नी सहित विमान में बैठकर भगवद्धाम जा रहे हैं, मैं उन्हीं से बात कर रहा था।" इसके थोड़ी ही देर बाद सूचना आयी कि श्री भूरामल बजाज और उनकी पत्नी दोनों का एक साथ देहावसान हो गया।

श्रीमहाराज जी एवं श्रीहरेराम बाबा चालीस वर्ष एक साथ रहे। दोनों ने एक साथ और अलग-अलग भी अनेक यात्रायें की। कथा-सत्संग और उत्सवों-पर्वों के अवसरों पर भी यात्रायें की। व्रज चौरासी कोस, चित्रकूट। चौरासी कोस और अयोध्या चौरासी की परिक्रमायें भी दोनों ने साथ-साथ की।

अयोध्या बार-बार जाना होता और हर बार दोनों महापुरुष कुछ महीने वहाँ बिराजते। ऐसे ही एक बार कनक भवन में होने वाली रासलीला के दर्शन हेतु गये, उस दिन लीला में महारास का प्रसंग था। रासबिहारी ठाकुर जी ने बंसी बजाकर गोपियों का आह्वान किया। गोपियों को अपने सौभाग्य पर गर्व हुआ और गर्वहारी ठाकुर जी अंतर्धान हो गये और गोपियाँ विरह व्याकुल हो उठीं।

बाबा के हृदय की भाव भूमि अत्यन्त उन्नत थी - परिष्कृत थी। कथा लीला या अन्य किसी भी कारणवश ठाकुर जी के संयोग-वियोग का भाव प्राप्त होते ही इनका मन तुरन्त ही उससे तादात्म्य ग्रहण कर लेता। तब उनकी चेष्टायें उसी भाव के अनुरूप होने लगतीं।

यहाँ भी रास में ठाकुर जी के अंतर्धान होते ही गोपी भाव में स्थित बाबा का मन असह्य विरह में डूब गया। अष्ट सात्विक भाव उनकी देह में प्रकट हो गये- वे मूर्छित हो गये। जीवन का कोई चिन्ह देह में नहीं रहा, ऐसे में उन्हें अपने निवास हनुमान गढ़ी तक ले जाना कठिन हो गया। श्री महाराज जी उन्हें चरणपादुका स्थल पर ले गये। देखने वाले तो बाबा को मरा हुआ ही समझ रहे थे। श्री महाराज जी ने लोगों को समझाने के लिये कहा-"जब तक मुझे विश्वास न हो जाय तब तक मैं इन्हें मृत नहीं मान सकता।" श्री महाराज जी तो बाबा की ऐसी भावमयी दशा के कितनी ही बार साक्षी रहे थे, वे जानते थे कि बाबा इस समय श्री वृन्दावन के यमुना पुलिन पर विरह की उत्ताल तरंगों में प्रवहमान हैं।

रात्री के आरंभ में आयी मूर्छा सम्पूर्ण रात्री के पश्चात् दूसरे दिन के प्रथम प्रहर तक रही। इसके पश्चात् बाबा की देह में चेतना के लक्षण दिखाई देने लगे। होश में आने के बाद भी बाबा रोते ही रहे। साँझ फिर दोनों महापुरुष रासलीला देखने पधारे श्री राम बिहारी ठाकुर जी के दर्शन करे बाबा आनंद विह्वल हो उनका आलिंगन करने दौड़े , उधर ठाकुर

जी भी दोनों हाथ फैलाये बाबा की ओर दौड़ पड़े। दोनों ही एक दूसरे से लिपट कर आँसू बहाने लगे। बाबा फिर आनन्द से बेहोश हो गये।

वृन्दावन की सुदामाकुटी में रहते थे बाबा तब की बात है- उनके नितम्ब की हड्डी टूट जाने के कारण वे चल फिर नहीं पाते थे अतः श्री महाराज जी के पास ही विराज रहे थे।

नीचे आँगन में रासलीला चल रही थी। बाबा तन्मय होकर माईक से निकलने वाली ध्वनि सुनकर आनन्दित हो रहे थे। कालीयमर्दन की लीला हो रही थी। गेंद लाने के बहाने ठाकुर जी यमुना में कूद गये, जब यशोदा जी को ज्ञात हुआ तो वे करुण स्वर में रुदन करने लगीं। उन्हें देख सामान्य मनुष्य भी धीरज नहीं रख पा रहे थे फिर बाबा तो बाबा थे।

यशोदा जी के भाव में भावित हो बाबा विलाप करने लगे और फिर मूर्छित हो गये। कुछ देर बाद सुध आयी भी तो रोते हुए उनके मुख से एक ही बात निकल रही थी-"रे निर्दयी! तू कहाँ चला गया? तेरे बिना अब मैं कैसे जीवित रहूँगी? हाय रे, मेरे बुढ़ापे का सहारा मुझे छोड़ कर चला गया।" इस प्रकार नाना प्रलाप करते हुए उनका विलाप-रुदन आधी रात तक चलता रहा।

बाबा की उदारता अनुपम थी, भक्त की सेवा से प्रसन्न होकर दुर्लभतम वर भी प्रदान कर दिया करते थे। वृन्दावन में एक बार बाबा ने धुन पकड़ ली-"मैं दान करूँगा, मैं दान करूँगा, मैं दान करूँगा, मैं दान........ बस यही आवृति करते रहे। परमहंस बाबा नामक संत ने एक किशोर बालक साधु को सामने लाकर खड़ा कर दिया और कहा -"बाबा! यदि दान करना है तो इन्हें कर दीजिये।"

बाबा उस बालक संत को देख बड़े प्रसन्न हुए बोले-"हाँ, यह सत्पात्र है, इसे ही दान करूँगा।" बाबा ने श्री हनुमान जी को साक्षी बना संकल्प पूर्वक कहा-"मैंने जीवन

भर में जाने अनजाने जो भी भजन किया है- वह मैं आज तुम्हें देता हूं, किंतु मुझसे जो अशुभ-पाप कर्म हुए हैं उन्हें मैं स्वयं ही भोगूँगा।'' अपना समस्त भजन-धन इस प्रकार बाबा ने दान कर दिया। दान ग्रहण करने वाले सन्त की भी अवस्था कुछ समय पश्चात बदल कर कुछ और ही हो गयी।

सन् 1974 के आसपास श्री महाराज जी वृन्दावन पधार गये, बाबा भी श्री महाराज जी के अभिन्नता के स्नेह सूत्र से बंधे उनके साथ सुदामाकुटी में रहने लगे।

सुदामा कुटी में बाबा ने एकबार प्रातः चार बजे से अचानक श्रीमहाराज जी का नाम रटना आरंभ कर दिया- गणेशदास, गणेशदास, गणेशदास, गणेशदास......

बाबा ने न नित्यकृत्य किया, न स्नान, न तिलक, न जप बस गणेशदास, गणेशदास गणेशदास। दिन निकल आया सब अपने अपने नियत कार्यों में लग गये किंतु जैसे बिगड़े हुए ग्रामोफोन की सुई एक ही जगह अटक जाती है वैसे ही बाबा भी श्री महाराज जी के नाम पर आकर अटक गये।

श्री महाराज जी ने बाबा के पास आकर कहा-'कहो क्या बात हैं, मैं आ गया हूँ।''

किंतु बाबा तो बस गणेशदास, गणेशदास, गणेशदास....। प्रात:काल के बाद दोपहर भी बीत चला पर बाबा ने न देह कृत्य किया न जल ग्रहण किया निरन्तर नाम रटन, लोग चकित-जिज्ञासा से उन्हें देखते पर जैसे उन्हें कोई मतलब नहीं। श्री महाराज जी पुस्तकालय में गम्भीर मुद्रा में बैठे थे कि उनके प्रिय शिष्य श्री राजेन्द्रदास जी ने समीप जाकर पूछा-''बाबा को यह क्या हो गया है।''

''पंडित जी! श्री भगवन्नाम संकीर्तन पूर्ण हो गया, अब भक्त नाम संकीर्तन चल रहा है।'' श्री महाराज जी के उत्तर से श्रीराजेन्द्रदास जी महाराज लिखते हैं कि- इस उत्तर को स्रमण कर मैं आज भी हर्षित और आश्चर्य चकित हो जाता हूँ। हर्षित इसलिये कि

श्रीमहाराज जी ने उस वाक्य से भक्ति सिद्धान्त का सर्वाधिक गूढ़ तथ्य प्रकाशित होता है और इसलिये कि महाराज जी ने अपनी महिमा को कभी उजागर नहीं होने दिया। दैन्य द्वारा आत्मसंगोपन कर वे अपने आपको सदा ढके रहते थे, किंतु आज उनके मुख से निकला हुआ वाक्य स्वंय उनकी महिमा प्रकट कर रहा था।'' पूरा दिन व्यतीत हो गया रात्रि के बारह बज गये बाबा को श्री महाराज जी का नाम रटते हुए। न नहाये न धौये न शौच गये, इन बीस घंटों में उन्होंने अन्य कुछ भी नहीं किया।

भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर्नाम वपु एक, भक्तमाल ग्रन्थ का यह मुख्य सिद्धान्त है। भक्त और भगवान को एक माने बिना भगवत्प्राप्ति असम्भवप्राय है।

इसी कारण संत सेवा-भक्त सेवा पर भक्तमाल ग्रंथ में इतना जोर दिया गयाहै। श्री महाराज जी और हरे राम बाबा के जीवन में यह सिद्धान्त पूरी तरह उतरा हुआ था।

बाबा की जीवन गाथा भगवत्प्रेमी की जीवन यात्रा की प्रेरणामयी कथा है। भगवत्प्रेम की अग्नि में उन्होंने अपनी उस प्रबल कर्म राशि को भस्म कर दिया जिसे ''संचित कर्म'' कहा जाता है। अनेकों जन्मों की संचित कर्म राशि ही मनुष्य के बारम्बार जन्म लेने में कारण बनती है। अब बाबा के केवल ''प्रारब्ध'' की छोटी सी कर्म राशि ही शेष थी। जो वर्तमान जन्म की कारण बनी थी और जिसका बहुत बड़ा भाग भोग कर समाप्त किया जा चुका था। यह सब तो हम जैसे अज्ञ जीवों को समझाने के लिये ही अन्यथा संत महापुरुष तो जीवन और जीवन में घटने वाली हर घटना को हरि इच्छा मान कर प्रसन्न रहते हैं। उनके मन को हर्ष-शोक, सुख-दु:ख, हानि लाभ आदि द्वन्द्व चलायमान करने में समर्थ नहीं हो पाते, वे सदा समचित्त रहते हैं।

अट्ठानवे निन्यानवे वर्ष के हो चुकने पर भी बाबा के दाँत मजबूत और सुनने की शक्ति भी सही सलामत थी, हाँ देखने की शक्ति अवश्य कमजोर हो गयी थी किंतु आयु के

कारण बाबा की आँखें कमजोर हुई थी। भोपाल गौस काण्ड के समय बाबा भोपाल में ही थे और उस दूषित गैस के कारण उनकी नजर कमजोर हो गयी थी। किंतु इस आयु में भी उनकी यात्रा चलती थी।

एक बार ओरछा क्षेत्र के मुड़ारा गाँव में ठहरे हुए थे। सवेरे शौच के लिये जाते हुए एक गहरे गड्ढे में गिर पड़े, इससे नितम्ब की हड्डी अपने स्थान से खिसक गयी और इसी कारण वे बाद में चल फिर नहीं पाते थे।

मुड़ारा से उन्हें जयपुर ले गये और फिर जयपुर से वृन्दावन लाया गया फिर तो श्री महाराज जी की देख रेख में सुदामाकुटी में ही अंतिम चार वर्ष व्यतीत किये। इन चार वर्षों में श्री महाराज जी ने उनकी जो सेवा की उसका उदाहरण मिलना अति कठिन है।

महापुरुषों के गुण ऐसे कठिन समय में ही प्रकट होकर सामान्यजनों को प्रेरणा प्रदान करते हैं। बाबा की शौचादि क्रिया श्री महाराज जी अपने हाथों से करते, उनकी प्रत्येक जरूरत का ध्यान रखते, रात को उठ उठ कर समीप जाकर देखते चार वर्ष तक यह सेवाक्रम चला किंतु श्री महाराज जी कभी उबे नहीं–निरुत्साहित नहीं हुए। उनकी वह सेवा मूर्ति शिष्यों और समीपस्थ लोगों के हृदय में स्थापित हो गयी।

सन् 1994 में बाबा देह के साथ धराधाम का त्याग कर अपने आराध्य की सन्निधि में पधारे जहाँ से कभी च्युति नहीं होती जहाँ से लौटना नहीं पड़ता।

रामचंद्रदास जी– जब महाराज हनुमानगढ़ी में रहते थे उन दिनों श्री रामचन्द्र दास जी इनके सम्पर्क में आये। दुबले पतले गेंहुआ रंग मेहनती युवक रामचंद्र जी उस समय कठिन परिस्थितियों में उलझे हुए थे। हनुमान गढ़ी में रहते हुए उन्हें कठिन परिश्रम करना पड़ रहा था। ऊपर से लोगों की उपेक्षा भरी कटुक्तियां और व्यवहार भी झेलना पड़ रहा था। इन्हीं कारणों से इनका स्वास्थ्य दिनोदिन कमजोर होता जा रहा था। अशान्त मन–रामचंद्र

जी अपना कष्ट कहें भी किसे ? जी करता था कहीं एकान्त स्थान में जा खूब रोयें और फिर बैठकर भजन करें। किंतु इस स्थिति में दोनों में से एक भी बात संभव नहीं लगती थी। श्री महाराज जी से इन्हें बड़ा सम्बल मिला, मन की बात इनसे कह कर जैसे भारमुक्त हो जाते।

श्री महाराज जी इन्हें धर्मग्रन्थों की कथायें सुनाते, समझाते कि–''सब दिन होत न एक समान।''

इनके मधुर बचनों से श्री रामचन्द्र जी को बड़ी शान्ति मिलती। एकान्त में भजन करने की इच्छा जानकर श्री महाराज जी ने इन्हें चित्रकूट जाने की सलाह दी। उनकी बात मान कर ये चित्रकूट चले गये और जीवन भर वहीं रहे।

श्री रणछोड़ दास जी महाराज जहाँ विराजते थे वह स्थान ''बड़ी गुफा'' कहलाता है। श्री रामचन्द्र दास जी वहाँ के ठाकुर जी श्री रघुवीर रामजी की पुजारी बने, इसीलिये इनका नाम श्री रामचन्द्रदास पुजारी–प्रसिद्ध हुआ।

इन्होंने बड़ी गुफा के पास ही एक छोटी सी कुटिया और उसमें गुफा बनायी, ये गुफा ही इनका भजन स्थल था। रात कब उठते किसी को ज्ञात नहीं होता, नित्यकृत्य से निवृत हो भजन में बैठ जाते और जप नियम करके ब्रह्ममुहुर्त में श्री ठाकुर जी की सेवा में पहुँच जाते। बड़ी गुफा–स्थान से इन्हें सीदा सामान मिलता था। उसी अन्न से साधु सेवा भी होती और स्वयं भी प्रसाद पाते। उस गुफा में रहकर इन्होंने तीन अरब नाम जप किया, भजन के प्रभाव से वहाँ का वातावरण दिव्य प्रभावशाली हो गया। यदि कोई वहाँ भजन साधन करता तो उसे कई आध्यात्मिक अनुभूतियों का अनुभव होता। उन दिनों बड़ी गुफा में श्री रामेश्वरदास जी रामायणी कथा करते थे। पुजारी जी श्री महाराज जी के सम्पर्क में तो थे ही श्री रामायणी जी से भी परिचय हो गया। श्री महाराज जी और रामायणी जी का परिचय पुजारी जी ने ही कराया। इन दोनों के सहयोग–समर्थन से ही आगे जाकर श्री भक्तमाल की टीका प्रकाशित हुई।

पुजारी जी श्री महाराज जी को गुरु मानकर उनके प्रति अगाध श्रद्धा सम्मान करते, श्री महाराज जी का चरणामृत और सीथ प्रसाद ग्रहण करते।

श्रीमहाराज जी भी इनके प्रति सख्यभाव रखते, पुजारी जी श्री महाराज जी को अत्यन्त प्रिय थे अंतरंग भी थे। श्रावण शुक्ल सप्तमी संवत् 2047 को श्रीरामचन्द्र दास जी पुजारी धराधाम छोड़ कर साकेत पधारे। इनके शिष्यों ने ''भगवद् आराधना केन्द्र'' की चित्रकूट में स्थापना की, यह स्थान साधु सेवा के लिये ख्यात है।

संतों महापुरुषों को उनके व्यवहार और बाहरी कामों से नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि वे अपने आंतरिक भावों, प्रेम और प्रभाव को सदा गुप्त रखते हैं। सभी महापुरुष ऐसा ही करते है तो अच्छा ही होगा ऐसा करना। किंतु मुझ अज्ञ की समझ में तो यही आता है कि-''भले ही ढिंढोरा न पीटा जाय पर प्रकट हो जाय तो कितने अधिक लोगों का कल्याण होगा?।

बाद में चरित्र पढ़कर अथवा किसी से सुनकर लोगों को पछतावा होता है-''हम भी थे उस समय, काश! पहले सुना होता।'' सुना तो यह भी है कि-''दैन्यवशात् ही संत अपने को प्रकट नहीं करते।''

यह भी कि-''लोग फिर चैन नहीं लेने देंगे, न एकान्त जुटेगा न साधना होगी। संसारी अपने मतलब के लिये रो गाकर उन्हें विवश कर देंगे ''आदि-आदि.....।

यह सब तो आज भी देखती हूं-संतों को, कथा वाचकों को न प्रसाद पाने का अवकाश है न सोने का विश्राम नाम के अवकाश ने जैसे विदा ही लेली है उनके जीवन से। एकान्त; जाने इस नाम का कोई समय उनके पास बचा भी है या नहीं, भगवान जाने। चार घंटे कथा सुनते हैं, लोग बैठकर, पता नहीं उस समय उनकी आँखें बंद रहती हैं क्या, कथा के पश्चात तुरंत ही घुस पड़ेंगे उनके कक्ष में दर्शन (?) करने। भले आदमी इतना भी

सोचने की तकलीफ नहीं करते कि चार घंटे बाद उनकी पालथी खुली है तो थोड़ा पैर सीधे करलें पीठ सीधी करलें। इतनी देर तक बोले हैं–तनिक मौन रहकर गले को ठंडा कर लें–विश्राम दें उसे सो नहीं, तुरंत....तुरंत जाकर हिमालय को उठाकर कुमारी अंतरीप में स्थापित करना है उनको तो!

क्या उनकी देह फौलाद की है? क्या उनके गले में लोहे की नली फिट है?

अरे भाई! यह गला, यह देह अधिक चलेगी तो हमीं को तो लाभ होगा। उनके कौन–से बेटे, पोते रो रहे हैं या भीख माँग रहे हैं कि उनके लिए कूद पड़े हैं यों अपने को थकाने।

ये तो हमीं लोगों के लिए धरा पर आये हैं– अपने ही हैं किन्तु थोड़ा सबर तो करो।

कभी न कभी तो मैं भी इस उतावली भीड़ का हिस्सा बनी ही हूँ किन्तु ऐसा करते हुए सदा पाँव पीछे हटे हैं एक बार संकोच से। और इस संकोच ने अनेक बार वंचित भी किया है मुझे किन्तु क्या किया जाय स्वभावो हि दुरतिक्रमः।

शायद उनका दैन्य और संगोपन ही ठीक होगा, फिर भी ....। शायद इसलिए संतचरित्र दुरुह है और हाँ, कहीं न कहीं तो ठाकुर जी उन्हें उजागर कर ही देते हैं। फिर भी .... ?

चलो जो हो। बड़े लोगों के व्यवहार का काजी हमें तो नहीं बनाया गया है। ठाकुर जी कैसे उजागर करते हैं संतो को, उन्हें भीतर–भीतर ही नहीं बाहर प्रकट रूप से भी कैसे आनन्द प्रदान करते हैं–देखें जरा–

नन्द भवन की ओर–आगरा के भगवानदास खलीफा अच्छे श्रद्धावान भक्त और श्री महाराज जी के स्नेहभाजन थे। एक बार हरे राम बाबा, श्री रामचन्द्रदासजी पुजारी और भगवानदास खलीफा ने प्रस्ताव रखा श्री महाराज जी के सम्मुख कि हम लोग बरसाने के

राधा बाग में चलें, वहाँ स्नान ध्यान करके चूरमा बाटी की रसोई बनाकर ठाकुर जी और श्री किशोरी जी को भोग लगाकर हम सब भी प्रसाद पायें।

श्री महाराज जी ने उनकी इच्छा देखकर स्वीकृति दे दी।

प्रात: ब्रह्ममुहुर्त ही सब गोवर्धन से चल पड़े। उन दिनों न वाहनों की इतनी रेलमपेल और चिल्ल पों थी और न ही इतनी भीड़ भक्कड़। पैदल यात्राऐं ही अधिक हुआ करती थीं। कभी कीर्तन करते और कभी जप करते बरसाना पहुँच गये सब लोग। राधाबाग स्नानादि करके हरेराम बाबा, रामचन्द्र पुजारी जी और भगवान दास जी खलीफा तीनों अपने नियम जप में लग गये और श्री महाराज जी ने रसोई सेवा सम्भाली। कण्डा, लकड़ी बीन कर जला लिया और दाल चढ़ा दी। दाल सिद्ध होने पर कमण्डलु में ले ली और बाटियाँ कण्डों के अंगारों पर रख दी फिर बाटियाँ सेक, फोड़कर घी में डुबो दीं और चूरमे के लिए अलग रखी बाटियों का चूरा बना उसमें घी और मीठा मिला दिया। अब श्री महाराज जी लड्डू बनाने लगे। इस बीच अन्य तीनों साथियों ने भी सहयोग करना चाहा किन्तु महाराज जी ने उन्हें अपने-अपने पूजा-पाठ जपादि पूर्ण करने को कहा। श्री महाराज जी स्नान के पश्चात् केवल कौपीन पहने हुए ही रसोई में लग गये थे अब भी वे उसी अवस्था में लड्डू बाँध रहे थे। उनका मुख वहाँ से आठ किलोमीटर दूर नंदगाँव की ओर था, उस समय आज सी भवनों की भीड़ नहीं थी अत: उस दिशा में बाग-बगीचों और खेतों को पार कर दृष्टि सहज ही महेश्वर गिरी पर अवस्थित नंदभवन तक चली जाती थी।

श्री महाराज जी की लड्डू बाँधते हुए दृष्टि नंदमहल की ओर उठ गयीं वहाँ के महल चौबारे, ऊँचे शिखरों की शोभा ने दृष्टि को मानो बाँध लिया। प्राण प्रियतम के निवास को निहारते हुए मन मे विराजे बृजराज कुमार की स्मृति न उमड़े असम्भव। श्री महाराज जी का मन उस रूप माधुरी का आस्वादन कर उसी में डूबने लगा, उन्हें भूल गयी यह बात कि नंदगाँव यहाँ से आठ किलोमीटर दूर है।

कभी ऐसा हुआ है कि कोई इस प्रकार तन्मय हो जाय उनमें और उन्हें खबर न लगे? कभी हुआ है कोई अथाह प्रेम से उनके भोग के लिए कोई सामग्री प्रस्तुत करे वे खाना लेने न दौड़ पड़े?

श्री महाराज जी की अवस्था उनसे भला कैसे छिपी रहती। वे संसार से चाहे जितना छिपालें अपने को, पर अंतर्यामी से! और जानने पर रुक जाते हैं वे? प्रेम प्रवण हृदय ही तो उनके लक्ष्य हैं, ज्ञात होते ही उस आसन पर आसीन होने को व्याकुल हो उठे हैं वे।

कब नंदभवन से उतरे, कब आठ किलोमीटर की दूरी पार की कोई न जान सका, लगा लड्डू बाँधते श्री महाराज जी के हृदय से ही निकल दोनों भाई सम्मुख खड़े हो गये। दोनों हाथों का काम बन्द हो गया, नेत्र विस्फारित हो एकटक उन्हें निहारने लगे, मन की बात कैसे कहें, उसकी अवस्था को अभिव्यंक्ति दे सके ऐसे शब्दों का निर्माण नहीं हुआ अभी तक। अत: वह अभिव्यक्ति अभी तक कुँवारी ही है–कोरी की कोरी ही है वह। कहने को तो कहा अनेकों ने, ब्रजसुन्दरियों ने भी, पर क्या कोई सम्यक कह पाया? कहकर अपनी बात से संतुष्ट हुआ कोई?

वक्त्रं ब्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीमनयुक्तकटाक्षमोक्षम्

हाँ उनको देखकर बस देखना ही रह जाता है–कहते नहीं बनता। कहने जाकर तो ये प्रेमपंडितायें भी थक कर मौन साध लेती हैं। जो कुछ कहा या कहती हैं वह तो अपने को होश में रखने की चेष्टा मात्र है।

हाथों में बंधे लड्डू लिये श्री महाराज जी उन्हें देखते ही रह गये और उन्होंने महाराज जी के हाथों से लड्डू मुस्कुराकर झपट लिये अच्छा मुस्कराये क्यों? कोई किसी की चीज छीनता है तो क्या मुस्कुरा कर लेता है? दस्युकर्म क्या कोई मुग्ध करने की क्रिया है कि मुस्कुराया जाय? क्या कहा जाय ....?

जो स्वयं पूरा का पूरा ही क्रियाओं सहित मूर्तिमान माधुर्य है उसकी तो हर क्रिया मुगध करने वाली ही होगी न? तो बाबा मुग्ध से देखते रह गये और वे दोनों भाई चारों लड्डू (दो हाथों में थे और दो बनाकर रखे हुए थे) लेकर नंदगाँव की ओर दौड़ गये। किंतु क्या लड्डू ही ले गये? जैसे नसों में से खींचकर मन प्राण भी ले गये।

बेचैन हो श्री महाराज जी उठ खड़े हुए और बेतहाशा दौड़ पड़े उस ओर जि ओर वे दोनों दस्यु भागे थे। क्षमा करें बुरा लगा हो सम्भवतः कि हमारे प्रेमास्पद को बार-बार दस्यु क्यों कहा जा रहा है। देखिये माँग कर ली गयी चीज, याचना, भिक्षा है, पीठ पीछे अनजाने में किसी की वस्तु ले लेना चोरी है और दिन दहाड़े आँखों के सामने झपटकर लेना डकैती है। न्याय पूर्वक कहिए यह बात सच है न? कहा जा सकता है कि उसने और किसी की नहीं अपनी ही वस्तु ली है। उसकी वस्तु के हम स्वामी बन बैठे थे। तो यह स्वामित्व दिया किसने?

यदि लेना ही था तो जरा समझकर, बहलाकर, फुसलाकर लेना था न। अब रोते रहो उसे याद कर करके। खैर, जब ले ही गये तो कुछ भी कहें, सब पानी पीटने जैसा है। श्री महाराज जी को भागते देख वे तीन जन जो माला लिये बैठे थे- हक्के बक्के रह गये यह क्या हुआ?

सोचने का समय नहीं था तीनों ने दाल का कमण्डलु घी में डूबी बाटियाँ और बिना बंधा चूरमा उठाया और दौड़ चले श्री महाराज जी के पीछे। थोड़ी ही देर में महाराज जी उनकी आँखों से ओझल हो गये। पूछते-पाछते नँदगाँव पहुँच गये। वहाँ जाकर पूछने पर किसी ने बताया- "कौपीन पहने एक महात्मा ऊपर मंदिर की ओर गये हैं।" मंदिर में जाकर देखा श्री महाराज जी भाव विह्वल दशा में खड़े हैं और ठाकुर जी का भोग आ जाने कारण पर्दा बंद हैं। पर्दा खुलने पर पुजारी जी थाल उठाकर ले गये पर वहीं थाल के पास एक तश्तरी में वे ही चूरमे के लड्डू रखे थे। पुजारी जी ने उन्हें प्रसाद रूप में थोड़ा-थोड़ा

सबको बाँट दिया। श्री महाराज जी के प्रकृतिस्थ होने पर तीनों साथी उन्हें लेकर नीचे उतर आये और पावन सरोवर पर आकर प्रसाद पाया। उन तीनों के पूछने पर श्री महाराज जी ने सारी बात बतायीं।

बाद में इन्हीं तीनों साथियों ने यह घटना मलूकपीठाधीश श्री राजेन्द्रदास जी महाराज को सुनायी। वे जब-जब भी इस विषय में श्री महाराज जी से पूछते या चर्चा करते श्री महाराज जी भावविह्वल हो उठते कंठ अवरुद्ध हो जाता उस समय नेत्रों से झरते हुए अश्रु ही शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते। अनुमानतः यह घटना सन् 1957-58 की है।

संतों का कथन है- ''अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है, और प्राप्त के संरक्षण को क्षेम कहते हैं।'' भक्तों को जीवन यात्रा के लिए जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों की आवश्यकता पड़ती है, ठाकुर जी उसकी व्यवस्था करते हैं और आवश्यकता की प्राप्त वस्तु की सार सम्भाल भी करते हैं। जो अग जग की सुधभूल उनकी ओर दौड़ पड़ा है, उसका उत्तरदायित्व भी तो उसी पर होगा न, जिसके पीछे भक्त कहाने वाले ने अपना संसार स्वाहा और जीवन राख कर दिया है।। ऐसा करना ही चाहिए करके जिम्मेदारी उठाकर कोई बड़ी बात नहीं करते वे। न करने पर ही तो......।
जाने दीजिए, बहुत लोग गुस्सा हो उठेंगे हम पर। स्वयं गाली खा लेना सरल है पर अपने प्रेमास्पद को कोई कुछ कहे ... भले विचारा सत्य ही कहे। खरी बात कितने लोग सह पाते हैं? इसलिए भी जाने दीजिए।

और तो और वह स्वयं जितना उल्टा-सीधा बोलें, पर दूसरा कोई कहे- फट पड़े विद्युत की भाँति। इसलिए जाने दें। योगक्षेम का एक अर्थ और भी होता है-भक्त को भजन साधना के लिए अंतर में भाव, व्याकुलता, आवेश, अश्रु, संगति, मिलन, विरह जिसकी भी जब भी आवश्यकता हो- उसकी साधना के पोषण के लिए ठाकुर जी उसकी पूर्ति करते हैं और की हुई साधन संपत्ति की रक्षा भी करते हैं।

एक बात समझ में नहीं आई जब सब कुछ ठाकुर जी ही जुटाते हैं तो फिर साधना कौन करता है? ठाकुर जी या साधक? हमारी समझ में ठाकुर जी ही साधना करते हैं– उसके नाम से। वह तो केवल उनपर निर्भर होकर निर्भय बैठकर उनको देखा करता है बस। झूठ कहा हमने? बात पसंद न आई हो तो लगाइये दण्ड बैठक, हमें क्या।

श्री मनुआ–लक्ष्मण मंदिर गोवर्धन के निवासकाल में श्री बालकराम द्विवेदी नाम के सज्जन श्री महाराज जी के सम्पर्क में आये। ये फर्रुखाबाद जिले के अनीभोज गाँव के रहने वाले थे और उस समय गोवर्धन में सी.ओ. के पद पर कार्यरत थे। श्री महाराज जी के परिकरों में सी. ओ. साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। ये महानुभाव सरल, निर्लोभी और विद्वान थे। अपने पदभार के कार्य से बचे समय को महाराज जी के सानिध्य में व्यय करते। इनके पुत्र थे जन्म सिद्ध ''मनुआ।''

बालक मनुआ जन्म से ही सिद्ध होने के कारण बचपन में ही ऐसे कार्य कर देते कि देखने वाले चकित रह जाते। यह भूत प्रेत सम्बन्धी बाधाओं को सहज ही दूर कर देते। किसी भी दुर्घटना की सूचना वह पहले ही दे देते, इतना ही नहीं उस दुर्घटना से मनुष्य को बचा भी लेते। असाध्य रोग से ग्रसित रोगियों को भी ठीक कर देते थे। उनके पास दूर गमन और अंतर्ध्यान की शक्ति भी थी। गोवर्धन में एक बार ऐसे संत आये जिन्हें गाँजा पीने की आदत थी। बिना गाँजा के वे रह नहीं पाते थे। उन दिनों गाँजा बेचने पर सरकारी प्रतिबंध था अत: सब स्थानों पर वह मिलना सम्भव नहीं था। मथुरा में सरकार द्वारा लाइसेंस प्राप्त एक दुकान पर ही उपलब्ध था।

गाँजा न मिलने से संत बेचैन नहीं व्याकुल हो गये, किंतु गाँजा आये तो कहाँ से? मथुरा जाकर लाने में घंटा डेढ़ घंटा तो लगता ही फिर जाये ही कौन? इतनी देर में संत का क्या हो कौन जाने। सब कुछ देख समझकर मनुआ ने कहा– '' मैं गाँजा लेकर आता हूँ मथुरा से''।

जो उसकी शक्ति से परिचित नहीं थे हँस पड़े, किंतु जानने समझने वालों ने समर्थन किया और पाँच मिनट में मनुआ ने दुकान के बिल सहित गाँजे का पुड़ा सामने रख दिया। मनुआ का अधिकांश समय श्री महाराज जी के पास लक्ष्मण मंदिर में ही बीतता था।

एक दिन मनुआ स्वभावत: सहज ही गिरिराज तलहटी में घूम रहा था क उसकी दृष्टि गिरिराज जी के ऊपर खड़े एक महात्मा पर पड़ी। उनकी देह विशाल और तेजोमयी थी। मस्तक भव्य जटाजूट से शोभित और मुख मण्डल से किरणें सी छूट रहीं थीं। महात्मा के अलौकिक स्वरूप को बालक मनुआ स्तब्ध सा देखता रह गया । तभी महात्मा ने उसे समीप आने का संकेत किया और बोले- ''बालक! वहाँ क्या कर रहे हो? यहाँ मेरे समीप आओ।'' उनका संकेत पुकार सुनकर मन्त्रमुग्ध सा बालक मनुआ उनके पास चला गया। संत ने मनुआ को गोद में उठाया और उस सहित अंतर्हित हो गये।

मनुआ के घर न लौटने से उसके स्वजन चिंतित हो उठे। ढूँढने का शक्ति भर प्रयास किया किंतु कोई परिणाम न हुआ। निराश से हो गये सब, तब महीनेभर बाद एक दिन मनुआ घर लौट आया। पूछने पर उसने जो कुछ बताया वह अत्यन्त आश्चर्य जनक था। '' वे महात्मा जी सिद्ध योगियों की गोष्ठी के सदस्य थे। वे मुझे एक रहस्यमय प्रदेश में ले गये, वहाँ बहुत ऊँचे-ऊँचे मानो आकाश को छू लेने वाले पर्वत थे उन पर्वतों में बहुत सी गुफायें थीं। उन गुफाओं में ऋषि मुनि रहते थे, उनकी आयु का निर्णय करना कठिन था। न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गयीं हैं उनको वहाँ रहकर साधन भजन करते हुए उस प्रदेश में न भूख लगती है न प्यास, अगाध शांति का अनुभव होता है वहाँ। वे सभी संत साथ बैठकर आध्यात्म के नाना सिद्धान्तों और बारीकियों पर चर्चा करते हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन संतों के बीच श्री महाराज जी के विषय में चर्चा हुई, सभी ने प्रशंसा करते हुए इनके गुणों का बखान किया। मनुआ ने हर्षित होकर कहा- मुझे ऐसे दुर्लभ संतों के दर्शन और सत्संग का लाभ मिला।''

इस घटना के पश्चात् मनुआ की श्री महाराज जी के प्रति श्रद्धा निष्ठा और गुरुभाव और अधिक सुदृढ़ हो गया। उसे लगा जिन महाराज जी के गुणों की प्रशंसा सूक्ष्म जगत के ऋषिमुनि और योगी भी करते हैं वे कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। अपनी सादगी, सेवा और दैन्य में छिपे आलौकिक महापुरुष हैं। वहाँ से आने के पश्चात् मनुआ में बहुत सी सिद्धियाँ, आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रकट होने लगीं। वह अधिकतर श्री महाराज जी के समीप बना रहता, विद्यालय भी नहीं जाता। उसके पिताजी उसे पढ़ने के लिए विद्यालय जाने को कहते तो वह कहता- ''हम तो श्री महाराज जी से ही पढ़ेगे।'' उसके पिता द्विवेदी जी ने श्री महाराज जी से निवेदन किया कि -''यदि आप इसे विद्यालय जाने की आज्ञा देंगे तो यह पढ़ने जाने लगेगा।''

श्री महाराज जी के कहने पर वह विद्यालय जाने लगा। पिता की इच्छानुसार उसने दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर लीं। पढ़ने के लिए पुस्तकें लाने की बात चलने पर मनुआ बोला-''मुझे पुस्तकों की जरुरत नहीं है, उसके बिना भी मैं पढ़कर परीक्षा दे दूँगा।'' बिना ही पुस्तकों के अपने अंतर्ज्ञान के बल पर उसने परीक्षायें दी और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुआ। न चाहते हुए भी पिता की इच्छा और आग्रह से उसने नौकरी के लिए फार्म भरा- दूसरी औपचारिकतायें भी पूरी कीं। साक्षात्कार के लिए भी गया, वहाँ अधिकारी ने पूछा- ''भूगोल के विषय में कुछ बता सकते हो?

''कुछ क्या, मैं भूगोल और खगोल अन्य विषयों के बारे में भी सब कुछ बता सकता हूँ। कहकर मनुआ जब धारा प्रवाह रूप से भूगोल और खगोल के रहस्य वर्णन करने लगा जैसे सब कुछ अपनी आँखों से देखकर बता रहा हो तो परीक्षकों के मुख खुले के खुले रह गये। वे विस्फारित नेत्रों से इस अद्भुत प्रतिभाशाली बालक को चकित देखते रह गये अपनी यौगिक शक्तियों के बल पर ही उसने सारी परीक्षायें उत्तीर्ण कीं उसके पास किसी

कक्षा की कोई पुस्तक थी ही नहीं। मनुआ की नौकरी का कॉललेटर पाकर पिता बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने पुत्र के हाथ में नियुक्तिपत्र देते हुए कहा– " देखो बेटा! तुम्हारी नौकरी लग गयी।"

मनुआ को उस नियुक्तिपत्र अथवा नौकरी से क्या लेना देना था। उसकी देह संसार में रहती थीं किंतु संसार का लेशमात्र भी उसके हृदय में नहीं था। वह तो उस देश का वासी था जहाँ सृष्टि तत्व की गहन गुत्थियाँ सुलझाई जाती हैं, जहाँ भव रोग ग्रसित जीवों की औषधियों की शोध होती है और सृष्टि के मूल का साक्षात्कार करके अन्य पथभ्रष्टों को उचित पथ निर्देश के लिए जहाँ के लोग सदा तत्पर रहते हैं।

जो अपनी हृदयगुहा में स्थित अंतर्यामी को भाव साधना के बल पर नयन गोचर बनने–कृपापरवश होने को विवश देते हैं, जो उस आनन्द अंबुधि में निरन्तर मग्न रहते हैं। जो उस रूप माधुर्य का निरन्तर पान करते रहने पर भी कभी अघाते नहीं, जो जगत और देह सुध भूल अनुरागमत हो–"चरन छिदत काँटन तें स्त्रवत रुधिर सुधि नाहिं" झूमते–घूमते रहते हैं। "अणबोल्याँ होली उठै, बोलयाँ आवे न बोल" चुप रहने पर जिन्हें लगता है कि हृदय में होली जल रही है किंतु चाहने पर भी मुँह से बोल नहीं निकलता,

"नैण झरै मन तड़फड़ै तन नहीं माने कैण।

प्राणां में परलै हुवै, मुख नही आवै वैण।

नयन झरते रहते हैं मुँह से बात नहीं निकलती मन जाल में फँसे पक्षी की भाँति तड़फता है किंतु तन मन कोई बुद्धि का कहना नहीं मानते तो प्राणों में प्रलय तो निश्चित है ही इतने पर भी "फेर न जावै पापी प्राण" पापी प्राण देह छोड़कर निकलते नहीं। यही तो मजा है–

घायल ज्यूं पड़ पड़ उठै, झंझा प्रेम प्रचंड।

रैण दिवस जाने नहीं, एक आनंद अखंड।।

ऐसे देश के वासी कहीं नौकरी करते हैं भला?

उसने नियुक्ति पत्र फाड़ते हुए कहा– ''मुझे नौकरी नहीं करनी मैं तो केवल भजन करुँगा।''

जाहि लगन लगी घनस्याम की पग धरत............।

उसे तो साधना के उच्च से उच्चतर शिखरों पर आरोहण का नियुक्ति पत्र प्राप्त हो चुका था, एक दिन बालक मनुआ संसार परिजनों का बंधन छुड़ा हिमालय के रहस्यमय स्थलों की ओर चला गया।

एक बार सुदामा कुटी वृन्दावन में श्री मलूकपीठाधीश के सामने ही श्रीमहाराज जी से मिलने मनुआ आये थे। उन्होंने श्री महाराज को दण्डवत प्रणाम किया उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाहित हो रहे थे। कहाँ से आ रहे हो? श्री महाराज जी ने पूछा।

''हिमालय से आ रहा हूँ गुरुवर! आपका स्मरण हुआ– मिलने की उत्कण्ठा हुई सो चला आया। आपसे साधना सम्बन्धी कुछ समस्याओं का समाधान भी चाहिए था। यदि एकान्त में चर्चा का अवसर प्रदान करें तो बड़ी कृपा होगी। संकेत पाकर उस समय के भावी मलूकपीठाधीश कक्ष से बाहर हो गये। मनुआ के जाने के बाद उन्होंने श्री महाराज जी से उनके विषय में पूछा। उन्होंने बताया–''ये सिद्ध योगी है, योगबल से स्वेच्छानुसार कहीं भी आ जा सकते हैं।'' इसके साथ ही मनुआ के विषय में विस्तार पूर्वक बताया।

श्री मोहन भाई– मोहन भाई धांगध्रा गुजरात के रहने वाले थे और पूज्य श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली के अंतरंग शिष्य थे। मोहन भाई ने स्वयं अपने मुख से श्री

मलूकपीठाधीश को जो कुछ सुनाया वह इस प्रकार है–" मैं बार बार अवसर प्राप्त होते ही ब्रज में आया करता था एवं यहाँ संतों के दर्शन–सत्संग पाने का प्रयत्न करता रहता। एक बार पूज्य गुरुदेव पं. श्री भक्तमाली जी के श्री चरणों के समीप ताड़वाली कुंज में बैठा था। पूज्य गुरुदेव श्री भक्तबल्लभा टिप्पणी का अवलोकन कर रहे थे, मैने पूछा– "यह कौन सा ग्रन्थ है?"

"मोहन भाई! यह भक्तमाल ग्रन्थ पर लिखी गयी सुन्दर अत्यन्त उपयोगी टिप्पणी है। इसका नाम भक्तबल्लभा है, इसके लेखक बाबा गणेशदास जी विद्वान, अमानी और समस्त संतोचित गुणों से विभूषित हैं, वे तो जैसे भक्तमाल के स्वरूप ही हैं। इसी टिप्पणी से मैं आजकल भक्तमाल पढ़ाता हूँ। तुम्हें संतों के दर्शन सत्संग का उत्साह है, तुम लक्ष्मण मंदिर सब्जी मण्डी गोवर्धन जाकर इनका दर्शन करो।"

"मुझे दूसरे ही दिन गुजरात की यात्रा करनी थी, किंतु श्री गुरुदेव ने हृदय में एक बलवती उत्सुकता उत्पन्न कर दी अत: आज्ञा लेकर मैं सीधे गोवर्धन चला गया और सबसे पहले पं. श्री गया प्रसाद जी के दर्शन किये। सत्संग के उन्होंने भी कहा– "मोहन भाई! यहाँ गोवर्धन में एक युवा संत है, जो परम विद्वान होते हुए भी सर्वथा अमानी है। उन्होंने भक्तमाल पर टिप्पणी लिखी है। तुम तो सदा संत दर्शन के आकांक्षी रहते हो, तुम लक्ष्मण मंदिर जाकर उनका भी दर्शन करो।" सुनकर मैं भावविह्वल हो उठा। आचार्य कोटि के दो–दो महापुरुष जिनके दर्शन की आज्ञा दे रहे हैं, वे क्या सामान्य कोटि के संत होंगे? मैं भावसिंधु में गोते लगाता लक्ष्मण मंदिर जा पहुँचा।

अखाड़ा मंदिर के कुंए पर एक साधु रसोई के बर्तन, भगौना, परात, कढ़ाही, बाल्टी, कलछू, पलटा आदि मांज रहे थे, सिर पर लाल गमछा बांधे मात्र कौपीन पहने काम में लगे थे। मैंने उन्हीं से पूछा– "बाबा गणेशदास जी के दर्शन करने आया हूँ। पूज्य पं. भक्तमाली

जी का शिष्य हूँ।'' मेरी बात सुनकर वे उठे और भीतर ले जाकर मंदिर के जगमोहन में कम्बल बिछाकर मुझे बिठाया और बोले- ''आप विराजें-अभी आते हैं।''

मैं सोचता रहा- ''अभी ये महात्मा जाकर श्री महाराज जी को सूचित करेंगे फिर सुविधानुसार वे दर्शन देने की कृपा करेंगे। शायद थोड़ा समय भी लगे.........। वे महात्मा बर्तन माँज धोकर भंडारघर में रखने गये, लौटकर हाथ पैर मुँह धोया और एक लाल-लाल सा गमछा कमर में लपेटे मेरे सामने आकर भूमि पर ही बैठ गये। हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में बोले-''इस दास को ही गणेशदास कहते हैं। कहिए, क्या सेवा करुँ''

मैं आश्चर्य विमूढ़ सा देखता रह गया मुझे कल्पना भी न थी कि ब्रजमण्डल की श्रेष्ठतम विभूतियाँ दोनों ही पण्डितप्रवर जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए संत महापुरुष बताते हैं, वे इतने सरल, सहज और साधारण? एकदम आसन से उठकर साष्टांङ्ग करता मैं उनके चरणों में लोट गया। नेत्र, कंठ भर आये, कुछ कहने के लिए शब्द ही न मिले।''

आज भी उनका वह विनययुक्त स्वर-''इस दास को ही लोग गणेशदास कहते हैं। कहिए, क्या सेवा करुँ? स्मरण कर हृदय भर-भर आता है। मैंने उस समय पूछा था-''आप बर्तन माँज रहे हैं और संत सब सो रहे हैं। क्या ये सेवा नहीं करते? ऐसा क्यों? श्री महाराज जी ने उत्तर दिया-''सेवा लेने के लिए संत नहीं रखे जाते। संतों की तो सबसे बड़ी सेवा यही है कि वे पंगत में विराज कर प्रसाद पा लें। भक्तमाल सिद्धान्त के अनुसार भगवान इष्ट हैं और संत-भक्त-वैष्णव अतिइष्ट हैं। भगवान के इष्ठ संत हैं अतः हमारे इष्ट के इष्ट अति इष्ट हुए। इष्ट का चरणामृत, चरणरज और प्रसाद लिया जाता है, जैसे हम भगवान का लेते हैं। इसी प्रकार भगवान भी अपने इष्ट भक्तों का चरणामृत, चरणरज एवं प्रसाद ग्रहण करते हैं। श्री सुदामा जी इसके उदाहरण हैं। भगवान भागवत जी में कहते हैं-

निरपेक्षं मुनि शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणभिः।।11/14/16

"जो निरपेक्ष मननशील, शांत, निर्वैर और समदर्शी हैं ऐसे संतो के पीछे-पीछे मैं चलता हूँ जिससे उनकी चरणरज उड़कर मुझपर पड़े और मुझे पवित्र कर दे। भगवान भक्तों का सीथ प्रसाद भी लेते हैं-ग्वालबाल इसके उदाहरण है।" श्री महाराज जी की बातों को सुनकर लगा जो भक्तों संतों को अति इष्टका आदर देते हैं वही तो ये सच्चे भक्तमाली हैं।

सन् 1970 में श्री महाराज के सद्गुरुदेव पूज्य श्री सरपंच बाबा महन्त श्री रामचरणदास जी का साकेत वास हो गया। हनुमानगढ़ी के सरपंच को आपने आजीवन समलंकृत किया। रामानन्द सम्प्रदाय के सर्वमान्य वरीष्ठ संत के रूप में इनकी विपुल ख्याति थी। गढ़ी में इनके साकेत वास के उपलक्ष्य में विशाल उत्सव और भंडारा हुआ। श्री महाराज जी ने भी आपने गुरुदेव की स्मृति में लक्ष्मण मंदिर निर्वाणी अखाड़ा गोवर्धन में संत सेवा भंडारा का बहुत बड़ा आयोजन किया, इसमें ब्रज चौरासी कोस के सभी अखाड़ों के संत महान्तों ने भाग लिया। दानमान से सभी का यथोचित सत्कार कर श्री महाराज जी ने अपने गुरुदेव के चरणों में भावपूर्ण श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

श्री मनसुखलाल जी (कलियुगबाबा)- सुदामाकुटी निवासकाल में श्री महाराज जी के सम्पर्क में रहने वाले सभी संत अभिन्न परिकर थे। उनमें मनसुख लालजी बड़े विनोदी स्वभाव के थे। इनका नाम बाबा ब्रजमोहनदास जी था, ये सदा सबको हँसाते रहते थे। इसलिए रामायणी जी ने इनका नाम मनसुखलाल रख दिया था। ब्रजवासियों को अपना परिचय ये कलियुग बाबा के नाम से देते इसलिए वे लोग उन्हें इसी नाम से पुकारते। बाबा मनसुखलाल जी श्री सुदामादास जी महाराज को सतजुगबाबा कहा करते। अपने लिए निर्मल स्वभाव के कारण ये सबको प्रिय लगते। इनकी आगे पीछे की बातों का कोई मेल

न रहने से लोगों के समझ में नहीं आती। सुने हुए कथा प्रसंग को ये बार-बार दुहराते रहते। श्री यमुनाजी के प्रति दृढ़ निष्ठा थी। त्रिकाल यमुना स्नान करते, नित्य ही श्री वृन्दावन की परिक्रमा करते। कार्तिक, अगहन, वैशाख, ज्येष्ठ इन महीने में तो नियम पूर्वक परिक्रमा चलती। भक्त और भगवान को ये भिन्न नहीं मानते थे।

अपने ठाकुर जी की सेवा के लिए बाबा मनसुखलाल जी एक छोटी सिगड़ी रखते थे जिसमें मात्र चार पाँच कोयले ही समाते थे। उसी से बाबा के सारे काम हो जाते। भोग के लिए कटोरी में ही पकौड़ियाँ तल लेते और गिलास में अपने लिये चाय बना लिया करते जब कहीं से उन्हें सौ-दो सौ रूपये मिलते तो लाकर श्री महाराज जी के पास जमा करा देते, श्री महाराज जी ने उन्हें बाबा मनसुखलाल जी के खाते में लिख लेते। इसके बाद हर शनिवार-मंगलवार हनुमान जी को चोला चढ़ाने के लिए बाबा श्री महाराज जी से रूपये लेते रहते और यह क्रम चलता रहता।

बाबा की चाल बहुत तेज थी, वे केवल चालीस पचास मिनट में वृन्दावन की परिक्रमा कर लेते। उनके साथ चलना दूसरों के लिए दुष्कर कार्य था। कभी-कभी इच्छा होने पर वे पैदल ही मथुरा चले जाते वहाँ द्वारिकाधीश और भूतेश्वर के दर्शन करके पैदल ही गोवर्धन आते और श्री गिरिराज जी की परिक्रमा करके बरसाना, प्रेमसरोवर, नंदगाँव आदि सबका दर्शन करके कोसी के रास्ते वापस वृन्दावन चले आते। अनुमानतः यह यात्रा डेढ़ सौ किलोमीटर तक की है, बाबा एक ही दिन में इतनी दूरी तय कर लेते। इस बात पर सहज विश्वास करना कठिन है किंतु बाबा के लिए तो यह सहज ही था। श्री महाराज जी से इस विषय में पूछने पर कहते- ''बाबा सिद्ध पुरुष हैं।'' एक बार श्री मलूकपीठ वाले महाराज जी ने इनसे पूछा-''आपको इतने वर्ष वृन्दावन में रहते हुए हो गये। आपको भगवान के दर्शन हुए?

गदगद कंठ बाबा बोले– ''हाँ हुआ है। आप ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण भगवान का ही रूप होता है। इसलिए आपको सत्य सत्य कह रहा हूँ– सुदामाकुटी में ठाकुर जी को पंखा झलते समय मुझे उनके त्रिभंग स्वरूप के दर्शन हुए, तब से वे सदा मेरे साथ ही रहते हैं। इतना कहते–कहते बाबा फूट–फूट कर रो पड़े।

बाबा श्री मनसुखलाल जी की श्री महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा थी। श्री महाराज जी की चर्चा करते हुए उनके नेत्रों से आँसू बहने लगते, वे कहते–''हम धन्य हैं जो हमें श्री महाराज जैसे महापुरुष का साथ मिला।''

श्री रामचन्द्रदास जी (बड़े पुजारी जी)–हम पहले चित्रकूट वाले श्री रामचन्द्र दास जी पुजारी जी की चर्चा कर चुके। ये श्री सुदामाकुटी में ठाकुर जी के पुजारी रहने के कारण श्री रामचन्द्र दास जी बड़े पुजारी जी कहलाये। श्री महाराज जी के प्रति इनके मन में बड़ी श्रद्धा थी। गेंहुआ रंग और लम्बे चौड़े शरीर वाले रामचन्द्रदासजी सुदामाकुटी के ठाकुर जी की सेवा बड़े प्रेम निष्ठा से करते थे। सेवा से बचे समय में वे श्री महाराज के समीप बैठ अपनी हजार मणियों वाली माला से जप करते रहते अथवा भगवद्चर्चा करते। श्री महाराज जी के पास रहने वाले ब्रह्मचारी–विद्यार्थी उनके चरण और देह का सम्वाहन किया करते।

पुजारी जी की जांघ में एक बार फोड़ा निकल आया, जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि पुजारी जी को कैंसर है। वृन्दावन के रामकृष्ण मिशन में उनको श्री महाराज जी ही लेकर जाया करते थे। कैंसर का पता चलने पर डॉक्टरों ने हाथ उठा दिये आप इन्हें चाहे जहाँ के डॉक्टरों को दिखाइये हमारे लिए इनको ठीक करना असम्भव है क्योंकि इनको कैंसर है। बड़े पुजारी जी को बड़ा दर्द रहता, घाव से पीब निकलता रहता। कैंसर की बात सुनकर वे मानसिक रूप से भी दु:खी निराशप्राय: हो गये। डॉक्टरों की बात सुन श्री महाराज जी

बोले–''डॉक्टरों का इलाज बहुत हो चुका अब पुजारी जी की चिकित्सा भगवत्कृपा से हम करेंगे।''

श्री महाराज जी दूसरे दिन से स्वयं नीम की पत्तियाँ तोड़कर लाते उन्हें जल में उबालकर काढ़ा सा बनाते। उस काढ़े से पुजारी जी का घाव धोते और नीम की छाल घिसकर लेप तैयार करते उसमें नीम के पत्तों की पीट्टी बना और मिलाकर घाव में भरकर ऊपर से पट्टी बाँध देते। यह सब काम श्री महाराज जी स्वयं अपने हाथों से करते, इतना ही नहीं बड़े पुजारी की पीब से सनी हुई पट्टियाँ भी स्वयं अपने हाथों से धोते। यह सब देखकर एक दिन पुजारी जी रो पड़े– ''महाराज जी! ऐसी सेवा तो मुझे जन्म देने वाली माँ ने भी नहीं की। आप नित्य दो घंटा बिना दुर्गन्ध की परवाह किये मेरी कौपीन तक धोते हैं।'' कहकर वे फूट–फूट कर रोने लगे। श्री महाराज जी ने मीठे वचनों से उन्हें धैर्य बंधाया और स्वयं धैर्य पूर्वक सेवा करते रहे। नीम के गुण तो सब जानते ही हैं किंतु खास बात थी श्री महाराज जी के संकल्प की।

महापुरुषों संकल्प से होनी अनहोनी में बदल जाती है, बदल जाते हैं विधाता के लेख और बदल जाती है कर्मों की स्वभाव की जोंक सी कठिन गति।

श्री महाराज का सत्य संकल्प नीम के गुणों से कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। जिस घाव को प्रयोगशाला की विधि पूर्वक की गयी जांच में कैंसर सिद्ध कर दिया गया था, वही घाव धीरे–धीरे सूखने लगा और कुछ समय बाद वह ठीक भी हो गया। बड़े पुजारी जी पहले की भाँति स्वस्थ होकर कई वर्षों तक जीवित रहे।

यह घटना आश्चर्य जनक तो है ही एक महापुरुष के संकल्प शक्ति का छोटा सा उदाहरण भी प्रकट करती है। छोटा उदाहरण इसलिए कि महापुरुषों का संकन्प अमोर्घ होता है वे तो मनुष्य को, जीवों को भव रोग से छुड़ा देते हैं। एक फोड़ा भले वह कैंसर का हो

किस गिनती में है? शेर के लिए शशक का शिकार, हाथी के लिए टमाटर का पौधा उखाड़ना और प्रबल वात्याचवु के लिए घास के तिनके को उड़ाना कहिये तो किस गिनती मे है?

बड़े पुजारी जी को जब कभी गोवर्धन परिक्रमा की चाह होती श्री महाराज जी उन्हें लेकर गोवर्धन जाते और दोनों साथ-साथ पहले दिन राधाकुण्ड की और दूसरे दिन पूंछरी जतीपुरा की परिक्रमा पूरी करते और फिर लौट आते समय रहते वृन्दावन। अपने अत्यन्त सादे-साधरण परिवेश से ढके श्री महाराज जी के प्रभाव को प्रकट करने वाली एक और घटना- बड़े पुजारी जी स्थूलकाय थे अतः एक साथ अधिक नहीं चल पाते थे। एक बार ऐसे ही परिक्रमा करते हुए वे थक रहे थे अतः महाराज जी और पुजारी जी दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गये। वहीं पास के एक वृक्ष के नीचे एक ओर पति पत्नी बैठे थे उनके साथ उनकी किशोरी पुत्री भी थी और वह निरंतर रो रही थी। उसे रोते देख बड़े पुजारी जी ने पूछा कि "यह बालिका क्यों रो रही है?" उसके माता-पिता ने बताया -"हम लोग गुजरात से आये हैं। इस लड़की का एक महीने से खाना पीना छूट गया है और रात-दिन यह ऐसे ही रोती रहती है। इसे कृष्ण दर्शन की लगन लगी है, इसी लालसा ने इसके दिन का चैन और रात की नींद छीन ली है इसी तड़फन ने दी है इसे अखण्ड प्रलाप और रुदन की सौगात। इसकी ऐसी अवस्था हमसे देखी नहीं जाती इसलिए ब्रज में लेकर आये हैं। कृपा करके आप कोई ऐसे संत बताइये जो इसे श्रीकृष्ण का दर्शन करा सकें।"

उस लड़की के माता-पिता की बात सुनकर बड़े पुजारी को बड़ा आश्चर्य हुआ-"आज के जमाने में भी ऐसे प्रेमी हैं?" वे यह सोच ही रहे थे कि उस लड़की ने श्री महाराज जी की ओर देखा और एकदम से उनके चरण पकड़ लिये रोती हुई कहने लगी-" कृपा करके मुझे प्यारे श्यामसुंदर के दर्शन करा दीजिए।"

बड़ी अजीब बात थी, देखने में तो भव्य वपु पुजारी जी थे। लम्बी-चौड़ी स्थूलकाय देह, विशाल भाल पर दमकता तिलक और श्वेत दाढ़ी मूछों से मण्डित मुख। श्री महाराज जी तो सर्वथा सीधे-सादे साधारण देहयष्टि। किंतु ''उस देश के वासियों की प्रेमियों की नजर दूसरी ही तरह की होती है। जैसे गुजराती गुजरातियों को राजस्थानी राजस्थानियों को और विदेश में भारतीय भारतीयों को भले जान पहचान न हो पहले से किंतु चालढाल, बोल-चाल पोशाक और व्यवहार से जान ही जाते हैं, वैसे ही भक्त, संत और प्रेमी एक दूसरे को पहचान ही लेते हैं। इसी न्याय से उस लड़की ने श्री महाराज जी के चरण पकड़ लिये और अपने प्राण प्रियतम के दर्शन कराने की विनती करने लगी। कुछ देर बाद श्री महाराज जी ने उस बालिका का हाथ पकड़कर खड़ा कर दिया और गिरिराज जी की ओर संकेत करते हुए बोले-''क्यों रो रही हो, वह देखो सामने गिरिराज जी पर श्री कृष्ण-बलराम गौचारण कर रहे हैं।'' उस लड़की की प्यासी नजरें श्री गिरिराज जी की ओर उठ गयीं-गोपियों के प्राण सर्वस्व, नन्द यशोदा के अंकधन, वह सौन्दर्य सिंधु निहार कर भी कोई आपा सम्भाल पाता है?

श्री महाराज जी ने पूछा-''क्या देख रही हो?''

''हजारों गायों के बीच खड़े श्रीकृष्ण बलराम के दर्शन .....।''

अनजाने ही डगमग पदों से वह प्रियतम की ओर बढ़ी। कुछ पद, कुछ ही पद बढ़ा पायी उस ओर और मूर्छित गिर पड़ी भूमि पर ।

श्री महाराज जी जैसे कुछ भी न हुआ हो- कुछ भी न जानते हों इस प्रकार परिक्रमा मार्ग पर आगे बढ़ गये। लोकेषणा से सर्वथा अछूते श्री महाराज जी ने बड़े पुजारी जी के साथ मानसी गंगा पर कनक भवन आश्रम पहुँच कर विश्राम किया। उस लड़की का कोई समाचार फिर नहीं मिला। गोवर्धन से लौटकर बड़े पुजारी जी ने यह घटना सुनायी थी।

बाद में जब बड़े पुजारी जी को लकवा हो गया तब भी श्री महाराज जी ने उनकी सेवा की और पास बैठकर शास्त्र चर्चा, भगवद्‌चर्चा और भक्त कथायें सुनाकर आनन्द देते। पुजारी जी की अंतिम क्षण तक सेवा करते रहे।

श्री व्यास जी- श्वेत वस्त्र की ब्रह्मगाती .....वेष्ठित देह, तेजोयुक्त गौर शरीर ऊर्ध्वपुण्ड तिलक शोभित विशाल भाल, श्वेत शाश्रु, तुलसी मालाओं से भूषित कंठ और जपमाला झोली मंडित कर जब वे मंदिर में श्री रघुनाथ जी के सम्मुख आसन पर आसीन होते-लगता- श्री राम दरबार में राजगुरु श्री वशिष्ठ जी विराजमान हैं।

''व्यास जी के नाम से प्रसिद्ध पुजारी श्री भगवानदास जी मानो सुदामाकुटी की मूर्तिमान शोभा थे। व्यास जी की यमुना जी में विशेष श्रद्धा थी, वे त्रिकाल यमुना स्नान करते। देखने पर लगता है-जमुना जल मैला-प्रदूषित है, वृन्दावन स्थित साड़ी फैक्ट्री का कैमिकल युक्त कभी किसी और कभी किसी रंग के मिल जाने से जल का रंग भी बदल जाता। किंतु व्यास जी के लिए तो श्री यमुना सदा विमला, अमला, निर्मला ही थीं। वे सदा उत्साह युक्त हो स्नान करते, एक बार श्री मलूकपीठाधीश जो सम्भवतः उस समय विद्यार्थी ही थे व्यास जी के साथ ही स्नान करने पधारे। उस दिन यमुना जी का जल लाल रंग का हो रहा था, उसे देख उन्होंने व्यास जी से खेद भरे स्वर में कहा- ''देखिये न महाराज जी, समय के आवर्त से यमुना जल कितना दूषित हो गया है। आज तो रंग भी बदल कर लाल हो गया है।''

सुनकर व्यास जी के नेत्र भर आये कहा-''आप तो विद्वान पंडित हैं, आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। श्री यमुना जी तो साक्षात श्रीकृष्ण की पटरानी है, उनमें भला विकृति कैसे सम्भव है? वे तो सच्चिदानंदमयी सदा अमला है। विकृति हमारी दृष्टि में हैं, विकृति हमारे मन में है, मन की विकृति हमें बाहर दिखाई देती है। पंडित जी! मातायें समय-समय

पर भिन्न-भिन्न रंगो की साड़ियाँ बदलती रहती हैं। वैसे ही आज श्री यमुना जी ने लाल साड़ी धारण की है।''

वाह कैसी अनुपम निष्ठा: नेत्रों से देखकर भी जिसकी निष्ठा डिगती नहीं वही तो सच्ची निष्ठा है। अनेक बार व्यास जी श्री मलूकपीठ वाले महाराज जी को समझाते थे- ''बड़े भाग्यशाली हैं पंडित जी आप! ऐसे घोर कलियुग में श्री महाराज जी जैसे परम समर्थ गुरुदेव प्राप्त हुए हैं आपको। ऐसे महापुरुष कभी कभार ही आते हैं धरा की गोद को अलंकृत करने को, हमें तो श्री रघुनाथ के परम मंगलमय गुण श्री महाराज में दिखाई देते हैं। निश्चिंत होकर पड़े रहो उनकी चरण छाया में अवश्य ही कल्याण हो जायेगा।

गुरु पूर्णिमा पर व्यास जी श्री महाराज जी की चंदन, माला, फल-फूल द्वारा विधिवत् आरती, पुष्पाञ्जली से पूजा करते उस समय की उनकी भावस्थिति कैसे कहते बने?

श्री महाराज जी भी विभोर हो विग्रह से विराजमान हो उनके भावसुमन ग्रहण करते रहते। दोनों का परस्पर प्रेम अकथनीय था। श्री महाराज जी का कथन था- ''श्री नाभा गोस्वामी जी ने अपने गुरुदेव स्वामी श्री अग्रदेवाचार्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसकी झलक श्री व्ययास जी के जीवन में दिखाई देती है।''

श्री अग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो।।

सदाचार ज्यों संत प्राप्त जैसे करि आये।
सेवा सुमिरन सावधान चरन राघव चित लाये।।
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर।
रसना निर्मल नाम मनहुं वर्षत धाराधर।।
कृष्णदास कृपा करि भक्तिदत्त मन वच क्रम करि अटल दयो।
श्री अग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं वित्तयो।।

श्री मलूकपीठाधीश लिखते हैं–''श्री महाराज जी के नाते इस दास पर भी व्यास जी का अपार अनुग्रह था। एक बार आप मंदिर में विराजमान थे। यह दास प्रणाम करने गया, चरणामृत लेकर चलने लगा तो रोकते हुए बोले–''एक बात कहें अन्यथा तो नहीं मानोगे?''

दास ने निवेदन किया–''बिना संकोच आज्ञा करें, बड़ी कृपा होगी।''

व्यास जी बोले–''जब कभी आप यहाँ श्री ठाकुर जी को भक्तमाल कथा सुनाते हैं तो आप पर गुरुकृपा का स्पष्ट अनुभव होता है। आप सद्‌गुरु कृपा भाजन हैं, आपको गुरुचरणरज, गुरुचरणामृत और गुरु अधरामृत प्रसाद प्राप्त है। इतनी कृपा प्राप्त करके अब आप भूलकर भी संसार में मत फँस जाना अन्यथा बहुत पछतावा होगा। वैसे तो मैं किसी का चिन्तन नहीं करता किंतु जब मंदिर में श्री किशोरी जी का श्रृंगार करता हूँ तो श्री महाराज जी के नाते तुम्हारी स्मृति सहज ही आ जाती है और मैं मन ही मन श्री किशोरी जी से प्रार्थना करता हूँ कि– ''हे करुणामयी! हमारे पण्डित जी को आजीवन आप अपने चरणों में–संत सद्‌गुरु चरणों में ही रखना, ये भूलकर भी संसार की ओर न जाय।'' कहते–कहते व्यास जी का कंठ भर आया, नेत्र सजल हो उठे। दास भी संत कृपा–करुणा का परिचय पा गद्‌गद हो उनके चरणों में मस्तक रखते हुए बोला–''आप जैसे रसिक संत श्री किशोरी जी के चरणों में जिसका पुरस्कार करते हैं वह प्रवृत्ति की ओर कैसे जायेगा?''

जिस दिन कार्तिक पूर्णिमा को दास को विरक्त वेष प्राप्त हुआ–ज्वाराक्रांत रुग्ण वृद्ध देह पर भी वहाँ पधारे और प्रसन्न मन दोनों हाथ मस्तक पर पधराकर आशीर्वाद दिया– ''आपका विरक्त जीवन सफल हो।''

श्री यमुना जी के प्रति अनन्य निष्ठा होने के कारण उनकी इच्छा थी कि–''मेरे शरीर को जल समाधि दी जाय।'' चैत्र शुक्ल चतुर्थी को जब मंदिर में आरती के समय घंटे, नगाड़े और शंख की मंगल ध्वनि हो रही थी उस समय रात्रि आठ बजे वे धरा धाम छोड़ साकेत पधारे।

यमुना में जल कम था इसलिए प्रातः अग्निसंस्कार करने का निश्चय हुआ। दूसरे दिन देह को संस्कार के लिए जैसे ही यमुना तट पर लेकर पहुँचे– अकस्मात ही श्री यमुना में जल बढ़ गया। संतो के लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। अब तो उनकी इच्छानुसार जल समाधि दे दी गयी तभी एक आश्चर्य और घटित हुआ– व्यास जी की देह के जलमग्न होते ही एक बोरा ताजे गुलाब, बेला आदि के पुष्प और तुलसीदल जाने कहाँ से प्रकट होकर जल पर तैरने–बहने लगे। ऐसा लगा मानो उनकी देह ही पुष्पों के रूप में परिणित होकर जल पर प्रवाहित हो रही हो। इस घटना को व्यास जी के संस्कार में आये सभी संत अवाक् होकर देख रहे थे।

श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली– परम पूज्य पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली नवीन युग में भक्तमाल जगत के भीष्मपितामह कहे जाते हैं। बहुत से संतों भक्तों को भक्तमाल पढ़ाया और स्वयं जीवन के अधिकांश काल में भक्तमाल की कथा करके जैसे भक्तमाल युग की स्थापना की। आज जितने भी भक्तमाल के कथाकार हैं वे सब इनकी शिष्य परंपरा से ही है।

श्री पंडित जी का जन्म विक्रम संवत् 1955 में मध्यप्रदेश के गुना जिले के चाचौड़ा गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम आशाराम जी और माता का नाम फूलबाई था, ये गुर्जर गौड़ ब्राह्मण थे। बचपन से ही ये जहाँ कथा कीर्तन होते तन्मय होकर सुनते। कीर्तन करते थे। पिता से मिले पैसों से ये कागज खरीद लाते और उन पर श्रीमद्भागवत के श्लोक लिखा करते पंडित जी की माता जी भक्तिमय और साहसी थीं। एक बार वे अपने पिताजी के साथ पीहर जा रही थी। पथ पर एक शेर दिखाई पड़ा, भय से भागने के स्थान पर वे साहसपूर्वक खडीं होकर सिंह से बोलीं मैं ब्राह्मणी हूँ, रास्ता छोड़ दो अन्यथा मेरे हाथ में तलवार है ....।

सिंह पथ छोड़ कर वन में चला गया।

मिडिल कक्षा तक पढ़ करके ये अध्यापक हो गये । जिला रायगढ़ के श्री नंदलाल शर्मा की पुत्री सुश्रीयमुनाबाई से श्री पंडित जी का विवाह सम्पन्न हुआ। पं. जगन्नाथ प्रसाद जी के मौसेरे भाई श्री लक्ष्मीदास जी वृन्दावन वास करते थे। ये कभी-कभी चाचौड़ा जाया करते थे। ये पंडित जी को वृन्दावन की बातें सुनाया करते थे। श्री यमुना, वंशीवट, लता-निकुंञ्जें, कुंजगलियाँ, देवालय और सदा उत्सवमय वृन्दावन यहाँ के रसिकसंतो के वैराग्य, भजननिष्ठा और रहनी-करनी का वर्णन सुन श्री पंडित जी भाव विभोर हो अकुला उठते वृन्दावन के लिए। वे सोचते श्री नागरीदास जी की तरह-

कब वृन्दावन धरनी में चरन परैंगे जाय।
लौटि धूरि धरि सीस पै कछु मुख हू में पाय।।
कबै झुकत मो ओर को ऐहैं मदगज चाल।
गरबाही दीन्हें दोऊ प्रिया नवल नंदलाल।।

पाठशाला में बालकों को पढ़ाने का ढंग भी इनका अपना अलग ही था। विद्यालय के पाठ्यक्रम के विषय पढ़ाने के बाद ये विद्यार्थियों को धार्मिक कथायें सुनाते। कीर्तन करवाते और विद्यालय का समय समाप्त होने पर बालकों को नेत्र बंद करके ध्यान करने को कहते।

एक दिन विद्यालय के निरीक्षक अधिकारी आ गये। विद्यालय की छुट्टी हो जाने के कारण सारी कक्षायें खाली हो चुकी थीं। वह अधिकारी घूमते हुए पंडित जी की कक्षा में आया वहाँ का दृश्य देखकर वह चकित खड़ा रह गया।अध्यापक पंडित जी स्वयं नेत्र मूंदे ध्यानस्थ थे और विद्यार्थी भी जैसे उनकी लघु अनुकृतियाँ हों इस प्रकार बैठे थे। अधिकारी

महोदय उस वातावरण से सम्मोहित से खड़े रहे। जब पंडित जी के नेत्र खुले तो अधिकारी ने उन्हें प्रणाम किया और बोले– ''गुरुजी आप धन्य हैं। आपको इस विद्यालय का प्रधानाध्यापक बनाया जाता है और वेतन के अतिरिक्त बीस रूपये प्रतिमाह मेरी ओर से स्वीकार करें। पंडित जी को आठ रू प्रतिमाह वेतन मिला करता था। एकाएक दुगुने से अधिक वेतन मिलने की बात पर कौन प्रसन्न प्रलोभित न होगा?

किंतु पंडित जी क्या सामान्य पुरुष थे जो इस छोटी सी भौतिक उन्नति पर रीझ पड़ते? ठाकुर जी तो उनकी नियुक्ति भक्तमाल पाठशाला के प्रधानाध्यापक के रूप में करना चाहते थे। यह बड़ी अटपटी बात है जब प्रत्यक्ष उन्नति को मनुष्य ठोकर मार देता है तो जगत के देखने सुनने वाले लोग उसे मूर्ख मान लेते हैं। क्योंकि उन्हें जिसमें लाभ प्रतीत होता है, ठोकर मारने वाले को वह सर्वथा हानि लगती है। सोचते होंगे लोग–'' भला ऐसा कैसे हो सकता है?'' होता है भाई! होता है। साँप का जहर चढ़ने पर नीम के भी पत्ते मीठे लगने लगते हैं और विष उतर जाने के बाद उसी नीम के पत्ते कड़वे लगते हैं।

हमको भी संसार के विषयों का, आसक्ति का विष चढ़ा हुआ है इसलिए पैसा सर्वोपरि लगता है। किंतु जिसे आध्यात्म का, हरिनाम का और भक्तकथामृत का नशा चढ़ जाता है उसके लिए जगत और उसके विषय, सुख सुविधायें उपेक्षणीय और कभी-कभी घृणित भी हो जाती हैं।

पूज्य पंडित जी भी ऐसे ही हरिभक्त रसिकों के भाई बंध उन्हीं की बिरादरी के थे अतः यह बीस रू० का उत्कोच उन्हें कैसे प्रलोभित कर पाता? उन्होंने विनम्र भाव से कहा–''मैं अपने वर्तमान वेतन से संतुष्ट हूँ। आठ रू० से मेरा काम आराम से चल जाता है। भजन भी हो ही रहा है, अधिक पैसा और अधिक काम भजन में बाधक होगा। आप मुझपर कृपा करें।''

बेचारे अधिकारी महोदय ने ऐसी बात कभी कहाँ सुनी होगी? इस अर्थयुग में तो पैसा माँ, बाप, भाई, बंधु और मित्र ही नहीं ईश्वर, प्रभु भी हो गया है।'' यह ....यह...... कौन है? महामानव कि मूर्ख? नहीं, मूर्ख तो निश्चित ही नहीं हो सकता, अवश्य ही यह महामानव है कुछ क्षण पूर्व देखी पंडित जी क्री ध्यानस्थ मूर्ति इसका प्रमाण थी। अधिकारी महोदय के मनोमस्तिष्क ने निर्णय दिया और वे एक बार पुनः साष्टाङ्ग लोट गये। पूज्य पंडित जी के चरण प्रांत में।

भाई लक्ष्मीदास जी के सत्संग से वृन्दावनवास की चाह पंडित जी के मन में दिनों-दिन प्रबल होती चली गयी और जिसे वृन्दावन अपनी ओर खींचे उसे रोकने का है कोई उपाय? नौकरी छोड़ पत्नी सहित वृन्दावन आकर परमरसिक नृपति स्वामी हरिदास जी महाराज की परम्परा में टटिया स्थान के महान्त स्वामी श्री भगवानदास जी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय तक पं. रामप्रसाद जी द्विवेदी से संस्कृत का अध्ययन करके भागवत कथा करने लगे। कथा के मध्य प्रेमी संतो के पदों का गान करते, कंठ मधुर था, श्रोतामुग्ध हो जाते।

वृन्दावन आने के तीन वर्ष पश्चात् टोपी कुंज के पूज्य महान्त श्री माधवदास जी महाराज से श्री भक्तमाल ग्रंथ का विधिपूर्वक अध्ययन किया। पंडित जी अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए ही नहीं पढ़ रहे थे, वे ज्यों-ज्यों अध्ययन में आगे बढ़ते भागवत और भक्तमाल के मूल सिद्धान्त ''भक्ताराधन'' उनके हृदय में उतर रक्त में मिल गया। ''भक्तभक्ति भगवन्त गुरु..........।'' का सिद्धान्त रक्त से उतर कर व्यवहार में समा गया। इस प्रकार वे स्वयं मूर्तिमंत भक्तमाल हो गये। उन्होंने भक्तमाल कथा और जिज्ञासुओं को भक्तमाल पढाना आरम्भ कर दिया इस प्रकार वे ''भक्तमाली'' नाम से प्रख्यात हुए।

संग्रह परिग्रह से सर्वथा रहित अपनी छोटी सी गृहस्थी पत्नी यमुनाबाई और पुत्री वृन्दावनी के साथ वृन्दावन धाम की ताड़वाली कुंज में संतोषपूर्वक भजन करते हुए निवास करने लगे। पुत्री विवाह के पश्चात् केवल सोलह वर्ष की आयु मे वैधव्य दु:ख से दग्ध हो अपने दो पुत्रों रसिक और अनूप के साथ लौटकर पिता के पास रहने लगी। लाली जीजी (वृन्दावनी) के मुख से सुना जब पंडित जी बरसाने में भक्तमाल की कथा कर रहे थे– किसी ने उन्हें जामाता के देहान्त का समाचार दिया, सुनकर कहा–"भाई! कथा तो पूरी करनी पड़ेगी।" कथा विश्राम के पश्चात् वे मथुरा पुत्री के घर गये। जीजी ने कहा– "मैं पंडित जी के गले लग कर रो पड़ी।" उन्होंने सिर पर, पीठ पर हाथ फेरते हुए अविचलित कंठ मधुर स्वर में कहा– लाली हम तो अपने बिहारी जी के हैं वे जैसे चाहे रखें, हमें उन्हीं की प्रसन्नता में प्रसन्न रहना है।" उनके साथ आने वाले संत उनका धैर्य और निर्भरता पूर्ण बात सुनकर चकित रह गये। विपत्ति–दुख, इनका नाम सुनकर ही साधारण लोगों के प्राण सूख जाते हैं। विपत्ति अग्नि है, इसका छोटा–मोटा अनुभव सभी को अपने जीवन में होता ही है। विपत्ति तेज बहाव वाली नदी की बाढ़ है जो बड़े–बड़े भूधरों को तोड़ फोड़कर बहा देती है। पैर जमने नहीं देती। बड़े–बड़े दिग्गज इसमें पड़ धैर्य, धन और धर्म गँवा बैठते हैं। विपत्ति भयंकर वात्याचक है। इसकी चपेट में सिर के ऊपर की छत तक उड़ जाती है। दु:ख जब–जब विपत्ति की उपल वृष्टि होती है, दु:ख का भूधर हृदय के धैर्य और धर्म को डिगा देता है। मनुष्य धैर्यहीन हो धर्म और नीति का अवलम्बन छोड़ जिधर भी बचने के छोटे–मोटे गलियारे दिखाई दें भाग छूटते हैं, भले वे गलियारे आगे बन्द मिलें।

जो विपत्ति के समय धैर्य को हाथ से छूटने नहीं देते, धन भले छूट जाय धर्म भी उसे नहीं छोड़ता और तब .... तब विपत्ति की अग्नि के बीच से वह मनुष्य तपे हुए स्वर्ण सा देवपुरुष होकर निकलता है। उसकी चौंध से लोगों की आँखें आदर से झुक जाती हैं

विपत्ति की तेज बाढ़ में वह अवलम्बनहीन दिखाई देने पर भी हिमगिरि सा अटल खड़ा दिखाई देता है। उसकी मुस्कराहट लोगों के दु:ख हर लेती हैं।

विपत्ति को वात्याचक्र में धन धाम विहीन होने पर भी जो सघन वटवृक्ष से धैर्य की जड़ों द्वारा धर्म की धरा को दृढ़ता पूर्वक थामें रहते हैं वे दु:ख के आतप में तपे प्राणियों को छाया सुलभ करते हैं। दु:ख -विपत्ति, कसौटी है मनुष्य की, यह तो सभी जानते हैं किंतु यह मन को माँज धोकर सोने सा चमका भी देती है। वह बात सम्भवत: सुख सेज का उपभोग करने वाले न जानें पर जो भुक्तभोगी हैं वे जानते हैं। जो विपत्ति में धैर्य-धर्म का साथ छोड़ देते हैं उनका क्या होता है? अग्नि में चट-चट करके किसी के हाड़ जलते देखे होंगे आपने, बाढ़ में बहते टूटे तरुवर और आँधी में उड़ते तिनके भी देखे होंगे। उनके हृदय में जलती अशांति की अग्नि कभी ठंडी नहीं होती। भले उनके होंठ मुस्कुराते नजर आयें।

और फिर विपत्ति कभी स्थाई नहीं होती, किंतु उतने ही काल में मनुष्य की परख भी हो जाती है और वह बन-बिगड़ भी जाता है और जो पहले से ही बना हुआ हो? वे ही पंडित जगन्नाथप्रसाद भक्तमाली होते हैं। वे शांति के दृढ़ ऊँचे भूधर हैं। मनुष्य के लिए बेटी का मरना बड़ा दु:ख है, किंतु उससे भी बड़ा दु:ख है जामाता का जाना, पुत्र को अग्नि देना और वृद्धावस्था में पत्नीविहीन होना।

कथा कहते समय पंडित जी कथा वस्तु, पात्र और परिस्थिति में तन्मय-तादात्म्यता प्राप्त कर लेते थे। वे कथा को, चरित्र को स्वयं जीते-भोगते थे। मुख से जो कुछ निकलता वह सब उतने समय में स्वयं उनके साथ घटी हुई बात होती। इसलिये वे कथा इतनी प्रभावी हृदय में बैठ जाने वाली होती। कथा के समय पंडित जी की देह दिखाई देती वाणी सुनाई देती पर वे.... वे न होते, वे चरित्र के विभिन्न पात्र होते। वे उन्हीं के समान रोते, गाते और हँसते। धीरे-धीरे पं. भक्तमाली जी खो से गये, रह गये सचल जीवंत मूर्तिमंत भक्तमाल।

इसलिए कथा इतनी सरस होती इसलिए उनकी कथा के श्रोता केवल साधारण जन ही नहीं होते श्री उड़ियाबाबा, श्री हरिबाबा, श्री आनन्दमयी माँ जैसे सिद्ध संतजन भी हुआ करते थे। तन्मयता ऐसी–

श्रीकृष्णजन्म स्थान मथुरा भागवत भवन का उदघाटन महोत्सव हो रहा था। फाल्गुन महीना दिन के तीन चार बजे घनघोर वर्षा आरंभ हुई और यमुना पार कहीं बिजली गिरी प्रचण्ड शब्द हुआ। सारे श्रोता चौंक पड़े किंतु पीठासीन पंडित जी की तन्मयता भंग न हुई, वे जैसे बोल रहे थे–बोलते रहे।

एक बार कथा से लौट रहे थे, कथा में मिली टोकरी में फल, मिठाई, कुछ पात्र और चाँदी के पंचपात्र भी थे। रिक्शे वाले की आवश्यकता जान पूरी टोकरी उसे देकर खाली हाथ घर में चले आये। किंतु खाली हाथ ? हाथ भले रिक्त दिखाई दे किंतु ऐसे कर्मों से हृदय का भंडार नित्यप्रति उतरोत्तर अधिकाधिक भरता जाता था। निर्लोभ, निर्वैर, निर्लेप, निर्भय, निर्भर, तितिक्षा, करुणा, उदारता, क्षमा, दैन्य, सत्य और सहनशीलता के वे मूर्तिमंत स्वरूप थे। परम पूज्य श्री मामाजी महाराज ने लिखा है–

वचन करम मन परम पवित्र संत।

सद्गुरु हमारे मूर्तिमान भक्तमाल थे।।

कभी–कभी पंडित जी अपने जन्मस्थान चाचौड़ा भी जाया करते थे, वहाँ बस्ती से दूर बागेश्वर नाम का सुरम्य स्थल है। पर्वतों से घिरे इस स्थान पर कई मंदिर और दो बड़े जलकुंड हैं। एक धर्मशाला भी है जिसमें कभी कभार घूमते–फिरते कोई महात्मा आकर ठहर जाते थे।

पंडित जी भी चाचौड़ा आने पर दोनों समय बागेश्वर अवश्य जाते थे। एक बार जाने पर देखा कोई महात्मा ठहरे हुए हैं, इन्होंने शिष्यों सहित उन्हें प्रणाम किया। पता नहीं

महात्मा को कौन सी सनक उठी और वे पंडित जी को धाराप्रवाह गालियाँ देने लगे। वे गाली गलौज करते रहे और पंडित जी हँसते हुए बारम्बार प्रणाम करने लगे। दूसरे और तीसरे दिन भी यही हुआ। शिष्यों ने विरोध करना चाहा पर पंडित जी ने रोक दिया। चौथे दिन एक शिष्य पं. जी के लिए फल लाया था वे फल उन्होंने उन संत जी को भेंट कर दिये। पं. श्री भक्तमाली जी की सहनशीलता देख वे पश्चाताप् करते हुए क्षमा याचना करने लगे। उन्होंने कोई अपराध किया है यह बात ही पं. जी के मन में नहीं आयी तो क्षमा माँगने और क्षमा करने की बात कहाँ रही ?

विशुद्ध हृदय से ठाकुर जी दूर रह ही नहीं सकते, वे हृदय में तो विराजते ही हैं उनके आसपास भी सदा बने रहते हैं। एक बार श्री भक्तमाली जी बिहारी जी के दर्शन करने जा रहे थे, एक छोटे बालक ने आकर कहा–''आप घर जाओ अभी वर्षा होने लगेगी और आप भीग जायेंगे।'' उस समय आकाश साफ था–मेघों का कहीं नामो निशान नजर नहीं आता था किंतु थोड़ी ही देर में सचमुच बादल घिर आये और बड़ी जोर से वर्षा होने लगी।

एक बार अयोध्या पधारे। सभी रात्रि में पहुँचने के कारण स्टेशन के बाहर ही खुले स्थान में सो गये। श्री अवध में इनके आने की बात किसी को ज्ञात नहीं थी। प्रातः पूर्व इन्हें पैरों के तलुवों में अति सुकुमार स्पर्श का अनुभव हुआ। लगा कोई तलुवों में गुदगुदी कर रहा है उस स्पर्श से केवल देह में ही नहीं प्राणों में भी अपूर्व आनन्दमयी गुदगुदी होने लगी। श्री भक्तमाली जी उठकर बैठ गये देखा– एक नवघनसुन्दर बालक हँसता हुआ पदतलों में गुदगुदी कर रहा है.......। देहभान भूलकर श्री भक्तमाली जी उसे निहारने लगे कि सहसा वह बालक अंतर्हित हो गया।

लाली जीजी से ही सुना–''एक बार पंडित जी अपने निवास स्थान ताड़वाली कुंज में ही विराजमान थे कि एक बालक आया चार पाँच वर्ष का और सीधे पंडित जी की गोद में बैठ गया। इन्होंने पूछा– लाला! तेरो नाम कहा है ?''

''मेरो नाम लड्डू गोपाल है।''

''कहाँ ते आयो है लाला?''

''मैं भतरोड़ ते आयो हूँ। मैंने सुनी है तुम बहुत अच्छे भजन गाओ हो नेक मोकू सुनाओ न।''

सरल हृदय पंडित जी गाने लगे, फिर बोले-''लाला! लड्डू खायेगो?''

''ना पेड़ा खाऊँगो।''

भई पंडितानी! लाला के लिए पेड़ा लाओ। ले लाला! पेड़ा खायले।''

बालक ने एक पेड़ा मुख में और दो तीन दोनों हाथों में ले लिए। पंडित जी ने सोचा-''इसके माता-पिता भतरोड़ से वृन्दावन आये होंगे, यही कहीं आस पास। बालक खेलता हुआ यहाँ आ गया है। यदि देर हुई तो इसके माता-पिता चिंता करेंगे।'' उन्होंने कहा- ''लाला! अब तू जा, तेरे मैया बाबा तोकू ढूँढते होईगे।''''हाँ, अभी चलयो जाऊँगो, तुम गाओ।'' पं. जी फिर गाने लगे किंतु उनके मन में फिर यह बात उठी कि इस बालक के माता-पिता चिंता करते होंगे। वे फिर बोले-लाला तेरे मैया बाबा चिंता करते होंगे बेटा! तू जा।'' कहकर पंडित जी उठ खड़े हुए। ''तुम यहीं बैठो में चल्यो जाउँगो।'' कहता हुआ बालक उठकर चलने लगा। पंडित जी पीछे-पीछे चल रहे थे कि बालक ने घर से निकलकर फिर कहा-''तुम यहीं रहो, मैं चल्यो जाऊँगो।'' ''हाँ लाला! मैं यहीं हूँ तू जा।'' कहकर पंडित जी ने चाल धीमी कर दी पर रुके नहीं। उस श्याम सलोने बालक के आकर्षणवश उनके पद बढ़ते रहे। राम बाग के आगे मोड़ पर जाकर पंडित जी ने देखा सड़क खाली पड़ी है। बालक किधर गया? शायद यहीं कहीं किसी के घर में उसके माता पिता होंगे तो उनके पास चला गया होगा। उन्होंने मन ही मन सोचा और लौटने लगे किंतु मन माना नहीं, आगे बढ़कर दो चार घरों में पूछा-''लड्डू गोपाल आ गया?''

''कौन लड्डू गोपाल? यहाँ तो कोई नहीं आया।''

''भतरोड़ से आया ब्राह्मण बालक लड्डू गोपाल?''

''नहीं यहाँ तो कोई नहीं आया।''

सभी घरों से यही उत्तर पाकर पंडित जी विचार में पड़ गये-'' मैं इतना पीछे तो नहीं था वह दौड़कर भी गली पार करता तब भी मुझे दिखाई दे देता। दो चार कदम ही तो मैं पीछे था। घरों में नहीं गया, सड़क पर नहीं तो फिर वह बालक गया कहाँ?'' सोचते हुए पंडित जी घर चले आये।

पन्द्रह बीस दिनों बाद भतरोड़ जाने का काम पड़ा, लौटते समय लड्डू गोपाल याद आया। चलते-चलते उससे मिलते चलें यह सोचकर एक दो घरों में लड्डू गोपाल नाम के छोटे बालक का पता पूछा। भतरोड़ उस समय छोटा सा गाँव था। जहाँ भी पूछा सबने यही कहा- लड्डू गोपाल नाम के बालक हैं सही पर आप बता रहे हैं इतना छोटा बालक इस नाम का गाँव में नहीं हैं। चलते-चलते पंडित जी मंदिर में गये दर्शन किये और पुजारी जी से पूछा। उन्होंने भी कहा- इस नाम का इतना छोटा बालक यहाँ किसी के घर में नहीं है। मैं सबको जानता हूँ। किंतु पुजारी जी उस बालक ने तो यही बताया था कि मैं भतरोड़ का हूँ। इतना छोटा बालक झूठ कैसे बोलेगा? और क्यों बोलेगा? पंडित जी ने असमंजस में पड़कर कहा।

बालक कैसा था और यह कितने दिन की बात है? पुजारी जी ने पूछा। सांवला सा, गोल-मटोल, बहुत सुन्दर सुहाना बालक है बड़ी प्यारी-प्यारी बातें की उसने इसी से तो फिर मिलने की इच्छा हुई। यह पिछली एकादशी की बात है। पंडित जी ने सरल भाव से कहा। ''एकादशी?'' पुजारी जी चौंक से गये। ''हाँ पुजारी जी पिछली एकादशी के दिन दोपहर के करीब ग्यारह बजे के आसपास की बात है।'' पुजारी जी रो पड़े।

''क्यों क्या हुआ पुजारी जी ? '' पंडित जी घबरा से गये।

''धन्य हैं आप और धन्य भाग मेरे कि आपके दर्शन हुए।'' पुजारी जी आँसू पौंछते रोते गद्गद् कंठ से बोले- ''इस मंदिर के ठाकुर जी का नाम भी लड्डू गोपाल है। पिछली एकादशी को मेरे पास भोग लगाने को कुछ भी नहीं था सो भारी मन से मैंने कहा-''लाला! मेरे पास तो कुछ नहीं है, तुम कहीं अन्यत्र जाकर खा आओ।'' सो वे आपके यहाँ आये प्रभु! पुजारी जी फूट-फूट कर रो पड़े। पंडित जी की आँखें भी बरसने लगीं।

एक बार भतरोड़ से ही कथा कहकर लौट रहे थे। सांझ का समय, श्री रंगमंदिर के पास वाली गली में श्री भक्तमाली जी को दो बालक दिखाई पड़े। दोनों ही जैसे रासमण्डली के ठाकुर जी जैसे श्रृंगार से सजे थे। इन्होंने सोचा- किसी रासमण्डली के बालक हैं, इधर कहीं लीला का आयोजन होगा ये वहीं जा रहे होंगे। रास लीला देखने की इच्छा से ये बालकों के पीछे पीछे चल पड़े। बालक सीधे यमुना किनारे आये और दोनों यमुना की बालुका से खेलने लगे, बालकों की क्रीड़ा में दिव्य अलौकिकता थी। पंडित जी मंत्रमुग्ध से उनका खेल देखते रहे, थोड़ी देर बाद वे दोनों बालक अर्न्तधान हो गये। अपने ऊपर कृष्णबलराम की कृपा का स्मरण कर वे भाव विभोर हो उठे।

एक दिन दीनबंधु जी नाम के एक संत आपके निवास स्थान पर पहुँचे- देखा श्री भक्तमाली जी अपने आप अकेले जोर-जोर से हँसते हुए आनंदित हो रहे हैं। ''महाराज जी! आप क्यों हँस रहे हैं?'' दीनबंधु जी के पूछने पर भी कुछ न बोले, रह रहकर हँस पड़ते। दो तीन बार पूछने पर बोले- देखो न ठाकुर जी भक्तमाल के प्रमुख श्रोता हैं यह तो सभी जानते हैं। आज हमसे बोले कि- हमें भक्तमाल पढ़ायें आप। मैं हँस पड़ा तो बार-बार कहने लगे-''हमें भक्तमाल पढ़ाइये।'' देखो, देखो अब हमसे भक्तमाल पढ़ना चाहते हैं''

भक्तमाल सूत्रात्मक शैली में लिखा हुआ ग्रंथ है। श्री प्रियादास जी की भक्तिरसबोधिनी कवितात्मक टीका के बिना इसे समझना असम्भवप्राय है। इस टीका के पश्चात् भी बहुत कुछ लिखा गया है भक्तमाल पर , फिर भी भक्ति सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों से पूर्ण भक्त चरित्रों के इस महत् कोष को साधारण लोगों तक पहुँचाने के लिए इसकी सरल और विशद व्याख्या की आवश्यकता थी, आवश्यकता थी साधारण लोगों के समझ में सहज आजाये ऐसी भाषा, शैली, दृष्टान्त के द्वारा चरित्र विस्तार की। लगता है इन्हीं कार्यों की पूर्ति हेतु श्री ठाकुर जी ने भक्तमाली जी को पृथ्वी पर भेजा था। ताड़वाली कुंज भक्तमाल की पाठशाला के रूप में प्रसिद्ध हो गयी और प्रसिद्ध हुए श्री भक्तमाली जी इस ग्रन्थ के अध्यापन कर्ता के रूप में वृन्दावन अयोध्यादि स्थानों से आ आकर सैकड़ों संतों भक्तों ने भक्तमाली जी से भक्तमाल पढ़ी और भारत में चारों ओर भक्तमाल का प्रचार प्रसार हुआ इन पढ़ने वालों में प्रसिद्ध नाम हैं- गौ-संत सेवी श्री सुदामादास जी महाराज, श्री गिरधारी दास जी महाराज, श्री मथुरा दास जी भक्तमाली और श्री नारायण दास जी भक्तमाली (श्री मामा जी महाराज)।

पूज्य पंडित श्री महाराज जी के मन में संकल्प हुआ-''भक्तमाल का एक विस्तृत भाष्य बने, जो दूर दराज स्थानों के वासी हों, जिन्हें नित्य कथा सुलभ न हो पाती हो, जो भक्तमाल पढ़कर समझना चाहते हों और जो आपके पास भक्तमाल पढ़ने की इच्छा से आने वालों को सरलता पूर्वक पढ़ा सकें ऐसे भक्तमालियों के लिए सरल सुबोध भाषा शैली में भक्तमाल सुलभ हो।

महापुरुषों के हृदय में भगवत्इच्छा और जनकल्याण की भावना ही संकल्प रूप धारण करती है। इस विषय में विचार विमर्श के लिए पंडित जी सुदामा कुटी पधारे। इस विषय पर बात करने के लिए एक गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें सम्मिलित होने के लिए

श्री महाराज जी को लक्ष्मण मंदिर गोवर्धन सूचना देने श्री रामचन्द्र दास जी को भेजा गया।

श्री महाराज जी प्रथम बार ब्रज में सन् 1944 में श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी जी द्वारा आयोजित ब्रजचौरासी कोस परिक्रमा में भरतपुर की ओर से आकर पूंछरी स्थल पर सम्मिलित हुए थे। इस यात्रा में अनेक संत महापुरुषों के साथ पंडित श्री भक्तमाली जी महाराज भी थे। यात्रा जहाँ जहाँ ठहरती वहाँ के लीला प्रसंगों के अनुरूप कथा कीर्त्तन, लीलानुकरण और भक्तमाल की सरस कथायें भी होतीं। भक्तमाल श्री पंडित जी महाराज ही कहते थे जिन्हें सुनकर श्री महाराज जी अत्यन्त प्रभावित होते। यहीं श्री पंडित जी से श्री महाराज जी का प्रथम परिचय हुआ।

इससे पूर्व सन् 1964 में श्री महाराज जी ने भक्तमाल पर भक्तवल्लभा टिप्पणी लिख कर प्रकाशित की और इसकी प्रति सबसे प्रथम श्री पं. भक्तमाली जी को ही भेंट की। पंडित जी उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब से ही आप दोनों की आत्मीयता और भी प्रगाढ़ हो गयी। पंडित जी इसी टिप्पणी से भक्तमाल पढ़ाने लगे।

श्री महाराज जी का पंडित जी के प्रति गुरुभाव था- कभी कुछ बात चलती तो-''सद्‌गुरूदेव पं. श्री भक्तमाली जी महाराज'' सम्बोधन ही व्यक्त करते। इसी प्रकार श्री भक्तमाली जी का भी श्री महाराज जी के प्रति अगाध प्रेम था। एक बार ध्रांगध्रा वाले मोहन भाई से कहा-''आप मो में और बाबा श्री गणेशदास भक्तमाली जी में भेद ना मानें, वे तो मेरे ही स्वरूप हैं।''

जब गोष्ठी के लिये रामचंद्र दास जी से श्रीमहाराज जी को गोवरधन में सूचना मिली तो इन्होंने अगले दिन गोष्ठी में सम्मलित होने का निश्चय किया।

श्री लक्ष्मण मंदिर की समस्त सेवा कार्य श्री महाराज जी स्वयं किया करते थे। इसमें रसोई, गौ सेवा, अतिथि अभ्यागतों का सत्कार आदि सभी सेवायें अगले दिन यथाशक्ति

शीघ्र करके वृंदावन की ओर प्रस्थान किया। सुदामा कुटी पहुंचे तब तक दोपहर हो चुकी थी। वहाँ भंडारा हो रहा था, संतों की पंगत बैठ चुकी थी। आश्रम के द्वार पर कोतवाल खड़े होकर भिक्षुओं-अभ्यागतों को पहली पंगत के उठने तक रोक रहे थे। उसी समय श्री महाराज जी सुदामाकुटी के दरवाजे पर पहुंचे, इनकी सादा वेषभूषा और अमानी स्वभाव देख कोतवाल ने फटकार कर कहा-"अब आया है जब पंगत बैठ गयी है, बाहर बैठ, बाद में मिलेगा।"

श्री महाराज जी यदि अपना परिचय और आने का उद्देश्य बताये होते तो आदर सहित भीतर पहुँच जाते किंतु शील-संकोच के अवतार अपनी विधा, नाम, गरिमा, प्रसिद्धि, पद केवल नाम बताने मात्र से सब उजागर हो जाते अतः बताते कैसे?

सुदामा कुटी के पास ही श्री पागल बाबा का आश्रम है। इस आश्रम के संस्थापक श्री लीलानंद ठाकुर ही पागलबाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। जिस समय श्री महाराज जी को कोतवाल ने आश्रम में जाने से रोका उस समय पागलबाबा अपने आश्रम के बाहर भिखारियों को खिचड़ी बाँट रहे थे। अपने हाथ में पत्तलों का गट्ठर लेकर पुकार रहे थे- "खिचड़ी प्रसाद पाओ" "आओ आओ, खिचड़ी प्रसाद पाओ।"

इनकी पुकार सुन बहुत से अकिंचन वहीं सड़क पर बैठ कर खिचड़ी खा रहे थे। दोहपर का समय था, भूख तो श्री महाराज जी को भी लग आयी थी अतः ये भी उन अकिंचनों के साथ सड़क पर बैठ कर खिचड़ी पाने लगे। कुछ समय में सुदामा कुटी की पंगतें भी सम्पन्न हो गयीं तब तक श्री महाराज जी भी खिचड़ी पाकर कुटी में चले आये, वहां बड़े पुजारी जी, रामेश्वर प्रसाद जी रामायणी आदि संत इनकी प्रतीक्षा करते मिले।" श्री महाराज जी के आने पर सब साथ ही प्रसाद पायेंगे यह सोचकर किसी ने भी प्रसाद नहीं पाया था। जब श्री महाराज जी से प्रसाद पाने के लिये निवेदन किया तो सहज स्वर में

बोले– "हमें आने में विलम्ब हुआ, पंगत चल रही थी। श्री कोतवाल जी महाराज की बाहर बैठने की आज्ञा हुई। भूख तो लगी ही थी, श्री पागल बाबा के यहाँ, सड़क पर ही खिचड़ी प्रसाद की पंगत हो रही थी। अतः हमने भी वहीं बैठकर खिचड़ी पा ली।"

"आपने भीतर सूचना नहीं दी और सड़क पर ही बैठकर खिचड़ी पा ली?" बड़े पुजारी जी बोले।

"श्री वृन्दावन तो चिन्मय-दिव्य भूमि है श्री ठाकुर जी ने बछड़े बनकर इस भूमि को अपनी जिह्वा से चाटा है। यहाँ तो सब जगह पवित्र है। कहीं भी बैठ कर प्रसाद ही तो पाना है, उसमें भीतर और बाहर क्या? श्री महाराज जी ने सरलता से कहा।

पंडित भक्तमाली जी महाराज यह संवाद सुन रहे थे। उनके नेत्र भर आये उन्होंने कहा विचार गोष्टी आरंभ होने से पहले ही उसका सार निकल आया।"

संतों की एक पंगत में जैसे नाभा गोस्वामी को भक्तमाल का सुमेरू श्री तुलसीदास जी के रूप में मिल गया था, वैसे ही आज श्री भक्तमाली जी को आज की पंगत में श्रीमहाराज जी के रूप में भक्तमाल का भाष्यकार मिल गया। उन्होंने भरे कंठ से कहा–'' जिस कार्य के लिये गोष्ठी का आयोजन किया जा रहा था वह श्री बिहारी जी की कृपा से सम्पन्न हो गया है। ऐसे सहज सरल, शान्त और अमानी संतों द्वारा ही भक्तमाल का कार्य हो सकेगा।''

सुदामाकुटी में हुई गोष्ठी में भक्तमाल पर बृहद् भाष्य लिखने के लिये भाषा टीका, शब्दार्थ की सेवा श्री महाराज को और व्याख्या की सेवा श्री रामेश्वरदास जी रामायणी को सौंपी गयी।

रामेश्वरदास जी रामायणी देश के प्रभावशाली कथाकारों में से एक हैं। बहुत पहले चित्रकूट में बड़ी गुफा पर ये श्रीराम कथा कहा करते थे। वहीं रामचंद्र दास जी पुजारी ने

श्री महाराज जी और श्री रामेश्वरदास जी का परस्पर परिचय कराया।

इन दिनों सुदामा कुटी में रहकर श्रीरामकथा कह रहे थे। इनकी कथा इतनी रसमयी होती कि वृन्दावन के ही नहीं मथुरा, आगरा, दिल्ली के भी कथाप्रेमी कथा सुनने आया करते थे। परम मनीषी रामायणी जी की श्री भक्तमाली जी से आत्मीयता थी। इन दोनों की प्रतिभा देखकर ही श्रीभक्तमाली जी ने भक्तमाल भाष्य का कार्य सौंपा।

श्री महाराज जी के नाम के पीछे ''गोवर्धन'' और श्री रामायणी जी के नाम के पीछे ''चित्रकूट'' छापा हुआ है। लगता है जैसे श्री गोवरधन नाथ और कामतानाथ ने ही इन दोनों महापुरूषों के माध्यम से श्रीभक्तमाल भाष्य लिखा हो।

श्री रामायणी जी का श्री महाराज जी के प्रति सदा पूज्यभाव रहा और श्री महाराज जी का श्री रामयणी के प्रति सख्य मिश्रित पूज्यभाव बना रहा। दोनों के प्रयत्न से वैष्णव जगत को भक्तमाल का वृहद भाष्य चार खण्डों में उपलब्ध हुआ।

श्री महाराज जी की गो सेवा में सहज रुचि थी। बचपन में स्वयं अपने हाथों गो सेवा और गोचारण किया था। जहां भी रहे गो सेवा से जुड़े रहे। काशी में भी करपात्री जी महाराज के प्रवचन सुनने जाया करते थे, उनमें कई विषयों के साथ गो महिमा भी कही जाती थी। बाद में श्री अवध में हनुमान गढ़ी, कपलिाश्रम में भी गो सेवा से जुड़े रहे। गोवरधन के सेवा कार्यों में गो सेवा भी शामिल थी। पन्द्रह बीस गायों की सानी करना, हरा चारा जुटाना, गोबर डालना, दूध दुहना आदि सभी कार्य श्री महाराज जी अपने हाथों से ही करते थे। कभी कभी तो दूसरों की पाली हुई गाय की सेवा भी प्रसन्नता पूर्वक कर देते।

श्री महाराज जी कहते थे– ''काशी निवास काल में हमने महात्मा गांधी जी का अनेक सभाओं में भाषण सुना था। गांधी जी कहते थे– "जिस दिन देश स्वतन्त्र होगा–कलम की पहली नोक से गोवध पर पूर्ण प्रतिबन्ध का कानून बनाया जायेगा।" देश और देशवासियों

का दुर्भाग्य कि स्वतंत्रता के साठ–पैंसठ वर्ष बीत जाने के बाद भी सत्य और अहिंसा के उस पुजारी की बात–गोवध बंद होना तो दूर देश के विभिन्न भागों में बड़े–बड़े नये नये कत्लखाने खुल गये हैं और ये खुले हैं उन्हीं महात्मा कहलाने वाले गांधी जी के अनुयायियों की अनुमति से।

इसमें महात्मा गांधी की कोई गलती नहीं शायद वे रहते तो कुछ करते पर लानत है अपने को उनका अनुगत कहने कहलाने वालों पर जो अपने आदर्श की नीतियों के विरुद्ध चलकर भी सीना ताने रहते हैं।

सन् 1967 में गोरक्षा अभियान समिति के द्वारा श्री करपात्री जी, श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी जी आदि बड़े बड़े संतों ने आन्दोलन चलाया। उस समय संत समाज और विद्वानों द्वारा गोवर्धन क्षेत्र गोरक्षा अभियान समिति का श्री महाराज जी को अध्यक्ष बनाया गया। पुष्टि मार्ग के प्रथमपीठाधीश्वर गोस्वामी श्री प्रथमेश जी इस समिति के केन्द्रिय पदाधिकारी थे। दोनों ने मिल कर बृज के गाँवों में जा जाकर व्रजवासियों को गोरक्षाकार्य में जुटने के लिये समझाया। इस अभियान के पश्चात् दिल्ली में एक एतिहासिक प्रदर्शन हुआ। इस विशाल प्रदर्शन में श्री महाराज जी के नेतृत्व में अस्सी गोभक्तों की टोली गोवर्धन से गयी थी।

सम्पूर्ण देश से आये लाखों गोभक्तों ने आन्दोलन–प्रदर्शन किया किंतु धर्महीन सरकार ने गोलियाँ चलाकर इस आंदोलन को विफल कर दिया। सैंकड़ों गोभक्त इसमें मर गये और इसके विरोध में ''जेल भरो'' आन्दोलन प्रारंभ किया। श्री महाराज जी के नेतृत्व में भारी संख्या में साधु संतों ने व्रजवासियों ने दिल्ली के कनॉट पैलेस से सामने प्रदर्शन कर अपनी गिरफ्तारी दी। अट्ठाईस दिन तक सभी गोभक्त तिहाड़ जेल में रहे। श्री करपात्री जी भी उसी जेल में थे। यहाँ भी श्री महाराज जी का सेवाकार्य चलता रहा–श्री करपात्री जी

पश्चात महाराज जी का प्रवचन होता, वे अपने हाथ से भोजन बनाकर सभी गोभक्तों को खिलाते।

प्राचीन काल से ही व्रजमण्डल अनेक भक्ति-सम्प्रदायों का केन्द्र रहा है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अपना विशाल संस्कृत एवं ब्रजभाषा साहित्य है बृजमंडल में श्री गोवर्धन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अष्ट छाप के आठ विख्यात कवियों की वाणी में बृजभाषा साहित्य को महत् योगदान प्रदान किया है। ये आठो कविश्रेष्ठ श्री वल्लभाचार्य के पुष्टी सम्प्रदाय की छत के मानो आठ स्तम्भ थे। श्रीगिरिराज की तरहटी इनकी साधना स्थली रही। सोलहवीं शताब्दी के अंत और सत्रहवीं शब्ताब्दी के प्रारंभ में गिरिराज परिक्रमा में विभिन्न स्थानों पर रहते हुए ये साहित्य सृजन में रत रहे। अष्टछाप में सूरदास जी का प्रमुख विशिष्ट स्थान है, ये गिरिराज तरहटी के परासौली गाँव में सत्तर वर्ष तक रहे। श्री कृष्णलीला परक सूरदास जी का व्रजभाषा साहित्य भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचकों को चमत्कृत तो करता ही है, भक्तों साधकों के हृदय को भाव सम्पदा से पोषित प्रेरित करने वाला पाथेय भी है इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्रीमहाराज जी का हृदय अपने आराध्य के अनुराग राग से रंजित होने के कारण भाव तरंगे समय समय पर भाषा, छन्द, अलंकार विषयक ज्ञान का आश्रय लेकर उत्कृष्ट संस्कृत एवं भाषा काव्य का सृजन करतीं। चुम्बक लौह कणों को अपने पास खींच ही लेता है। गुणीजन गुणवानो का संगु करने को लालायित होते हैं और भ्रमर पुष्पों पर बिना निमन्त्रण के ही कोसों दूर से आकर मँडराने लगते हैं। इसी प्रकार श्री महाराज जी के समीप भक्त-संत तो आते ही थे कुछ कवि हृदय भी इकट्ठे हो जाते और उनके साथ काव्यचर्चा कर सुख पाते।

इन्हीं भावुक उत्साही लोगों के सहयोग से श्रीमहाराज जी ने सन् 1968 में "ब्रज साहित्य परिषद" नाम की संस्थापक का गठन किया। उनका लक्ष्य गोवर्धन क्षेत्र की साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों और विचारों में चेतना जाग्रत करना था। इस संस्था के संरक्षक आकाशवाणी से जुड़े कवि और साहित्यकार श्रीरामनारायण अग्रवाल और अध्यक्ष पद पर श्री महाराज जी स्वयं थे। श्री देवकीनंदन कुम्हेरिया उपाध्यक्ष और श्री सत्यदेव शर्मा कोषाध्यक्ष थे। अन्य सहयोगी-श्री शालिग्राम मुखिया, श्री व्रजमोहनलाल शर्मा "मोहन" (मंत्री), श्री लक्ष्मण सिंह सैंगर (उपमंत्री), श्री मोहन लाल कौशिक (प्रचार मंत्री), डॉ. कृष्णस्वरूप जी गोस्वामी, श्री महेशचंद्र बेंदिल, और श्री रामलखन शर्मा।

1. इस संस्था के उद्देश्य थे? ब्रजभाषा, व्रजसंस्कृति, साहित्य और कला का प्रचार करना।

2. इन विषयों से सम्बन्धित प्राचीन और नवीन ग्रंथों का प्रकाशन।

3. नवोदित कवियों को पहचान कर उन्हें विकास मार्ग पर प्रेरित करना-उनका सहयोग करना।

4. व्रजभाषा के प्राचीन भक्त कवियों की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उनकी साधना स्थलियों पर स्मारक बनवाना एवं उनकी जन्म आदि तिथियों पर समारोह करना।

5. समय-समय पर ब्रजभाषा कवि सम्मेलन, विचार गोष्ठी एवं अन्य सांस्कृतिक कार्यों का आयोजन करना।

6. प्रतिभाशाली साहित्यकारों एवं कलाकारों को सम्मानित करना आदि-आदि।

श्रीमहाराज जी द्वारा होने वाली ये सभी गति विधियां और कार्य कलाप भगवद्भक्ति की भावना से ही गतिशील थे। लौकिक कवितायें अथवा भद्दी काव्य गोष्ठियाँ सर्वथा वर्जित थीं। श्रीमहाराज जी के दृढ़ संकल्प और आत्म शक्ति से व्रज साहित्य परिषद ने शीघ्र ही गोवरधन में विस्तार पा लिया। आजीवन श्री महाराज जी इसके अध्यक्ष रहे।

परिषद द्वारा भगवान श्री रामानंदाचार्य, महाप्रभु वल्लभाचार्य की जयन्तियां मनाई जाने लगीं गीता जयन्ती तो पहले भी महाराज जी की अध्यक्षता में मनायी जाती थी–और भी विस्तार पूर्वक मनायी जाने लगी। बसन्त पंचमी पर सरस्वती पूजन का आयोजन होता।

एक शताब्दी पहले श्री नारायण स्वामी नाम के प्रेमी महापुरुष पंजाब से व्रज में आये थे। इनकी सरस रचनायें हृदय को भाव लोक में पहुंचा देने में सहज समर्थ है। मीराबाई, चंद्र सखी, आदि भक्त कवियों की रचनाओं की भांति श्री नारायण स्वामी की रचनायें भी रासलीलाओं में गायी जातीं है। ये प्रेमी महापुरुष गोवरधन की परिक्रमा में स्थित कुसुम सरोवर के किनारे भावावेश में एक वृक्ष से प्रगाढ़ आलिंगन करके उसी अवस्था में भगवल्लीला में प्रवेश कर गये। बाद में उनकी देह को बड़ी कठिनाई से उस वृक्ष से पृथक किया जा सका। श्री महाराज जी इस घटना को स्मरण करते हुए भाव विभोर हो जाते थे। परिषद द्वारा सन् 1970 के आस पास इन श्री नारायण स्वामी का स्मृति महोत्सव मनाया जाने लगा।

महाकवि श्री सूरदास जी का जन्म विक्रम संवत् 1535 के वैशाख शुक्ल पंचमी को व्रज की सीमा पर स्थित सीही नाम के गांव में हुआ। आगरा मथुरा के बीच रुनकता गाँव के पास यमुना के गोघाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से वैष्णवी दीक्षा प्राप्त हुई। श्री गुरूदेव से व्रजभाषा में श्रीकृष्णलीला गान की प्रेरणा पाकर सूरदास जी परासौली चले आये। उन्होंने परासौली के चंद्रसरोवर के निकट (73) तिहत्तर वर्ष तक निवास किया। इस

अवधि में अभूतपूर्व भावमयी श्री कृष्ण लीला की साहित्य निधि विश्व को प्रदान कर विक्रम संवत् 1640 में इन महाकवि ने एक सौ पांच (105) वर्ष की आयु में लीला प्रवेश किया। इस गांव में ''सूर कुटी नाम की एक कुटी और पीलू का वृक्ष है। कहते हैं इसी पीलू वृक्ष के नीचे सूरदास जी ने देह का त्याग किया।

श्रीमहाराज जी ने जब यहाँ आना प्रारंभ किया तब सूरकुटी अत्यन्त जीर्णशीर्ण अवस्था में थी, अब उसका जीर्णोद्धार हो चुका है। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य एवं गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी की बैठक के समीप ही सूरकुटी विद्यमान है।

पुष्टिमार्ग के जहाज कहलाने वाले सूरदास जी की साधना स्थली दीर्घकाल तक उपेक्षित ही पड़ी रही। सफाई की और जयन्ती मनाना तो बड़ी दूर की बात थी, उतरी हुई मालायें-फूल आदि डालने के काम आती थी सूरकुटी।

भक्ताराधन श्री महाराज जी का सर्वस्व था और आराध्य के प्रेमीभक्त उनके प्राण; भला सूरदास जी के साधना स्थली की ऐसी उपेक्षित दशा वे कैसे सह पाते?

सन् 1955-56 के आस-पास सूरदास जयन्ती-वैशाख शुक्ल पंचमी पर जाकर स्वयं अपने हाथों सफाई करते-गोबर से लीपते सुसज्जित करते। अपने गमछे में अलग-अलग ठंढाई, कालीमिर्च, सौंफ, नींबू और चीनी बाँध कर ले जाते। सूरदास जी के चित्रपट को यथास्थान विराजित कर पूजा करते और स्वयं ही पदगान करते एवं वहाँ एकत्रित व्रजवासियों से भी पदगायन करवाते। कार्यक्रम समापन पर प्रसाद रूप में ठंडाई शिंकजी सबको वितरण करते। श्री महाराज जी द्वारा प्रारंभ किये गये सूरजयन्ती महोत्सव का आरंभ में यही स्वरूप था। धीरे-धीरे आगे बढ़कर इस उत्सव का स्वरूप बृहद् हुआ। सन् 1968 में व्रज साहित्य परिषद की स्थापना होने पर तो इसका स्वरूप और व्यापक हो गया।

श्री सूरदास जी की पंचशती समारोह मनाने का निश्चय हुआ तो ज्ञात हुआ महाप्रभु वल्लभाचार्य की पंचशती भी सन् 1978 में ही पड़ती है अतः आचार्य चरण एवं उनके कृपापात्र श्री सूरदास जी की पंचशती सम्मलित रूप से ''श्रीवल्लभ सूर पंचशती'' के नाम से सन् 78 में ही मनाई गयी।

श्री महाराज जी की अध्यक्षता में ''व्रज साहित्य परिषद गोवर्धन'' ने विशाल देशव्यापी समारोह के रूप में मनाया।'' श्रीवल्लभ-सूर पंचशती'' के कार्यक्रम पूरे एक वर्ष तक देश के विभिन्न स्थानों पर चलते रहे। परिषद की ओर से ''सूर स्मारक मंडल'' से संपर्क किया गया। भारत के शिक्षा विभाग, सूचना और प्रसारण विभाग आदि मंत्रालयों ने इस समारोह में सहयोग दिया।

सूरस्मारक मंडल आगरा और सूर पंचशती आदि ने अनेक स्थानों पर स्थायी-अस्थायी कार्यों द्वारा योगदान किया। भारत के तत्कालीन विदेशी मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस महोत्सव में सम्मलित होकर अपनी श्रद्धांजली अर्पित की। पंचशती के अवसर पर श्री महाराज जी ने ''श्रीवल्लभ दिग्दर्शन'' "सूर सौरभ" और ''सूर काव्यांजली'' ग्रंथ लिखकर उनका प्रकाशन कराया।

''श्रीवल्लभ दिग्दर्शन ग्रंथ में श्री आचार्यचरण की जीवनी और उनके द्वारा रचित ग्रंथों का सारगर्भित परिचय दिया गया है। गोस्वामी श्री विठठ्लनाथ जी और उनके यशस्वी पुत्रों का परिचय भी इसमें दिया गया है। इसमें अष्टछाप के कवियों का जीवन परिचय और श्री आचार्य चरण के शुद्धाद्वैत दर्शन की रूपरेखा तथा अंत में आचार्य देव के कुछ छोटे-छोटे संस्कृत ग्रंथ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हैं।

सूर सौरभ में महाकवि सूर की जीवनी ऐतिहासिक तथ्यों की रूपरेखा की समादर सीमाओं के भीतर रहते हुए भक्त-हृदय के भावात्मक पक्ष को उजागर करते हुए प्रकाशित

हुई है। चरित्र के पश्चात् श्री सूरदास जी के काव्य पक्ष पर प्रकाश डाला गया है और अंत में व्रज साहित्य परिषद के सदस्यों के नाम से कुछ लेख दिये हैं। ''सूर सौरभ'' तत्कालीन प्रथम पीठाधीश्वर श्री रणछोड़राय को भेंट की गयी।

''सूर काव्यांजली'' में महाकवि को भावात्मक काव्याँजली अर्पित की गयी है। यह संकलित ग्रंथ है जिसमें आधुनिक कवियों की सूर विषयक रचनाओं का संकलन है। इसका आरंभ श्री महाराज जी ने अपनी इस रचना द्वारा भावाँजली अर्पित की है-

पत्र पुष्प ते तुष्ट यथा विश्वम्भर प्यारे।
जगत प्रकाशी सूर्य प्रेम दीपक स्वीकारे।।
सागर ज्यों वरदान देत लहिकै जल अँजलि।
तिमि स्वीकारहु सूर महाकवि यह काव्याँजलि।।

समापन में स्वरचित संस्कृत पद्य द्वारा इस पंचशती महोत्सव में बधायी के रूप में ''श्रीकृष्णरति'' पाने की कामना की है। इन तीनों पुस्तकों को साहित्य जगत में बड़ी प्रशंसा प्राप्त हुई।

श्री महाराज जी स्वयं रामानंद सम्प्रदाय के अनुवर्ती होते हुए भी सदा सम्प्रदाय निरपेक्ष रहकर श्री भक्तमाल ग्रंथ के सिद्धान्तानुसार भक्ताराधन में पूरी तरह लगे रहते थे।

जिन-जिन संतों-भक्तों के उत्सव समारोह मनाये जाते थे श्री महाराज जी ने उनकी तालिका तिथि, स्थान आदि सहित ''सूर-सौरभ'' ग्रंथ में प्रकाशित की थी। ये उत्सव भक्तों, कवियों और संतों की भजन स्थलियों पर मनाये जाते, कुछ उत्सव कार्यालय में भी मनाये जाते थे। श्रीमहाराज जी सभी उत्सवों के केंद्र और प्रेरणा श्रोत थे।

परासौली-चंद्रसरोवर के किनारे सूरकुटी के पास एक बड़ा सा मजबूत भवन है। इसका निर्माण करीब एक सौ पच्चीस वर्ष पहले हरिदास खीमजी नामके एक धनी व्यक्ति

ने करवाया था। उनके वंशजों ने बाद में उसे बेचना चाहा, इस कार्य के लिये अपने विश्वासपात्र व्यक्ति को गोवर्धन भेजा। श्री कुम्हेरिया जी ने उस व्यक्ति को श्री महाराज जी से मिलाया, आपने उसे समझाया-सेठजी ने स्वंय अपने व्रजवास के लिये, घर परिवार का कोई रहे या फिर व्रज के संत निवास करें, अथवा कि प्रभु के निजजन व्रजवासियों के काम आयेगा इन्हीं उद्देश्यों को लेकर इस भवन का निर्माण करवाया होगा न कि पैसा कामने के लिये। यदि इसे किसी अच्छी संस्था को दान करदें तो सेठजी का नाम भी बना रहेगा और लोक-सेवा का कार्य होगा।''

मुनीम जी को बात समझ में आ गयी। उन्होंने व्रज साहित्य परिषद् को देने का विचार व्यक्त किया, किंतु श्री महाराज जी ने स्वीकार करने के बदले ''सूर स्मारक मण्डल'' आगरा से सम्पर्क करके उस संस्था को वह भवन दान करवाया इस समय उसमें ''हरिदास खीम जी सूर विद्यालय चल रहा है। श्री महाराज जी कई वर्षों तक इस विद्यालय की सार संभाल करते रहे।

श्रीमहाराज जी चाहते तो इस भवन को ब्रज साहित्य परिषद के लिय अथवा स्वयं अपने लिये ले सकते थे। जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आये कि वे बड़े-बड़े आश्रम और कई बीघा भूमि के स्वामी बन सकते थे किंतु त्याग तितिक्षा की प्रतिमूर्ति श्रीमहाराज जी ने एक पद भूमि, एक भी रुपया अथवा नहीं भी चल अचल संपति का अपने लिये संग्रह नहीं किया।

कहीं से कोई अच्छे कपड़े दे जाता तो रख लेते, शिष्यों का आग्रह होता-''महाराज जी! आपकी बनियान फट गयी है, आप यह नयी बनियान धारण कर लें।''

''नहीं, अभी तो ज्यादा नहीं फटी है, सिल देने से काफी समय तक चल सकती है। यह जो नवीन वस्त्र आये हैं - ''इस प्रकार के वस्त्र तो अमुक महान्त जी अथवा अमुक संत पहनते हैं। अबकी बार आने पर उन्हें भेंट कर देंगे।''

श्रीमहाराज जी केवल निष्काम साधु ही नहीं थे, वे उत्तम व्यवस्थापक, लेखक, कवि, सेवक, प्रेमी, भक्त, भावनिष्ठ मनीषी भी थे। भक्तमाल के कई चरित्र अति संक्षेप में हैं। भक्तवल्लभा टिप्पणी अथवा भक्तमाल भाष्य में जब भक्तों का परिचय और विस्तृत जीवन चरित्र देखने को मिलता है तो श्री महाराज जी की शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि और परिश्रम का ज्ञान होता है। भक्तमाल में एक ही नाम के दो या दो से अधिक भक्त हैं यथा – जयमल नाम के दो या चार भक्तों की बात कही गयी है। इनमें ''जयमल मेड़तिया'' कौन से?

भक्तमाल की एक पंक्ति है- नंदसुअन की छाप कवित केशव कौ नीकौ।''

श्रीमहाराज जी ने भक्तवल्लभा टिप्पणी में कवि केशव का परिचय ओरछा के दरबारी कवि के रूप में दिया है। कवि केशव का जन्म संवत्, परिचय और कुछ घटनाओं को लिखने के पश्चात भी अपनी स्थिति स्पष्ट की है यथा–''यद्यपि यहाँ ओरछा के राजकवि केशव का वृत्त लिखा गया है, किंतु मूल भक्तमाल में जिनका नाम आया है- वे सम्भवतः दूसरे ही हों।''

उनकी शोधपूर्ण दृष्टि ढूंढती रही ''नंदसुवन'' की छाप वाले केशव कवि को, और अंत में वे सफल हुए। श्री नाभाजी की कठिन – दुरुह–समाधि भाषा की एक पंक्ति का यथार्थ परिचय पा वे अत्यन्त प्रसन्नत हुए।

ये केशव गोवर्धन में श्री हरिदेव जी के श्री विग्रह को प्रकट करने वाले श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य केशवाचार्य थे।

श्री कुम्हेरिया जी के सहयोग से श्री महाराज जी ने केशवाचार्य जी और उनकी रचनाओं के विषय में अनेक सूचनायें संग्रहीत की और एक बंद पड़े हुए पुराने पुस्तकालय में से बड़ा परिश्रम करके केशवार्य पर लिखा एक हस्त लिखित ग्रंथ ढूंढ निकाला। स्वयं सम्पादन करके ''श्रीकेशव यश चन्द्रिका'' के नाम से सन् 1965 में उसे प्रकाशित किया।

यह ग्रंथ विक्रम संवत् 1896 में श्री गोविन्ददास नाम के एक भक्त ने लिखा था। इस पुस्तक के प्रकाशन से श्री केशवाचार्य जी महाराज और उनकी रचनाओं के विषय में बहुत सी बातों की जानकारी मिलती है।

श्री कुम्हेरिया जी तो कहते हैं-''यह ग्रंथ विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के लिये शोध-ग्रंथ के समान है।''

कहिये तो, इतनी खोज-इतना परिश्रम करके इस ग्रंथ के प्रकाशन के बिना भला महाराज जी का कौन सा काम अटका पड़ा था? यह बात मुझ जैसे आलसी कैसे समझ पायेगे? फिर निष्काम कर्मयोगी कहते किसे हैं?

जो बिना फल की इच्छा किये कर्तव्य-कर्म करे, या फिर बिना परिणाम-फल की चिंता किये परहित का कार्य करे। ''पर'' कौन?

संत के लिये ''पर'' कोई नहीं, श्रीहरि के नाते-सब श्री हरि हैं अतः उनके सभी कर्म अपने आराध्य के लिये-उनकी प्रसन्ता के लिये - यही कर्मयोग है।

आयु के अनुसार श्री महाराज के छोटे और बड़े कई गुरूभाई थे। रामरतन दास जी नाम के एक बड़े गुरुभाई ''नागाजी'' नाम से प्रसिद्ध थे। श्रीगुरुदेव के धाम पधारने के पश्चात नागाजी को ही महान्त पद पर आसीन किया गया। श्री महाराज जी उनका बड़ा सम्मान करते थे। न्यायिक, प्रशासनिक कार्यों का संचालन करने के लिये आवश्यक अधिकार श्री महाराज जी अपने पास रखते किंतु संस्था का सर्वोपरि महान्त पद स्वयं कभी स्वीकार नहीं किया।

हम जैसे अल्पज्ञों की समझ से बाहर है कि- इतनी सारी साहित्यिक, सामाजिक, शैक्षणिक सेवा आदि आदि गति विधियों के पश्चात अयोध्या के हनुमान गढ़ी मठ मंदिर के सभी कार्यों के संचालन के लिये समय कहाँ से आता होगा। किंतु अध्यवसायी-कर्मठ-निर्भर

महापुरुषों के लिये समय की न्यूनता नहीं रहती। फिर समय सापेक्ष भी तो है। श्री महाराज जी जब गोवरधन रहते थे तब एक बार इनके पिताजी मिलने के लिये पधारे। भयंकर गर्मी के दिन होने पर भी उन्होंने पथ में जल भी नहीं पिया था। श्री महराराज जी भी कहीं गये थे वे भी उसी बस में थे। सब यात्रियों के उतर जाने पर जब स्वयं उतरने लगे तब पिता पुत्र ने एक दूसरे को देखा-पहचाना यमुना स्नान के पश्चात् स्नान पर आकर बोले-''हमें सीधा दे दिया जाय तो हम अपने हाथ से ''भोग'' बना लेंगे।'' आप थके हुए आये हैं, स्थान में जो कुछ बना है सो ही पा ले, या फिर हम बना लें।'' श्रीमहाराज जी ने कहा।

''नहीं, तुम साधु हो गये हो। अब तुम ब्राह्मण नहीं रहे हो, इसलिये हम तुम्हारे हाथ का नहीं खायेंगे।'' उन्होंने अपने हाथ से बना कर पाया। श्रीशिवनंदनदास जी श्री महाराज जी के छोटे गुरुभाई हैं।

गुरुदेव श्री संरपंच बाबा इनसे कहा करते थे-''मेरे पश्चात यही नहीं सोचना कि ''गुरुदेव नहीं रहे'', शास्त्री जी (श्रीमहाराज जी) में मेरी ही छवि के दर्शन करना।''

श्री शिवनंदनदास जी श्री महाराज जी के प्रति गुरूवत् ही पूज्य भाव रखते थे। ये समय-समय पर गोवर्धन आकर श्रीमहाराज जी के कार्यों में सहयोग करते। ये एक बार जनकपुर जाना चाहते थे किंतु अकेले इतनी लम्बी यात्रा पर निकलने का साहस नहीं हो पड़ रहा था। श्रीमहाराज जी ने इनका उत्साह वर्धन करते हुए आश्वासन दिया-''श्री किशोरी जी सारी सम्हाल रखकर मंगल करेंगी, आप उस ओर पद बढ़ाइये तो सही।''

उन दिनों इतनी अच्छी सड़कें न थीं न गाड़ियों की भरमार, अधिकांश पद यात्रायें ही हुआ करतीं। श्री शिवनंदन दास जी जब श्री जनकपुर धाम पहुँचे - दो तीन दिन के भूखे थे। शरीर थका हुआ था और भूख के कारण दुर्बलता अनुभव हो रही थी। उसी समय एक मैथिली किशोरी जैसे श्री महाराज जी के अमोघ आशीर्वाद को सार्थक करने आयी, उसके

हाथों में मिथिला का प्रसिद्ध भोजन दही- चिऊडा का थाल था। वह थाल उसने श्री शिवनंदनदास जी के सामने रख दिया मानो श्री जनकनंदिनी जी ने अपने अवधवासी स्वजन की पहुनाई की हो।

श्री शिवनंदनदास जी चकित से सोच रहे थे-''इसे कैसे ज्ञात हुआ कि मैं दो तीन दिन से भूखा हूँ?''

पूछने के लिये उन्होंने सामने देखा तो वह किशोरी वहाँ थी ही नहीं। जहाँ तक दृष्टि की पहुँच थी वहाँ तक वह नहीं दिखाई दी, केवल उसका लाया वह थाल भोज्य सामग्री सहित उनके सामने था।

वे समझ गये कि श्री महाराज जी का आशीर्वाद ही मूर्त हुआ है- श्री जानकी जी ही अपने भक्त के वचन सिद्ध करने हेतु पधारीं थीं।

एक बार श्री शिवनंदन दास जी किसी कारणवश नाराज हो गये तब श्रीमहाराज जी ने उन्हें आशिर्वाद दिया ''आगे चलकर आपको राष्ट्रीय स्तर का कोई गरिमायुक्त पद प्राप्त होगा।''

कालान्तर में ये अखिल भारतीय निर्वाणी अनी के सर्वोच्च महान्त पद पर प्रतिष्ठित हुए। उस पद से सेवा निवृत हो टीकमगढ़ के बराना में विशाल भूखण्ड के समृद्ध आश्रम के महान्त पद पर आसीन होकर भगवान और भक्त दोनों ही सेवाओं का संचालन आजीवन करते रहे।

सरल, हंसमुख और प्रेममय स्वभाव वाले श्री रामदास जी भी श्री महाराज जी के छोटे गुरुभाई हैं। ये संगीताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। अनेक प्रतिभासम्पन्न श्री रामादास जी अयोध्या में करूणानिधान आश्रम के महान्त पद को सुशोभित कर ठाकुर जी एवं संतों भक्तों की सेवा में तत्पर हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्‌भक्तः संगवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मायेति पाण्डव।। गीता 11/55

गीता के इस श्लोक में भक्त की पाँच विशेषतायें बतायी हैं ठाकुर जी ने -''मेरा कार्य करने वाला, मेरे परायण, मेरा भक्त, आसक्ति रहित और समस्त प्राणियों के प्रति वैर रहित।

ये सभी विशेषतायें श्री महाराज जी के स्वभाव में, विचारों और व्यवहार में समाहित थीं। समीप रहने वाले को तो इसका अनुभव होता ही था किंतु जिसने कुछ ही देर उनका संग किया उसे भी लगता-ये साधारण व्यक्ति नहींहैं, ये साधारण नहीं हैं.....। शिक्षित-विचारवान लोगों को लगता जैसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का उपर्युक्त श्लोक स्वयं मूर्तिमंत हो अपने व्यवहार द्वारा इस श्लोक का अर्थ समझाने के लिये सम्मुख अवस्थित है। जैसे गोस्वामी जी की यह चौपाई -''सीयराममय सब जग जानी, करहु प्रनाम जोरि जुग पानी है- आकार ग्रहण कर स्वयं ही सामने आ खड़ी हुई हो।

इनकी मन, वचन, कर्म की प्रत्येक क्रिया आराधना थी, उनकी दृष्टि भगवन्मतयी थी अतः प्रत्येक कार्य सेवा-पूजा था।

मुझे समझ में नहीं आता - दया कहते किसे हैं? परोपकार होता क्या है?

श्रीमहाराज जी जैसे महापुरुषों की तो भगवन्मयी दृष्टि है - क्या कोई अपने आराध्य पर दया करेगा? वह तो सेवा ही करेगा।

साधारण लोग-दुसरों को कष्ट में देख अपने मन में जो दु:ख होता है- ''इसका कष्ट दूर हो जाय-यह सुखी हो जाय''। इस भावना से प्रेरित हो उनेक द्वारा जो कर्म किया जाता है, लोक में उसे ही तो ''परोपकार'' कहा जाता है।

अब सोचें जरा-हमने किसका उपकार किया ''अपना'' या ''पर'' का?

उसका कष्ट देख जो कष्ट आपके मन को हुआ था - उसका कष्ट मिटे बिना आपके मन का यह कष्ट भी मिटने वाला नहीं है। आपने उसका कष्ट मिटाने का जो प्रयत्न किया वह इसी बात से प्रेरित होकर किया। इसी प्रयत्न का नाम ''परोपकार'' और उसे देखकर जो कष्ट मन को हुआ उस कष्ट का नमा ''दया'' रख दिया गया।

दया-परोपकार जो कुछ भी किया वस्तुतः वह आपने अपने पर ही किया किसी ''पर'' पर नहीं।

आप तो साभवतः उससे परिचित भी नहीं हों फिर?

इस प्रकार के सारे कार्य या तो आराध्य की सेवा हैं या फिर स्वयं के प्रति ही।

अच्छी बात यह हुई कि आपके कष्ट और उसके निवारण के बीच ''वह'' सुखी हो गया और इसी का प्रतिफल आपको मिला-पुण्य।

अब ''वह'' कौन? आँख वालों के लिये आराध्य और हम जैसों के लिये? पराये को दुःखी देख कोई दुःखी क्यों होगा?

हमारे समीप से होकर अब तक कितनी अर्थियां गुजरी हैं? झरते नेत्र-पिता-पितृव्यों को कंधे पर उठाये शमशान की ओर बढ़ते कितने लोगों को अब तक देखा है हमने? अखबार की सूचनाओं में कितने लोग मरे, घायल हुए और बीमार पड़े-कितना कुछ होता है नित्य, लोग-हम परमहंस बने रहते हैं। फिर?

वह तो कुछ समय के लिये आपका ''स्व'' जाग जाता है। क्योंकि ''वह'' कोई और नहीं आप स्वयं हैं, इसीलिये दर्द उठा दिल में और आप लग पड़े उसका दर्द -दुःख मिटाने में कि आपके दिल का दर्द मिटे-आप सुखी हो जाय बस। हम सब जानें या न जानें पर बात यही है।

भक्तमाल भाष्य के लेखन काल में श्री महाराज जी का गोवर्धन से वृन्दावन आना जाना रहता था। वृन्दावन आने पर श्री गिरधारीदास जी भक्तमाली के पास भक्तमाल आश्रम में ठहरते थे। श्री गिरधारी जी का श्रीमहाराज जी के प्रति सख्य भाव था और श्री महाराज जी का उनके प्रति गुरुभाव। श्री गिरधारी जी महाराज से श्री महाराज जी ने भक्तभाल के कुछ प्रसंग सुने थे। इसीलिये ये उन्हें गुरुवत मानते थे। गोवरधन से वृन्दावन आते जाते हुए इतना बृहद् भाष्य लिखना-प्रकाशित करना बड़ा असुविधा युक्त कार्य था। कुछ समय पश्चात् '' श्रीलक्ष्मण मंदिर निर्वाणी अखाड़ा की सेवा उपयुक्त हाथों में सौंपकर वृन्दावन आ गये। यह बात सम्भवत: सन् 1974 की है। वृन्दावन में श्री सुदामा कुटी में श्री महाराज जी का स्थाई निवास हो गया। सुदामा कुटी के संस्थापक थे श्री सुदामा दास जी महाराज।

श्रीसुदामादास जी महाराज-इनके लिये पंडित श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली कहते-मुझसे भक्तमाल पढ़ी तो बहुतों ने, पर लगी केवल सुदामादास जी को।

उनका अर्थ था - भक्तमाल केवल पढ़ी ही नहीं श्रीसुदामादास जी ने भक्तमाल ग्रन्थ के सिद्धान्तों पर आचरण भी किया। भक्तमाल पढ़ कर ये साधु सेवा में जुट गये और ऐसे जुटे कि साधु सेवा ही सर्वस्व बन गयी।

श्रीसुदामादास जी महाराज झोली लेकर व्रजवासियों के घर से भिक्षा मांग लाते। भिक्षा से लोटते समय कंडे उपले भी बीन लाते। कुटिया पर आकर टिक्कड़ बनाते उन पर आलू का भर्ता रखते-ठाकुर जी को भोग लगाकर प्रतीक्षा करते किसी संत-साधु की। उन्हें प्रसाद पवाकर फिर बचा हआ स्वयं पाते। कभी-कभी ऐसा होता कि संत अधिक आ जाते उनके पाने के बाद कुछ बचता ही नहीं तब आप प्रसन्नतापूर्वक केवल जल पी कर सो रहते।

श्री मलूकपीठाधीश महाराज जी ने लिखा है-''श्री सुदामादास जी महाराज के संत-सेवा के इस दृढ़ अध्यवसाय से सुदामाकुटी आश्रम भक्तमाल ग्रंथ की प्रयोगशाला के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जहाँ वृन्दावन में आये हुए किसी भी संत को बिना किसी भेद भाव के आदर पूर्वक प्रसाद एवं विश्राम स्थल की सुविधा उपलब्ध रहती है।

बिहार में गोपालगंज जिला के छिपाया फार्म गाँव में कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में श्री सुदामादास जी का जन्म हुआ। उपनयन संस्कार के पश्चात् अधिकांश समय कथा कीर्तन और सत्संग में ही व्यतीत करते। किशोरावस्था में महान्त श्री रामसेवकदास जी महाराज से मंत्र दीक्षा और विरक्त वेश लेकर तीर्थ भ्रमण दर्शन हेतु चल पड़े। कुछ वर्ष बाद श्री जनकपुर के दर्शन करते हुए श्री अवध आये। यहाँ रामचरितमानस का अध्ययन एवं भजन साधना करते हुए छः वर्ष रहे। इस बीच वृन्दावन से एक रासमण्डली अयोध्या आयी-लीला देख कर आप श्री रासबिहारी ठाकुर जी पर मुग्ध हो गये और मन वृन्दावन दर्शन के लिये व्याकुल हो उठा। सन् 1926 में श्री सुदामादास जी महाराज अयोध्या से वृंदावन चले आये कि नित्य रासलीला के दर्शन का आनन्द मिल सके। वृंदावन आकर सदा के लिये यहीं बस गये।

यहाँ क्या अपने मन से बसा या जा सकता है? आ भी जाय कोई, किंतु रहना क्या अपने बस का है?

जब तक यहाँ के सुकुमार गृहपति और करुणामयी स्वामिनी न चाहें, कोई टिक सकता है यहाँ?

मनुष्य के बस में तो केवल चाहना है- इच्छा करना है, नन्हें शिशु की भांति हाथ पैर चलाना-अवश प्रयत्न भर है उसके बस में। बस, इतने से ही ये करुणा-कृपामयी रीझ जाती हैं।

इन्हीं दिव्य दम्पति की करुणा-कृपा ने उन्हें चाह देखकर उन्हें सदा सदा के अपने धाम में खींच लिया-बसा लिया अपनी गोद में।

यहाँ आने के बाद इन्होने पंडित श्री भक्तमाली जी महाराज से भक्तमाल पढ़ी। कुछ समय निकलने पर सुदामाकुटी नामक आश्रम की स्थापना की, संत सेवा की लगन ने इस आश्रम को भारत भर में विख्यात कर दिया।

श्री महाराज जी ने भी गोवरधन से आकर श्री सुदामाकुटी वृंदावन में निवास किया। श्रीमहाराज जी का वृंदावन वास सन् 1974 से तीस पर्यन्त रहा, वे श्री सुदामादास जी महाराज का गुरु के समान ही सम्मान करते थे। सुदामाकुटी में ही रामायण के सरस-विलक्षण वक्ता श्री रामेश्वरदास जी रामायणी भी निवास कर रहे थे। पंडित श्री भक्तमाली जी की प्रेरणा और श्री सुदामादास जी के सानिध्य में रहकर श्रीरामायणी जी और श्री महाराज जी द्वारा भक्तमाल पर भाष्य लेखन हुआ।

सन् 2005 में पूज्य श्री सुदामादास जी महाराज अपने आराध्य का नाम स्मरण करते हुए ठाकुर जी की सेवा में उनके धाम पधारे। श्रीसुदामादास जी का जीवन चरित्र ''स्मृतिग्रन्थ'' में विस्तार पूर्वक लिखा गया है जो सुदामाकुटी वृन्दावन से प्रकाशित हुआ है।

श्रीठाकुरदास जी बाबा - गुजरात के देसाई ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण किया था बाबा ठाकुरदास जी ने। होनहार बिरवान के होत चिकने पात'' की तरह बाबा बचपन से ही अन्य बालकों से विलक्षण थे। प्रवृत्ति की ओर इनकी रूचि नहीं थी- ये निवृत्ति की ओर सहज गतमान रहते। अन्य बालको जैसे न इनके खेल थे न बातें। ये एकान्त में शाँत आँख मूँद कर बैठे रहते, कभी किसी पत्थर को देव मानकर पूजा करते। दया, न्याय, परोपकार इनके स्वाभाविक गुण थे। किसी से झगड़ा करना, उधम करना इनके स्वभाव में नहीं था।

आगे चलकर ये संत विनोबा भावे के सर्वोदय आन्दोलन में उनके सहयोगी बन गये। इसके बाद तो ठाकुर जी की कृपा से गोवरधन आकर पूज्य पंडित श्री गया प्रसाद जी का सानिध्य प्राप्त किया। श्रीपंडित जी उन दिनों भगवद्‌भजन के विशेष नियमों को स्वीकार कर तपोमय साधना में निरत थे। बाबा ठाकुरदास जी ने पंडित जी की सेवा को ही अपना जीवन व्रत बनाकर कई वर्षों तक सेवालग्न रहे। महापुरूषों की सेवा कैसे की जानी चाहिये यह बाबा ने अपने व्यवहार से संसार को बताया।

सत्य, सदाचार, रहनी, करनी, कथनी, भजन आदि में पूज्य पंडित जी के सिद्धान्तों का दृढ़ निष्ठा पूर्वक पालन किया। पंडित जी की भजन शैली में श्री सद् गुरुनिष्ठा का स्थान सर्वोपरि है। बाबा के जीवन व्यवहार में और उपदेशों में भी सद्‌गुरु निष्ठा सर्वत्र व्याप्त थी।

बाद में श्री पंडित जी से आदेश पाकर वे चन्द्रसरोवर पर निवास करने लगे। सूरदास जी की साधना स्थली चन्द्रसरोवर के शांत परिवेश में बाबा कई वर्ष साधना मत रहे। व्रजवासियों की इनके प्रति बहुत श्रद्धा और अपनत्व था, बाबा भी उनके प्रति पूज्य बुद्धि रखते थे।

वृद्धावस्था में बाबा को कोई नेत्र रोग हुआ। डॉक्टर का कहना था कि-''ऑपरेशन के बिना काम नहीं चलेगा-रोग ठीक नहीं होगा।''

"ऑपरेशन से तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है किंतु मेरी एक शर्त है। यदि डॉक्टर सा! आप उसे मान लेते हैं तो फिर आप प्रसन्नतापूर्वक ऑपरेशन कर सकते हैं।''

"कैसी शर्त? कहिये।"

"मुझसे पहले आप पाँच व्रजवासी नेत्र रोगियों का नि:शुल्क ऑपरेशन कर दें, उनके नेत्र स्वस्थ करदें तो मैं अपना ऑपरेशन करवा लूँगा।

बेचारा डॉक्टर एक बार तो पशोपेश में पड़ गया, ऐसा मरीज उसने जीवन में कभी नहीं देखा था जो स्वयं को मिलने वाले चिकित्सकीय सुविधा का उपयोग पहले व्रजवासियों को प्रदान करना चाहता था। उसने तो हर सुविधा क्षेत्र में संसार के लोगों को "पहले मैं" "पहले मैं" कहते-करते ही देखा था। यह कौन महामानव है जो "पहले और" "पीछे मैं" कह रहा है? उनकी भावनाओं से प्रभावित डॉक्टर ने शर्त स्वीकार कर ली।

एक बार ठाकुरदास बाबा को रास्ते में एक व्यक्ति गाय का बछड़ा ले जाते हुए मिला, उसकी चाल-ढाल और व्यवहार से बाबा समझ गये कि यह व्यक्ति इस बछड़े का शुभेच्छु नहीं है। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछताछ की तो मालूम हुआ कि वह बछ्ड़े को हाट में ले जाकर कसाई को बेचने वाला है।'' बाबा ने उससे बछड़े का मूल्य पूछा-"कितना रुपया मिलेगा तुम्हें, इसको बेचने पर?"

"सौ पचास तो मिल ही जायेगा।"

"ठीक ठीक बताओं भाई! सौ पचास तो आधा-पूरा होता है।" बाबा ने कहा

"सत्तर पिचहत्तर मिले तो बेच दूँगा, तुम क्यों पूछ रहे हो बाबा?"

"अगर सही मूल्य बताओ तो मैं खरीद लूँगा।"

"तुम? तुम क्या करोगे बाबा!"

"मैं कुछ भी करुँ, पर तुम्हें भी हाट तक नहीं दौड़ना पड़ेगा और मेरा भी काम हो जायेगा, सही मूल्य बोलो तो ले लूँगा।

"तो लाओं बाबा पचास रु. दो, न एक पैसा कम न ज्यादा।"

मूल्य देकर बाबा बछड़ा ले आये। ले तो आये किंतु मन में एक विचार शृंखला अवतरित हो गयी-"आह, इस प्रकार न जानें कितना गोवंश कसाइयों के हाथों बेचा जाता

होगा। किसी प्रकार इसे बचाया जा सके.......। किंतु कैसे ? सरल काम न था यह। पहले तो बेचे जाने वाले पशुओं की खोज ढूँढ और खरीद, उसके बाद उनके भरण पोषण और निवास की व्यवस्था-प्रचुर अर्थबल-जनबल की आवश्यकता थी किंतु संतों को क्या, अखिल विश्वनियन्ता जिनका अपना है, वह तो निरन्तर मुँह देखा करता है कि इनके मन में कोई संकल्प प्रकट हो ता उसे पूर्णता प्रदान कर वह स्वयं को कृतार्थ अनुभव करे।

बाबा के मन में भी चन्द्रसरोवर परासौली में गौशाला निर्माण का संकल्प उठा कि-वधस्थल की ओर जाने वाले गोवंश की रक्षा हो।

श्रीमहाराज जी द्वारा सूरश्याम सेवा संस्थान नामक समिति की स्थापना हुई थी। इस समिति द्वारा "हरिदास खीमजी सूर विद्यालय" की दशा सुधारने का उपक्रम हुआ। इस संस्था की बैठकों में श्री महाराज जी ने इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार करते हुए "गौ संरक्षण" विषय भी शामिल कर लिया बाबा ठाकुरदास जी द्वारा गोवत्स को दिये गये संरक्षण से प्रेरित श्रीमहाराज जी ने "सूर श्याम सेवा संस्थान" के अंतर्गत चन्द्रसरोवर के किनारे " श्रीसूरश्याम गौशाला" की स्थापना की । इसका लक्ष्य था सम्पूर्ण व्रज के गोवंश की सुरक्षा करना।

कैसी विडम्बना है हम हिंदू कहाने वालों की, गाय को माता कहते हमारा मुँह नहीं थकता। थके भी क्यों पूर्वजों से सुना है कि "गाय माता है।" बचपन में माँ ने हाथ पकड़ कर गाय को कभी कभी रोटी दिलवायी थी, कभी भूमि पर सिर टिका कर प्रणाम भी कराया होगा, बस हो गयी इतिश्री गोसेवा की।

दूध सूख जाने पर गाय को भूखे मरने को छोड़ देने वाले हम हिंदू ही तो हैं, बाजार में सब्जी अथवा अनाज की ओर तनिक मुँह बढ़ाते ही डंडा लेकर टूट पड़ने वाले भी हिंदू हैं और अक्षम, असहायावस्था में मिल जाय सो ही भला सोचकर वृद्ध-कमजोर गोवंश को कुछ पैसे ले कर हाथ काले करते हुए कट्टी खाने की ओर हाँक देने वाले भी मंदिरों में उन

पैसों से प्रसाद भोग लगा जोर शोर से "जय जगदीश हरे" गाने वाले धर्म धुरन्धर हिन्दुत्वाभिमानी भी हमीं हैं। और फिर "माँ" कह देने से उनके मुँह में छाले तो पड़ते नहीं और न ही विधाता ने जीभ में हड्डी लगायी है कि बोलने में इधर उधर मोडने में कष्ट हो, जो चाहे सहज ही बोला जा सकता है अतः "माँ" जैसा महान शब्द क्यों न बोलें? किंतु ऐसी अवस्था में-कथनी करनी में भेद देखकर -"माँ" शब्द सुनकर अवश्य ही हमारी जन्मदायिनी जननी भी काँप ही जाती होगी। धन्य भारत (?)धन्य हिंदू (? ?) और धन्य धन्य हमारी इस मातृभक्ति (? ? ?) को।

क्या वे सरस्वती पुत्र (चारण) सभी निर्वंश मरें? कोई नहीं रहा उनके वंश में कि हिन्दुओं को "माँ" शब्द का अर्थ बताये-व्याख्या करे "गोमाता" शब्द की और शब्दों के हथौड़ों से उनके लोभी हृदय की अभेद दीवार को तोड़ दें। झिझौड़ कर तोड़ दे उनकी अमानवीय नृसंशता की नींद को? ऐसा कोई नहीं बचा? कहाँ गयी माता भारती के वरद पुत्रों की वे संताने जिनके कड़खे धर्म रक्षा हेतु केवल क्षत्रियों को ही नहीं वैश्यों, शूद्रों और ब्राह्मणों को भी मातृभूमि की रक्षा हेतु जूझने-रणखेत में कट मरने को प्रस्तुत कर देते थे।

सूरश्याम गौशाला के कार्य कर्ताओं ने व्यवस्थित योजना बनाकर उसके अनुसार आस पास के गाँवों के लोगों को समझाया कि-"जो गायें दूध नहीं देतीं हैं उन्हें यदि तुम नहीं पाल सकते तो यो ही खुला छोड़ने अथवा कसाइयों को देने के बदले सूरश्याम गौशाला को सौंप दें। कार्यकर्ता पशु हाटों में जाते और वधिकों को बेचे गये पशुओं को छुड़ाकर गौशाला में ले आते। बाबा ठाकुरदास जी और श्रीमहाराज जी दोनो महापुरुष अर्थबल की ओर से भी सचेष्ट रहे। एक गोवत्स से आरंभ हुई इस गौशाला में आज हजार से ऊपर गायें हैं और उनकी सुचारु सेवा हो रही है। यह है संत की संकल्प शक्ति। श्रीमहाराज जी आजीवन इस संस्था के अध्यक्ष रहे।

साधारण संसारी जन और संतों की दृष्टि में अंतर होता है। एकबार श्री महाराज जी गोवरधन से चन्द्रसरोवर पैदल ही पधार रहे थे। एक व्रजवासी भी अपनी भैंसा गाड़ी लेकर जा रहा था, उसने श्री महाराज जी को श्रद्धपूर्वक अपनी गाड़ी में बिठा दिया। महाराज जी जब चन्द्रसरोवर पहुँचे तो बाबा ठाकुरदास जी ने उन्हें भैसा गाडी में बैठकर आते देखा। श्री महाराज जी का भैसा गाड़ी से आना उनकी सरलता, निरभिमानिता का प्रतीक है किंतु बाबा ठाकुरदास जी की दृष्टि में वह भैंसा सामान्य जीव नहीं रह गया जिसने श्री महाराज जी जैसे महापुरुष को वहन किया, उसे अब और किसी सामान्य जन को क्यो वहन करना पड़े ? श्री महाराज जी से जुड़ने के पश्चात भी क्या वह सामान्य पशु ही रह गया ?

बाबा ने भैंसे सहित गाड़ी खरीद ली, भैंसे का नाम रखा "सेवादास"। सेवादास ने अपना बाकी बचा सारा जीवन गोसेवा में बिताया; गायों के लिये- घास, भूसा, हराचारा, खली आदि वस्तुयें ही उस गाड़ी में लायी जाती दोनों संत महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर सेवादास पशु होकर भी धन्य कृतार्थ हो गया।

एक बार गोवर्धन के वात्सल्य रस के सिद्ध संत श्री गयाप्रसाद जी महाराज ने पू.श्री नारायणदास जी भक्तमाली (श्रीमामाजी महाराज) के लिये कहा- "ये तो प्रेम-मूर्ति हैं, रस ही रस भरा है इनमें।" इस एक ही वाक्य में पंडित जी ने पूरा परिचय दे दिया।

श्रीमामाजी महाराज-बिहार प्रान्त के सिद्धाश्रम बक्सर जिले में पांडे पट्टी गाँव के चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में श्रीमन्नारायण चतुर्वेदी जी का जन्म हुआ। कामर्स विषय ले कॉलेज की पढ़ाई सम्पन्न करके होमगार्ड पुलिस की नौकरी करने लगे। माता-पिता द्वारा प्राप्त संस्कार और पूर्वजन्म की साधना के फलस्वरूप श्रीमन्नारायण जी नित्य ड्यूटी के पश्चात रामायण पाठ, पदगायन और कीर्तन के लिये मंदिर अथवा सत्संग स्थल पर चले जाते। भक्ति के रस रंग में भींज कर समय का भान भूल डूब जाते श्री रघुनाथ जी के

रूपगुण वर्णन में। मध्यरात्रि में जब सत्संग विश्राम होता तब वे अपने डेरे पर आते। एक बड़े हॉल में होमगार्ड के कई सिपाहियों के साथ रहते थे। रात बारह बजे स्थान पर आकर भूख का भान होता और स्टोव जलाकर दाल चावल बनाते। यथासाध्य यह कार्य निशब्द सम्पन्न हो, यह ध्यान रखते हुए भी स्टोव की भर्रभर्र और एकाध बर्तन की खनक निद्रारत सहकर्मियों की नींद तोड़ देंती। इनके द्वारा प्रा:त काल की हुई क्षमा प्रार्थना नित्य के निद्राहनन की झुंझलाहट का शमन नहीं कर पाती। आखिर एक दिन लोगों ने मिलकर समाधान ढूँढा कि "श्रीमन्नारायण जी के आने से पूर्व ही दोनों ओर के फाटक बंद कर दें, फिर कैसे भीतर आयेंगे?

प्रातः ड्यूटी पर जाते समय श्रीमन्नारायण जी ने देखा एक ओर के फाटक का एक पल्ला (किंवाड़) अलग रखा हुआ है।

"यह फाटक का पल्ला कैसे टूटा?" इन्होंने पूछा।

सहकर्मी हँसने लगे तो इन्होंने फिर पूछा–"इतने मजबूत फाटक का पल्ला अलग कैसे हो गया?"

रात में आपकी नित्य की खटपट के मारे हमने सोचा दोनों फाटक बंद कर देने से न आप अंदर आ सकेंगे न हमारी नींद में विघ्न होगा। किंतु हम एक फाटक बंद करते तो दूसरा खुल जाता, दूसरे को बंद करते तो जाने कैसे पहला वाला खुल जाता। आखिर में दोनों फाटक एक साथ बंद करने लगे कि एक पल्ला ही अलग हो गया।"

साथी की बात सुन श्रीमन्नारायण जी की आँखों से झर झर आँसू झरने लगे–"मेरे खाने सोने की इतनी चिंता है तुम्हें? जब तुम चिंता करते हो तो मुझे चिंता करने की क्या आवश्यकता है? हे रघुनाथ अब मुझे केवल तुम्हारी ही चाकरी करनी है, अब इस देह मन से और किसी की सेवा मुझ से नहीं होगी। जैसे चाहो वैसे रखो प्रभु! आज से यह नारायण तुम्हारा है, तुम्हारा है........।

कार्यालय पहुँच कर इस्तीफा लिख दिया। विभाग के अफसर ने पूछा–"क्यों इस्तीफा दे रहे हो? कहीं और अच्छी नौकरी लग गयी है कि जो लगी लगायी नौकरी को लात मार रहे हो?

मन में कहा– "हाँ लग गयी है नौकरी, मेरे प्राण सखा के साथ रहने की, उसके गुणानुवाद की गुणगान की, मेरी मनभावती नौकरी लग गयी है.......लग गयी है...............।"

ऊपर से बोले–"कुछ नहीं सर! ऐसे ही.......मन नहीं करता.......कहते कहते गला भर आया! दस्तखत करके चल दिये।

" मन नहीं कर.....ता?" ऑफिसर के मुँह से निकला, वह आश्चर्य से इस जाते हुए पागल व्यक्ति को देखता रहा। "हाँ पागल ही तो; केवल मन न करने से कोई लगी लगायी सरकारी नौकरी छोड़ता है भला? सहभागियों से लड़ाई नहीं, कहा सुनी नहीं, कोई असुविधा नहीं, केवल मन नहीं करता...... ?"

घर लौटने पर भी सुनकर सभी आश्चर्य विमूढ़। इतना बड़ा परिवार–भरण पोषण कैसे होगा? कमाने वाले एकमात्र व्यक्ति ने भी हाथ ऊँचे कर लिये तब? उस थोड़ी सी भूमि की उपज ही कितनी? जाने कितने प्रश्न परिवार के सामने मूर्त हो गये। केवल पत्नी और चार बालक ही नहीं माता पिता भाई और पर था का भी दायित्व जिसके सिर पर था वही..........वही...........।

"नौकरी छोड़ दी सो तो ठीक, पर अब क्या करोगे?" पिता ने धीमे स्वर में पूछा।

सारी घटना सुनाकर पुत्र ने कहा–"केवल भगवद् गुणगान"।

सुनकर धर्मप्राण पिता चुप रह गये, शायद मन में प्रसन्न ही हुए हों।

उन्हें स्मरण आया वह प्रसंग – श्री मामा जी महाराज के पिता स्वयं ज्योतिषी थे पर एक बार अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीमन्नारायण की कुण्डली एक ज्योतिषी को दिखाने पर उसने कहा था–"चतुर्वेदी जी आपका यह पुत्र अधिक काल तक गृहस्थी का निर्वाह नहीं कर पायेगा। विरक्त होकर भक्ति की नारदीय पद्धति की ओर मुड़ जायेगा।

किंतु इतना बड़ा परिवार और कमाने वाला तो एक यही है,फिर इसकी संताने..... निर्वाह कैसे होगा" ?

"चिंता न करें आप, सो सब नारायण सम्यक प्रकार से निर्वाह करेंगे।"

"आज उनकी भविष्यवाणी की सत्यता का श्रीगणेश हो गया है।" उन्होंने सोचा।

"फिर जीविका........ ?मैंने पूछा।

"आजतक कोई भूखा नहीं सोया। संकट तो आये पर श्रीहरिकृपा से निवारण होता गया।

"एकबार अवध में प्रवचन सुन रहा था।" उन्होने कहा–"वैराग्य का ऐसा सुन्दर निरुपण किया वक्ता ने कि मन में आया इन्हीं की शरण ग्रहण करके–इनके निर्देशन में वैराग्य पथ का पथिक हो कर चलने से लक्ष्य सहज सिद्ध हो जायेगा।"

प्रवचन के पश्चात उनके स्थान पर गया तो वहाँ का ठाटबाट देखकर जी ऐसा उचटा कि तीन चार कोस तक दौड़ता ही चला गया। शरीर थक कर जब तक गिर नहीं पड़ा दौड़ता रहा, जब गिरा तो उठने की हिम्मत नहीं हुई, वहीं उसी दशा में सो गया। जब नींद से जगा तो रेल की सीटी सुनाई दी उठकर स्टेशन गया पटना जाने वाली ट्रेन खड़ी थी उसी में बैठ गया।"

"मैं तो नौकरी छोड़ तुरंत विरक्त वेश लेकर निकल जाना चाहता था किंतु माँ ने कहा–"पहले कर्तव्य–निवृत्त हो जाओ।"

बक्सर के महान सिद्ध संतश्री खाकी बाबा सरकार से मंत्र दीक्षा ग्रहण करके श्री मामा जी महाराज श्री हरिनाम की अलख जगाने लगे।

एक बार कहीं भक्तमाल की कथा सुनकर उसके सम्यक अध्ययन की चाह से वृन्दावन आने के लिये स्टेशन पहुँचे उन्हीं के मुख से यह प्रसंग सुना, वृन्दावन में एकबार गोरेदाऊ जी आश्रम में उन्होंने श्यामसुन्दर शरण भैया से कई संतों के लिये टिकिट व्यवस्था करने को कहा। व्यवस्था करने के बाद श्याम भैया ने हंसते हुए एकान्त में कहा–"ऐसे तो महाराज जी अपने टिकिट की व्यवस्था बिगड़ जायेगी।"

"श्याम! व्यवस्था करने वाले हम कौन है? सबकी व्यवस्था श्री किशोरी जी करती हैं। हम भी एक दिन पटना स्टेशन पर व्याकुल भाव से घूम रहे थे कि कोई हमारे वृन्दावन जाने के निये टिकिट की व्यवस्था करदे और किशोरी जी ने व्यवस्था की। एक सिख सरदार बैंच से उठकर मेरे पास आये और जेब से टिकिट निकाल कर देते हुए बोले–आपको दिल्ली जाना है? यह टिकिट लीजिये।"

"जाना तो मुझे वृन्दावन है; किंतु आप–अपना अपना टिकिट मुझे क्यों दे रहे हैं? मेरे पूछने पर उन्होने कहा– "मुझे कुछ काम याद आ गया है। आप जाइये, यह गाड़ी आ गयी है।" टिकिट के साथ कुछ रुपये देते हुए बोले – इससे मथुरा और वहाँ से वृन्दावन चले जाइयेगा।"

वृन्दावन आकर सुदामाकुटी में रहकर ज्ञानगूदड़ी में पूज्य श्री जगन्नाथप्रसाद जी भक्तमाली से भक्तमाल का अध्ययन करने लगे।

उस समय तक श्री महाराज जी द्वारा प्रणीत भक्तवल्लभा टीका प्रकाशित हो चुकी थी। श्री पंडित जी महाराज उसी से भक्तमाल का अध्यापन और कथा किया करते थे। यहीं भक्तमाल के टीकाकार के रूप में श्री मामाजी महाराज ने श्री महाराज जी का परिचय पाया।

एकबार श्री मोहन भाई ध्राँगध्रा वालों को श्री पंडित जी महाराज ने कहा-"आप मोमें और बाबा गणेशदास जी भक्तमाली में भेद ना माने? वे तो मेरे ही स्वरूप हैं।" सुनकर इन्हें श्रीमहाराज के दर्शन की प्रेरणा मिली। उस समय श्री महाराज जी लक्ष्मण मंदिर गोवर्धन में निवास किया करते थे। श्रीमामा जी महाराज पंडित श्री गयाप्रसाद जी के दर्शन करने गोवर्धन जाया करते थे। वहाँ से लक्ष्मण मंदिर जाकर उनके दर्शन किये। एक बार श्री महाराज जी से मिलने श्री मामा जी महाराज लक्ष्मण मंदिर गये उस समय श्री महाराज जी स्नान करके गमछे से शरीर पोंछ रहे थे। श्रीमामाजी ने श्री महाराज जी को दण्डवत प्रणाम किया। श्रीमहाराज जी के स्नान का जल वहाँ इकट्ठा हो गया था, श्रीमामाजी ने श्रद्धापूर्वक वह जल तीन अंजली भर कर पान कर लिया। श्रीमहाराज जी उनकी यह क्रिया मुस्कराते हुए देख रहे थे, वे दैन्यवश किसी को अपना चरणामृत नहीं देते थे पर आज श्रीमामा जी की भावप्रवणता देख मुस्कराते रहे।

कर्त्तव्य निवृति (बालको के विवाह के पश्चात) प्रयाग के संत श्री रामचरनदास जी फलाहारी बाबा से श्री मामा जी महाराज विरक्त दीक्षा, श्रीजनकनंदिनी सीता जी का अनुज होने का सम्बन्ध तथा नेहनिधि नाम पाया।

श्रीभक्तमाल के सरस वक्ता होने के कारण "श्रीनारायणदास" जी भक्तभाली कहलाये।

अपने गुरुदेव श्री खाकीबाबा महाराज के सानिध्य में श्री मामाजी महाराज ने बक्सर सिद्धाश्रम में श्रीसीताराम विवाह महोत्सव का बृहत आयोजन किया जो अद्यावधि प्रतिवर्ष वृद्धिको प्राप्त होता जा रहा है। इस उत्सव के संचालन के लिये "श्री सीताराम-विवाह महोत्सव समिति" की स्थापना की गयी। श्री महाराज जी को अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान पूर्वक श्री मामाजी ने अध्यक्ष और संरक्षक के पद पर समासीन किया। श्री महाराज जी आजीवन इस पद पर बने रहकर विवाह महोत्सव में जाते थे। इस महोत्सव की शोभा-रचना

अद्‌भुत है- सहस्त्रों की संख्या में संतों, भक्तों का आगमन होता, उसीके अनुसार विशाल परिसर पाण्डाल, उतनी ही बृहद् भोजन-प्रसाद व्यवस्था और प्रातः से लेकर अर्धरात्री तक चलने वाले मंच कार्यक्रम।

इन सबके केन्द्रबिंदु-मामाजी महाराज को देखा है हमने, उस से एकाध दिन पहले तक बिना कलेऊ किये घूमते रहते, उनके पीछे पीछे सेवक जल और गमछा लिये विनम्र आग्रह करते हुए अतिकाल की स्मृति कराते-"महाराज जी! मुँह धो लीजिये, थोड़ा कलेऊ कर लें, बहुत देर हो गयी साढ़े दस ग्यारह बजने को हैं महाराज जी............।"

किंतु महाराज जी की सूक्ष्म दृष्टि को कुछ न कुछ कमी दिखायी पड़ ही जाती और वे यह कहते हुए जुट जाते-"बस हो गया, अभी-बस अभी आते हैं। तुम जाओं कलेऊ करो, बहुत काम है, भूखे भूखे काम नहीं होता।"

"महाराज जी आप..........?" कहने वाले के स्वर में संकोच और भय दोनों ही होता।

"हे भगवान!" स्वर में हल्का रोष लाकर कहते-हम कहीं भागे जा रहे हैं? आते है अभी तुम जाओ अपने काम से निपटो।" अथवा हँसकर उसके सामने बैठकर अंजली फैला देते जल के लिये-"लाओ जल्दी करो, तुम मानोगे थोड़े ही।" "महाराज जी! बालभोग?"

"बस, वहाँ तक जाकर लौट रहे हैं? तुम दूसरों को देखो, सबका बालभोग हो गया?"

वहाँ तक जाकर.......क्या केवल जाकर ही? कहीं कील ठोकी, कहीं पर्दा ठीक किया, कहीं ठेले वालों को परिसर से बाहर रहने की व्यवस्था, कहीं लीलामंच........... कही कुछ, कही कुछ और फिर राजभोग के समय बालभोग कभी बालभोग छूट ही जाता सीधे राजभोग।

गोरेदाऊ जी वाले बाबा कहते–"हमारा मामा ब्रह्मा है, बिटिया!" सचमुच ब्रह्मा ही तो थे, कितने हाथी, घोड़े, कच्छप, मत्स्य और जाने क्या क्या बना डाले उन्होने। आने वाले अतिथियों की व्यवस्था, उनके रहने के साथन पर जाकर उनकी सुविधा असुविधा देखना–पूछना, उत्सव के पश्चात सबकी विदाई, सब समेटना , यथास्थान रखना–रखवाना. ......।

एक बार इतनी बर्षा हुई कि दर्शकों के बैठने के स्थान पर पानी ही पानी भर गया, देखकर बोले– "देख न, तेरे लाटसाहब ने क्या कर दिया? अब बैठेंगे कहाँ सब लोग?"

बाल्टियों में भर भर कर पानी उलीचा जाने लगा, गीली जमीन पर बाजरे की कड़बी (कर्बी) बिछाकर ऊपर बोरों को सिलकर बिछाया गया और उसके ऊपर फर्श। हर समस्या का हल था उनके पास। अपनत्व ऐसा के उनके संकेत पर धन्ना सेठ धोती खोस छोटे से छोटे काम करने को दौड़ पड़ते थे। वे क्या नहीं थे–इंजीनियर, मिस्त्री, बढ़ई, रसोईदार, चित्रकार, कवि, वक्ता, गिना नहीं जाता। स्मरण आते ही छोटे से दरवाजे में से जैसे बहुत सी भेड़ें एक साथ एक के ऊपर एक चढ़ सी कसमसा कर बाहर निकलने को आतुर हो उठती हैं तो स्मृतियां भी निकलने को आतुर हो फँस जाती हैं कंठ गल में।

एक बार श्री महाराज जी विवाह उत्सव में पधारे। गाड़ी कुछ देर से पहुची थी अतः स्वागत के लिये जो स्टेशन पहुँचे थे वे भी मिल नही पाये। निरभिमानिता के स्वरूप श्री महाराज जी अपना झोला लिये पैदल ही विवाह स्थल पर पहुँच गये। अति सामान्य वेषभूषा और रहनी के कारण किसी को ज्ञात नहीं हो सका कि इतने बड़े महोत्सव के अध्यक्ष महोदय पधारे हैं।

विशाल पाण्डाल के एक कोने में बल्ली के सहारे झोले को रखकर श्रीमहाराज जी देहकृत्य में लगे। स्नान के पश्चात् वहीं बल्ली के पास बैठकर तिलक–पाठ किया।

बालभोग का संकेत मिलने पर नियत स्थान पर जाकर बालभोग भी कर आये। अपने आने की न तो किसी को सूचना दी और न ही उन्हें किसी ने पहचाना। अन्य यायावर साधुओं के समान पंडाल के एक कोने में विराज गये।

श्रीमामाजी महाराज अपने परिकरों, कार्यकर्ताओं और दफ्तर से जानकारी लेते रहे किंतु सूचना और पहचान के अभाव में कोई निश्चितरूप से नहीं बता सका।

बहुत देर बाद किसी व्यक्ति ने श्री महाराज जी को पहचाना और जाकर श्रीमामाजी महाराज को सूचना दी। वे तुरंत वहाँ पहुँचे और श्री महाराज के "निर्मानमोहा जितसंगदोषा" के स्वरूप पर न्योछावर हो-हो गये।

मिथिला-अवध सम्बन्धों पर श्रीमामाजी महाराज की अनेक रसमयी रचनायें हैं भोजपुरी, खड़ी बोली और अन्य आँचलिक भाषाओं में सहज ही ऐसी सरस भावमयी रचनायें कर लेते थे कि सुनने वाले मुग्ध हो उठते।

जयपुर में एक दिन मेरे मन में प्रश्न उठा-"कब लिखते होंगे ये? समय तो मिलता नहीं, एक मंच से उठकर दूसरे मंच पर कथा कहते बैठ जाते हैं।"

श्री मामाजी महाराज विनय की मानो साकार विग्रह ही थे। एक बार वृन्दावन कुंभ के समय संतसम्मेलन में पधारे। मंच से उतर कर गाड़ी में बैठने को पधार रहे थे, सामने एक युवक साधु दिखाई पड़ गये। श्री मामाजी महाराज ने हृदय-रोग होते हुए भी भूमिष्ठ हो उन्हें दण्डवत प्रणाम किया, बेचारे साधु संकोच से गड़े जा रहे थे प्रणाम करते हुए उनके मुख से महाराज जी.....महाराज जी के अतिरिक्त कुछ न निकल सका। थोड़ा आगे बढ़ने पर मैंने पूछा-"उस सन्यासी को आपने प्रणाम क्यों किया?"

"वे अपने स्थान की गद्दी पर आसीन हैं।"

"केवल गद्दी? वे कुछ नहीं जानते होंगे।"

"न जानें, पर वे बड़े हैं।"

"आपसे बड़े हैं? आप कुछ नहीं है? आप भी तो........।"

"ठहरो, ठहरो। हम कहाँ कह रहे है ं कि हम कुछ नहीं है हम भी हैं न।

"क्या हैं? उस बाईस पच्चीस साल के निरे बच्चे से भी........।

"हम बता रहे हैं भाई! तुम रुकों तो। सुनो, हम भी कुछ हैं, जानती हो क्या हैं हम?"

मन में सोचा कैसे जानेंगे, कबसे तो सुनने को आतुर हैं, बता तो रहे नहीं। " दृष्टि उठाकर चलते चलते मैंनें उनकी ओर देखा।"सुनो," श्री मामाजी गाड़ी के समीप पहुँच चुके थे। वहाँ एक क्षण ठहरकर मेरी ओर देखा और मुस्करा कर बोले "हम दास है।" और फाटक खोलकर गाड़ी में विराज गये।

"क्या?" अनायास मेरे मुंह से निकला।

"बैठ जाओ" पिछला दरवाजा खोलकर मुझे बैठने का संकेत करते हुए बोले-"हाँ हम दास है। मुझसे कुछ कहते नहीं बना। पूज्य भक्तमाली जी के उत्सव में जिन्होंने उन्हें हाथ में लाठी लिये द्वारपाल बने कुर्सी पर बैठे देखा है, वे शायद उनके "हम दास हैं" के स्वरूप का ठीक-ठीक वर्णन-व्याख्या कर पायें।

उनके वात्सल्य की बात क्या कहूँ। वे सबके अपने थे, सबको लगता-सबसे अधिक महाराज जी मुझे ही दुलार करते हैं किंतु मेरी धृष्टता और उनके वात्सल्य में होड़ लगी ही रहती थी। मेरी धृष्टता सदा हार जाती, फिर भी बाज नहीं आती। उनके सम्मुख अपनी आयु विस्मृत हो जाती मुझे, उनका वात्सय मुझे सदा पाँच सात साल की बच्ची बनाये रखता। कुछ भी कहते नहीं बनता, क्या कहूँ? कहने लिखने जाकर तो डायरी के पृष्ठ कम पड़ जायेंगे।

संतों के महात्म्य से सर्वथा अपरिचित उनसे दस हाथ दूर रहने वाली मुझ उज्जड़ के मन में आज जो संतों के प्रतिथोड़ी सी श्रद्धा है वह श्री मामाजी महाराज का ही कृपा प्रसाद है अन्यथा अपनी मान्यताओं पर चलने से तो मैं जाने कहाँ होती।

मैंने आश्चर्य से उनकी ओर देखा तो धीरे से मुस्करा दिये।

नवीन रचना होने पर श्री महाराज जी को उस पर दृष्टि डाल लेने का अनुरोध करते और श्रीमहाराज जी के पढ़ लेने के पश्चात् ही उसका प्रकाशन होता। जैसे श्रीमामाजी महाराज का श्रीमहाराज जी के प्रति श्रद्धाभाव था वैसे ही श्री महाराज जी की भी श्री मामाजी महाराज के प्रति परम आत्मीयता थी।

श्रीगिरधरगोपाल शास्त्री जी की प्रेरणा से एक बार श्रीरामेश्वर धाम में भागवत कथा का आयोजन हुआ। उसमें दोनों ही महापुरुष पधारे। श्री रामेश्वर मंदिर का लम्बा परिसर पार करके ही दर्शन स्थल तक पहुँचा जा सकता है। वृद्धावस्था और बीमारी के कारण श्री महाराज जी की निर्बलता बढ़ गयी अतः पहिये वाली कुर्सी (व्हील चेयर) पर बैठकर मंदिर पधारते। अनेक सेवकों के रहते भी श्रीमामाजी महाराज स्वयं अपने हाथों से थाम व्हील चेयर मंदिर में ले जाते, लगता–मानों श्रद्धा और आत्मीयता साथसाथ चलकर भगवान रामेश्वर दर्शन को जा रही हैं।

बक्सर में श्री सीताराम विवाह उत्सव में प्रतिवर्ष मिथिलारस की प्रचुर वृष्टि होती है। श्री जनकात्मजा के पक्ष का स्वाभिमान रखते हुए अवधपक्ष को जो प्रेमभीगी गालियाँ दी जाती हैं– सुनकर दोनों पक्ष के भक्त आनन्द सिंधु में निमग्न हो जाते हैं। श्री महाराज जी भी भावमग्न समाधिस्थ से होकर उन्हें सुनते रहते।

एकबार विवाह महोत्सव के तुरंत बाद श्री जनकपुर की यात्रा की भूमिका बनी। विवाह रस में छके से श्री महाराज जी ने जनकपुर के अनेक दर्शनीय स्थलों के दर्शन किये।

वहाँ के अनेक संत जो भक्तमाल भाष्यकार के रूप में इनका नाम जानते थे, परिचय पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक भक्त के घर निवास काल में एक दिन प्रसाद पाने की तैयारी में एक भक्त ने जल लेने के लिये हैंडपंप चलाया तो उसमें से दूध की धारा के समान श्वेत जल निकलने लगा। यह देख सभी चकित रह गये। जनकपुर क्षेत्र में दधिमती नदी प्रवाहित होती है। माता का दुग्धपान करते समय श्री सियाजू के मुख से जो दूध की बूंदें गिरी उन्हीं से दधिमती नदी प्रकट हुई ऐसी मान्यता है। सभी भक्तों को लगा-वही दधिमती आज हैंडपंप से श्री महाराज जी के लिये प्रवाहित हो गयी।

ऐसे ही धनुषा नामक स्थान पर श्री महाराज जी जैसे ही एक हैंडपंप के समीप पधारे-बिना ही हेंण्डिल (हत्था) चलाये उसमें से बहुत सा जल निकलने लगा। यह देख सभी भक्त भावविभोर हो गये। मिथिला के गीत और कथायें सुनते हुए यह यात्रा-आनन्द पूर्वक सम्पन्न हुई। जनकपुर की श्री महाराज जी ने और भी कई यात्रायें की।

श्रीदादाजी- महापुरुषों का भ्रमण जगत में रमें-मायामुग्ध जीवों के कल्याण के लिये ही होता है। उनके सानिध्य से वचनों से और उन्हें छू कर बहने वाली वायु से भी सहस्त्रों का कल्याण हो जाता है। कई के संशय मुक्त हो इस महत्पद पर चलने का तत्पर हो उनकी कृपाश्रित होकर जग जंजाल से मुक्त हो जाते हैं।

श्रीमहाराज जी प्रतिवर्ष अश्विन शुक्ल-नवरात्र में मध्यप्रदेश के दमोह शहर पधारते। इन यात्राओं से वहाँ के श्रद्धालुओं को कल्याणमय पर चलने का निर्देशन और उत्साह प्राप्त होता। विश्वास की ठोस भूमि प्राप्त होती उनके संशय से डगमगाते पदों को। ऐसे श्रद्धालुओं के अगुआ थे-श्रीशिवशंकर दीक्षित।

दादाजी के नाम से प्रसिद्ध श्रीशिवशंकर जी का जन्म सन् 1926 में मध्यप्रदेश के सागर जिला के जिनौआ गाँव में हुआ था। पाँच वर्ष के होते होते पिता का देहावसान हो गया और इसके कुछ ही काल उपरान्त जन्मदायिनी जननी भी विशम्भर श्रीहरि को इनका भार सौंप कर परलोकवासिनी होगयी।

बालक शिवशंकर ने बड़ी कठिन परिस्थितियों में काल यापन किया। गाँव का हनुमान मंदिर ही उनका आवास स्थल था। एक रामलीला मंडली ने इन्हें श्रीलक्ष्मण जी का अभिनय कार्य दिया। एक बार वन गमन लीला में लक्ष्मण जी ने वन में श्री रघुनाथ जी के साथ चलने की प्रार्थना की। श्री लक्ष्मण जी का अभिनय करते हुए बालक शिवशंकर इतने विह्वल हुए कि मूर्छित हो गये, लीला को वहीं विराम देना पड़ा। उस अवस्था में लीला दर्शनार्थी विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में दीक्षित श्री राधेश्याम जी रामायणी की दृष्टि इन पर पड़ी। वे इन्हें सारी रात गोद में लिये बैठे रहे, प्रातः होश में आने पर उन्होने परिचय पूंछा और वैष्णवी दीक्षा देकर सब प्रकार से संरक्ष्रण प्रदान किया।

शिक्षा पूर्ण होने पर शिवशंकर जी गृहस्थ बने और जीविका के लिये दमोह में वैद्यकी ग्रहण की। वे उस समय वहाँ के सफल वैद्य माने जाते थे। हृदय में भगवद्‌भक्ति का बीज तो सम्भवतः जन्म से पूर्व ही वपन हो चुका था-बचपन में वह अंकुरित-पल्लवित भी हो गया था, अब युवावस्था में श्री हनुमान जी महाराज की कृपा और रामचरित मानस के गहन अध्ययन अवगाहन से वह पल्लवित पौधा सघन-पुष्पित पादप बन लह लहाने लगा था। श्रीमानस रस से रंजित उनका मानस आराध्य-गुणगान के लिये व्यग्र हो उठा- वे कथा कहने लगे। दमोह के हनुमानगढ़ी मंदिर में उन्होंने बारह वर्षों तक कथा की। सभी संतों-भागवतों और शास्त्रों ने कल्याणमार्ग के पथिकों के लिये भगवन्नाम का ही सहज सरल साधन के रूप में निरूपण किया है। श्री दादा जी ने भी बहुत कम समय में इसकी

महत्ता समझ ली और अपने आप को श्री भगवन्नाम के लिये समर्पित कर दिया। कलिसंतरणोपनिषद के महामंत्र–हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे को उन्होंने संकीर्तन का प्रमुख आधार स्वीकार किया और डूब गये नाम माधुर्य–रस में।

श्री दादाजी की प्रेरणा से दमोह और आस–पास के कई गाँवों में संकीर्तन मंडलियाँ बनीं और उस क्षेत्र में संकीर्तन की धूम मच गयी। कीर्तन के आरंभ में वे जब विलम्बित आलाप लेते तो लगता स्वर नाभि से उठकर हृदय के प्रेम और करुणा से स्नात हो उच्छलित–प्रसरित हो रहा है। आँसू बहाते हुए वे विगलितस्वर में घंटों कीर्तन करते रहते। उनके संग और प्रेरणा से अनेकों व्यक्तियों ने संकीर्तन को ही जीवन बनाकर जन्म सार्थक कर लिया।

एक बार श्रावण मास में वे वृन्दावन के लोई बाजार की एक दुकान पर बैठे थे। दसेक वर्ष की एक कन्या हाथ में पूजा सामग्री लिये आयी और बिना कुछ कहे उसने दादाजी के हाथ में राखी बाँधकर भाल पर रोली की गोल बिंदी लगा दी। दादा जी ने उसकी थाली में दो रुपये रखकर उसके चरणों में सिर रख दिया। बालिका वहाँ से चली गयी, उसके जाने के बाद उन्हें स्मरण आया आज रक्षाबंधन है। भाव विह्वल दशा में वे बड़ी देर तक उस बालिका को ढूँढते रहे किंतु वह कहीं नहीं मिली। उस दिन से उन्होंने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के तिलक के बदले गोल बिन्दी लगाना आरंभ कर दिया।

एक बार दमोह में ही एक अपरिचित व्यक्ति ने इन्हें श्री राधाकृष्ण के अत्यन्त सुन्दर विग्रह प्रदान किये और उनका नाम लाड़िली लाल बता कर चला गया। इस प्रकार अचानक विग्रह प्राप्ति से दादाजी कुछ समझ नहीं पाये, फिर ध्यान से उन विग्रहों को देखा–और इस अयाचित कृपा करुणा से विगलित हृदय–अश्रुपूर्ण नेत्र ले उस व्यक्ति को

ढूँढने निकले, सफल न होने पर घर आकर विग्रहों को पधरा कर कीर्तन करने लगे। अब नित्य ही लाड़िलीलाल के सांनिध्य में प्रात: 5 बजे से 6 बजे तक "जय सियाराम जय जय सियाराम" का कीर्तन, प्रात: 8 बजे से 9 बजे तक भक्तमाल की कथा, अपराह्न 4 चार बजे से 5 बजे तक श्रीमद्भागवत की कथा, रात्री 8.30 से 9.30 तक महामंत्र का संकीर्तन तथा 9.30 से 10.30 बजे तक रामचरितमानस की कथा इसके पश्चात् फिर महामंत्र का कीर्तन कहने का नियम बन गया और आजीवन दादाजी इसका निर्वाह करते रहे।

पुरातन और नवीन सभी धर्म ग्रन्थों में भक्ताराधन को महत्व दिया गया है। मनीषियों ने भक्त-भगवंत में अभेद बुद्ध रखने का निर्देश किया है। बिना संतों-भक्तों का संग सेवा किये आध्यात्म मार्ग का महत्व, रुचि और दृढ़ता प्राप्त नहीं होती। कोई अपने प्रयत्न से कितनी भी ऊँची अवस्था प्राप्त करले - भले भगवान ही मिल जाँय, संत और गुरु कृपा के बिना कोई अवस्था स्थिर नहीं रह सकती। इसीलिये महज्जनों ने संत-गुरु आश्रय को महत्ता दी है। इसीलिये भक्तमाल कहती हैं-

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वंदन कियें नाशहिं विघ्न अनेक।।

श्रीदादाजी ने सभी शास्त्रों के सार स्वरूप भगवन्नाम को तो जीवनाधार मान कर ग्रहण किया किंतु संत सेवा की ओर उनका ध्यान नहीं गया। भक्तवत्सल श्रीहरी कैसे गाफिल रहते, वे तो निजजनों के हितार्थ सभी साधन जुटा देते हैं। जो भी बात-काम छूट जाता है उसे करने की प्रेरणा और जो कुछ न समझ में आये उसे समझाने का प्रबन्ध वे कर देते हैं।

जब श्री महाराज जी दमोह पधारे उनका दर्शन सानिध्य पाकर वे भक्त-भजन के मार्मिक तथ्य को हृदयङ्गम कर पाये और तब वे पूर्णत: भक्ति सिद्धान्त में परिनिष्ठित हो गये।

दादाजी स्वयं ही कहते–''मेरा सम्पूर्ण साधन अपूर्ण ही रह जाता यदि श्री महराज जी से मिलन न होता। मैं तो महात्माओं की महिमा से अनभिज्ञ ही रह जाता, मेरी इस कमी को पूर्ण करने के लिये ही श्री भगवान ने मुझे श्री भक्तमाली जी से मिलवाया।''

श्रीमहाराज जी से मिलने के पश्चात दादा जी के स्वभाव में अतिशत दैन्य और सहिष्णुता आ गयी। श्रीमहाराज जी के श्री मुख से भक्तमाल की कथा सुनकर संतों–भक्तों के चरित्र में प्रीति उत्पन्न हुई और आगे चलकर तो दादाजी भक्तचरित्र की सर्वोत्तम अवस्था–''तृणादपि सुनीचेन'' पर पहुँच गये थे।

दादाजी के स्नेहाग्रह के कारण श्री महाराज जी प्रत्येक शरद नवरात्र में दमोह पधारते थे। जाते समय कहते ''मैं दादाजी का सत्संग लाभ करने जा रहा हूँ।''

श्री महाराज जी वहाँ श्रीभक्तमाल की कथा कहते, बारह तेरह वर्ष तक यह सिलसिला चलता रहा। श्रीमहाराज जी से दादा जी ने केवल अपना परिवार ही नहीं अपने परिकर को भी जोड़ दिया।

दादाजी कहा करते –''बारह तेरह वर्ष तक श्री हनुमान जी को श्रीरामचरितमानस एवं संकीर्तन सुनाने के फल स्वरूप मुझे श्रीमहाराज का सत्संग प्राप्त हुआ। यदि ये न मिलते तो जीवन एवं साधना दोनों अधूरे ही रहते।'' श्रीमहाराज जी के प्रति दादाजी का समर्पण अद्भुत था।

श्रीमनसुख बाबा– एक बार श्री बरसाने के गहवर वन में श्रीमहाराज ने श्रीमद्भागवत की कथा कही। सुनने के लिये संतों–भक्तों भीड़ लग जाती। वहीं श्री रासबिहारी ठाकुर जी के प्रसादी वस्त्र धारण किये, भाल पर रामानंदी तिलक लगाये एक संत का दर्शन होता।

सायंकाल रासबिहारी ठाकुर जी –किशोरी जी के युगल स्वरूप की झांकी भी हुआ करती थी। श्री ठाकुर जी और किशोरी जी इन संत को ''मनसुखा बाबा'' कहा करते।

मनसुखा बाबा का जन्म ब्रज में ही कोसी के पास किसी गाँव में छोटी जाति में हुआ था। ये बिना पढ़े लिखे अत्यन्त भोले स्वभाव के थे। श्री मलूकपीठाधीश श्री राजेन्द्रदास जी महाराज भी इस कथा में उपस्थित थे। उन्हें आरम्भ में बाबा के प्रति कोई श्रद्धा नहीं थी, यह जानकर श्रीमहाराज जी ने समझाया कि–''मनसुखाबाबा प्रेमी संत हैं। इनकी श्री ठाकुर जी और श्री किशोरी जी के प्रति सिद्ध भावना है, ये विशुद्ध महात्मा हैं।''

एक बार मनसुख बाबा की जाँघ में फोड़ा हो गया। बहुत इलाज और प्रयत्न के पश्चात भी पश्चात भी यह फोड़ा ठीक नहीं हुआ इनका कष्ट देखकर एक व्रजवासी इन्हें इलाज के लिये मथुरा ले गये। वहाँ फोड़े की जाँच हुई तो ज्ञात हुआ कि वह फोड़ा कैंसर का था। डॉक्टर ने बाबा को किसी बड़े अस्पताल ले जाने को कहा। बाबा ने उस व्रजवासी से कहा– ''मेरो जन्म ब्रज में भयो है, अब मैं मरवे ताई व्रज से बाहर जाय जाऊंगो। भैया! तैंने अपनो काम कर लियौ अब तू मोय बरसाना राधाबाग के निकट ले नाय के छाँड दे। हमारो कन्हैया दादा तो कृपा करे है, किंतु हमारी किशोरी जू तो कृपामयी ही हैं, वे कृपा बरसाने वारी हैं याई लिये हम सबरे बरसाने वारी की जय जयकार कियो करें हैं। बाबा का विश्वास और निष्ठा देख वह व्यक्ति उन्हें बरसाने ले आया और राधाबाग के पास छोड़ कर चला गया। बाबा का कष्ट असह्य था। रात बड़ी मुश्किल से उन्हें थोड़ी नींद आयी। नींद में उन्होंने अद्‌भुत स्वप्न देखा–अष्टसखियों सहित करुणामयी श्री किशोरी जी पधारीं, उन्होंने श्री ललिता जू से कहा–''ललिता देख न ये अपने मनसुखाबाबा को कहा ह्वै गयो।'' ललिता जू ने समीप आकर कहा–''हमारे मनसुखाबाबा को तो कछु न भयो। कहते हुए उन्होंने अपना हाथ बाबा के सिर पर रखा।

बाबा ने जगने पर देखा उनका फोड़ा जैसे कभी था ही नहीं, वह सर्वथा सर्वदा के लिये समाप्त हो चुका था। यहाँ तक कि उसका कोई चिन्ह अथवा दाग भी जाँघ में नहीं बचा था।

इस घटना के कुछ समय बाद बाबा श्री महाराज जी के पास आये, श्रीमहाराज जी ने पूछा–"हमने सुना कि आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं था?"

बाबा रो पड़े! आँसू बहाते हुए उन्होंने श्री महाराज जी को सारी बात बतायी। बाबा जिस समय बता रहे थे उस समय श्री मलूकपीठ वाले महाराज जी भी वहाँ उपस्थित थे।

श्री हरी किसी की जाति, वर्ण, विद्वता, अर्थ अथवा कला से प्रसन्न नहीं होते, उन्हें निश्छल मन का सरल विश्वास ही भाता है। कोई उन्हें जानें न जाने, माने अथवा न माने पर वे मन की सरलता पर बिक जाते हैं और एक बार हृदय सिंहासन पर आसीन हो जाने के पचात् कभी जाते नहीं। यदि यों कहें कि एक बार हाथ थाम लेने के बाद हजार बार हाथ पाँव मारने पर भी छोड़ते नहीं। कभी उसके अपराधों की ओर देखते नहीं, उसकी दी गाली उन्हें लगती नहीं, फिर वह नहीं–वे ही उसके पीछे पड़ जाते हैं।

मनसुखाबाबा के सरल मन के विश्वास ने जीत लिया उन्हें। यह घटना इसका प्रमाण नहीं है क्या? प्रमाण तो भरे पड़े हैं ग्रन्थों में। प्रमाण तो प्रत्येक व्यक्ति को मिल ही जाता है जीवन में एक आध बार अपने अथवा अन्य समीपस्थ के साथ घटी किसी अनहोनी घटना के द्वारा। किंतु हमारी श्रद्धा के आँख–कान बंद होते हैं, बंद होता है हृदय का विश्वास–द्वार और कभी–कभी समय का द्वार भी बंद होता है। श्रद्धा–विश्वास के द्वार सत्संग से खुलते हैं, समय का द्वार भगवान खोल देते हैं–गुरु खोल देते हैं। इतने पर भी "ऐसा हो" यह चाह तो हमें ही करनी पड़ती है। उदाहरण तो ऐसे भी मिलते हैं – जहाँ यह चाह भी न थी फिर भी द्वार खुले, बरबस धकेल दिया गया उस द्वार में और काम बन गया। ऐसे काम बन जाने का कारण संभव हो कि–पिछले जन्म में उसकी चाह रही हो इस पथ पर चलने की–इस द्वार में प्रवेश की; किंतु उन लोगों का साथ न मिल पाया हो जो हाथ थाम कर ले चलें इस द्वार की ओर अथवा समय न रहा हो; उसके पास या फिर चाह रहते हुए भी इस ओर न मुड़ पाया

हो और बरबस बढ़ गया हो विपरीत दिशा में। जब पुनः मानव जन्म की भूमिका प्रस्तुत हुई तो सर्वेश के मंगलविधान के अनुसार उसकी इस चाह को ही मुख्य मान कर प्रारब्ध का निर्माण हुआ और काम बन गया। कभी संत कृपा कारण बनी।

श्रीभक्तमाल भाष्य– श्री भक्तमाल भाष्य में टीकाग्रन्थ की आवश्यकताओं का निर्वाह तो हुआ ही है। इसकी अन्य उपलब्धियाँ भी हैं जैसे–ग्रन्थ की विषय वस्तु सम्बन्धित ज्ञानवर्धक बातें भी इसमें गुम्फित हैं।

मुख्यतः नाभा गोस्वामी जी का उद्देश्य भक्तों की भजन पद्धति का प्रकाशन था। इस छोटे से ग्रंथ में सैंकड़ों भक्तों के जीवन की घटनाओं को सूत्रात्मक रूप से वर्णन किया है उन्होंने।

आगे जाकर श्रीप्रियादास जी ने इस सूत्रों और भक्ति–सिद्धान्त की व्याख्या पद्यात्मक रूप से की। मूल ग्रंथ और श्रीप्रियादास जी कृत ''भक्तिरसबोधिनी'' टीका की एकात्मकता जैसे उदाहरण साहित्य जगत में विरले ही प्राप्त होते हैं। गाम्भीर्य एवं विस्तार दोनों दृष्टियों से यह टीका प्रशंसनीय है।

इसी टीका का अनुसरण करते हुए श्री महाराज जी एवं श्रीरामायणी जी ने गद्य में श्री भक्तमाल भाष्य का प्रणयन किया। इस महत् कार्य में उन्हें पांच बर्ष का समय लगा। गद्य–विधा होने से टीकाकारों को विशाल आधार भूमि प्राप्त हुई जिससे भक्त चरित्रों का विशद वर्णन सम्भव हुआ।

श्रीभक्तमाल भाष्य में पूर्ववर्ती टीकाओं का सहारा तो लिया ही गया–अन्य ग्रंथों से भी सामग्री संकलित की गयी है। जहां तक संभव हुआ भक्तों के जन्म संवत्, जन्म स्थलों का भी निर्देश हुआ है।

श्रीभक्तमाल भक्त चरित्र और भक्ति सिद्धान्त ग्रंथ ही नहीं एक प्रकार से यह इतिहास ग्रंथ भी है। भक्त चरित्र के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये शास्त्र वचन और संत साहित्य को भी जगह जगह उद्‌धृत किया गया है।

एक भक्त की विशिष्टता उजागर करने के लिये श्री भक्तमाल के ही किसी दूसरे भक्त के वैसे ही जवन प्रसंग का उद्धरण देकर समझाया गया है।

मूलग्रंथ में आये भिन्न-भिन्न क्षेत्र के शब्दों का अर्थ समझाया गया है इस तरह शब्दार्थ और भावार्थ दोनों को खोलकर मूल ग्रंथ का आशय समझाया गया है।

श्रीभक्तमाल भाष्य का एक उद्देश्य श्री भक्तमाल का प्रचार-प्रसार भी था।

साहित्यविद, परिमार्जित रूचि और कुशल कथा-वाचकों द्वारा ही किसी ग्रंथ का प्रचार सम्भव होता है। इसलिये इस ग्रंथ भाष्य में नये कथावाचकों के लिये प्रमाणित, सरल, सुबोध सामग्री प्रस्तुत की गयी। ज्ञानवर्धक, रूचिकर दृष्टान्तों द्वारा श्री भक्तमाल के वक्ताओं के लिये यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है।

श्रीरामानंद पुस्तकालय-स्थापना- श्रीभक्तमाल भाष्य लेखन के प्रथम चरण के उपरांत दूसरा चरण आरंभ होता है इसका प्रकाशन। इस कार्य के लिये श्रीमहाराज जी ने एक व्यवस्थित योजनानुसार "श्रीरामानंद पुस्तकालय" की स्थापना की। इसके अनुसार भाष्य प्रकाशन कार्य नियमबद्ध प्रणाली से सम्पन्न करना था। श्रीमहाराज जी के दृढ़ संकल्प और अथक परिश्रम से ही पुस्तकालय की स्थापना हुई और इसके द्वारा श्री भक्तमाल भाष्य के चारों खंड प्रकाशित हुए और आगे भी इसके संस्करण मुद्रित होते रहें ऐसी व्यवस्था हो सकी। इन कार्यों के श्री महाराज जी संचालक थे।

प्रकाशन तप- श्री भक्तमाल भाष्य के प्रकाशन के समय कम्प्यूटर सुविधा नहीं थी। धातु अथवा सीसे के अक्षरों पर आधारित प्राचीन मुद्रण व्यवस्था ही उस समय

प्रचलित थी। ऐसे में प्रकाशन कार्य बड़ा श्रम-साध्य था। श्रीमहाराज जी का कोई विशेष सहयोगी भी नहीं था। लगता था जैसे-लेखन कार्य यज्ञचर्या थी और अब प्रकाशन कार्य तपश्चर्या हो। लोक मंगल के लिये इस तपश्चर्या का श्री महाराज जी ने सहज निर्वहन किया।

मुद्रणालय भेजने के लिये स्वयं ही लिखत सामग्री की प्रेस कापी बनाते, उसे मुद्रक के यह पहुँचा कर वहाँ से प्रूफ लेकर लौटते और स्वयं ही प्रुफ संशोधन करते।

सुदामा कुटी के जिस कक्ष में श्री महाराज जी का निवास था उसमें कई संत, और विद्यार्थी भी रहते थे। इन सबका भोजन-प्रसाद तैयार करने की सेवा भी श्री माहराज जी ही करते थे। इसमें प्रातः बालभोग, दोपहर के राजभोग और ारात का ब्यारू ये सभी सेवा यथसमय, करते हुए भी प्रकाशन कार्य में भी सुचारू रूप से संलग्न रहते। भक्तमाल भाष्य के बारह वर्ष पूर्व भी महाराज जी द्वारा लिखित भक्तवल्लभा टिप्पणी का प्रकाशन श्री गोवर्धन निवास काल में हुआ था। उस समय जिस तितिक्षा का परिचय देते हुए इस कार्य को किया था उसके प्रत्यक्षद्रष्टा श्री देवकीनंदन जी कुम्हेरिया लिखते हैं-

''मैंने देखा-जितना श्रम भक्तमाली जी ने टिप्पणी के अध्ययन, मनन, चिंतन और लेखन में किया, उससे अधिक श्रम उन्होंने उसके प्रकाशन कें उठाया भक्तबल्लभा टिप्पणी के अग्रिम कुछ पृष्ठ यहाँ कुसुम-सरोवर के बाबा कृष्णदास की छोटी मशीन वाली प्रेस में छपे थे। उसके लिये भक्तमाली जी मथरुा से आधा रिम कागज लाते, उसे बस अड्डे से सिर पर रखकर मंदिर आते। दूसरे दिन भक्तमाली जी उसे पैदल ही चलकर तीन किलोमीटर दूर कुसुम सरोवर पहुँचाते। उसके बाद कम्पोज हो जाने पर प्रूफ देखने को लाते और पढ़कर फिर पहुँचाने जाते। फरमा छप जाने पर उन्हें पुनः सिर पर उठा कर मंदिर लाते जहाँ स्वयं ही उन्हें मोडते। उस समय राधाकुण्ड जाने को वाहन सहज उपलब्ध नहीं होते थे, साइकिल रिक्शा उस समय तक चलना आरम्भ नहीं हुए थे।

सन् 1975-76 में भक्तमाल भाष्य प्रकाशन का कार्य आरंभ हुआ वह भी इसी प्रकार का तप था। इससे श्री महाराज जी की जो छवि उभरती है वह फलाकांक्षा और आलस्य रहित कर्मयोगी की छवि है। जो अपने कामनारहित कर्म-पुष्पों की आराध्य चरणों में पुष्पांजली अर्पित करते हैं।

भक्तयोग की दृष्टि से देखा जाय तो लगता है-श्रीठाकुर जी और उनके भक्तों के निष्काम -समर्पित सेवक हों।

एक बार गर्मी के दिनों में भोजन प्रसाद पाकर तुंरत ही भरी दोपहरी में बाहर चले गये। एक दिन नहीं नित्य ही ऐसा होता। तपती धूम में जब -सभी लोग प्रसाद पाकर विश्राम करते तब श्री महाराज जी बाहर निकल जाते। पास रहने वाले संत पूछते तो-''आवश्यक कार्य है'' कह कर टाल देते। संतों को इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ, जिज्ञासावश उनका पीछा किया तो ज्ञात हुआ कि-'' श्री महाराज जी उस समय श्री भक्तमाल की प्रतियों को सिर पर -कंधों पर उठाकर जिलदसाज के यहाँ पहुँचाया करते हैं। ''यह कार्य तो रिक्शे पर रखकर भी हो सकता है।'' यह सुझाव देने पर श्री महाराज जी ने कहा ''रिक्शे का खर्च ग्रंथ का मूल्य बढ़ा देगा, इस प्रकार पाठकों को अधिक मूल्य देना पड़ेगा।

भक्तमाल ग्रंथ के वितरण की भी श्री महाराज जी अपनी निजी व्यवस्था थी। वे जानते थे कि इस ग्रंथ की माँग वैष्णव साधु एवं भक्त ही करेंगे, उन पर अतिरिक्त व्यय भार न पड़ें इसलिये वे भकतमाल की प्रति स्वयं ही पैकिंग करते और डाकघर जाकर प्रेषित करते।

श्री महाराज जी मुद्रणालय से रिम आदि कागजों को ले आते जो मुद्रक के किसी काम नहीं आते, उन्हीं में भक्तमाल की प्रतियाँ लपेट कर सुतली से बाँध-यथा स्थान डाक द्वारा भेज देते। इस प्रकार ग्राहक का पैकिंग का पैसा भी नहीं देना पड़ता।

जीवन की सभी श्रेष्ठताओं के भवन त्याग और तपस्या की नींव पर ही खड़े होते हैं। उसमें भी सार्वजनिक हित के कार्यों में तो अपनी सुख-सुविधा का त्याग किये बिना उचित परिणाम मिलते ही नहीं। श्री महाराज जी के तो सभी कार्य गौ, ब्राह्मण, संत-भगवंत और प्राणिमात्र की सेवा के लिये होते, किंतु इस सेवाकार्यों के लिये उनके द्वारा किये गये त्याग-तप कोई जान नहीं पाता, क्योंकि वे लौकेषणा से मुक्त अमानी महापुरूष थे।

एक बार किसी शिष्य ने भाव-विह्वल होकर उनकी स्तुति सी करते हुए कहा-''मैं अनेक कष्टों से आपकी कृपा से ही वच सका हूँ।''

''आप चुप रहिये; मुझे अधिक सम्मान सहन नहीं होता।'' महाराज जी ने तनिक कठिन स्वर में कहा। यह उनका अमानीत्व था।

सुदामा कुटी से दो मूर्तियों के लिये बालभोग प्रसाद का दाल चावल मिलता, श्री महाराज जी उसे सिद्ध करके दिनभर साधु-संतों को पवाते रहते और स्वयं रात की बची हुई रोटी को गरम कर पा लते। साधुओं को प्रसाद पवाने के पश्चात् उनके झूठे बर्तन स्वयं माँजते-धोते। कोई शिष्य आकर यह सेवा प्राप्त करने का आग्रह करते तो कहते-''तुम चुप बैठो, यह ते साधु सेवा है-यही तो साधु का धर्म है। आज तक जो कुछ पाया है वह सब सेवा से ही पाया है।''

एक बार की बात है-सुदामा कुटी का कोतवाल श्री महाराज जी को पहचानता नहीं था। महाराज जी को देख उसने आवाज दी-''ए महात्मा जी!''

श्रीमहाराज जी ने विनम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर कहा-''भगवन् क्या आज्ञा है?''

''चलकर भण्डारे में टोकना मांजो।'' कोतवाल बोला।

''जो आज्ञा'' कहकर श्री महाराज जी भण्डार गृह में जाकर दाल का बड़ा भगोना माँजने लगे। छत पर टहलते हुए श्रीसुदामादास जी महारजा ने यह देखा और छत से उतर

कर कोतवाल को बहुत डाँटा और आज्ञा दी कि वह अपना आसन लेकर कहीं अन्यत्र चला जाय।

किंतु श्रीमहाराज जी ने विन्म्रता पूर्वक कहा–''यह तो साधु सेवा है महाराज! मुझे करनी ही चाहिये, कोतवाल का कोई दोष नहीं है। इसे क्षमा कर दिया जाय, भगवान्! इसे आसन उठाने का आदेश वापस लेने की कृपा करें।''

यह थी श्री महाराज जी की अमानीत्व, विनम्रता, कृपा और करूणा। उनके जीवन में ऐसे उदाहरणों की भरमार सी है।

वचनबद्धता– श्रीभक्तमाल भाष्य का जब प्रथम खण्ड छप रहा था, तब श्री महाराज जी ने घोषणा की कि जो ग्राहक एक सौ एक रूपये अग्रिम राशि के रूप में भेजेंगे उन्हें यह प्रथम खण्ड ही नहीं चारों खंड दिये जायेंगे। कुछ लोगों ने अग्रिमराशि भेजी भी सही किंतु आगे जाकर कागज न मिलने से और छपाई मँहगी होने से चारों खंडों का मूल्य चार सौ रू. हो गया। इतने पर श्री महाराज जी ने एक सौ एक रू. पहले भेजने वाले ग्राहकों को उसी अल्प मूल्य में चारों खण्ड भेज कर अपने वचन का निर्वाह किया।

परदोष-दृष्टि दीनता– भक्तमाल भाष्य चार खण्डों में प्रकाशित हुआ, वह जैसे हाथों हाथ वितरित हो गया। शीघ्र ही एक के बाद एक कई संस्करण प्रकाशित हुए। इससे श्रीमहाराज जी का प्रेस वालों से सम्पर्क बना ही रहता था। एक बार एक अभावग्रस्त प्रेस के स्वामी ने श्रीमहाराज जी से प्रार्थना की कि–''मुझे भी छपाई का कोई कार्य दिया जाय।'' उसने अपने अभावों का वर्णन किया तो श्री महाराज जी ने प्रकाशन का कुछ कार्य उसे सौंपा। कुछ समय तक तो वह ठीक ठीक काम करता रहा फिर वह प्रेस के कुछ पार्ट खरीदने की बात कह कर श्री महाराज जी से बहुत बड़ी धनराशि अग्रिम माँगने लगा। उस समय हजार रूपये का मूल्य आज के एक लाख रूपये से कही अधिक था। उस समय

''रुपया'' इतना नगण्य नहीं हुआ था और वह तो (प्रेस का स्वामी) हजारों रुपये माँग रहा था। सरल हृदय श्री महाराज जी ने उसका विश्वास करके उसकी माँग पूरी कर दी।

राजस्थानी भाषा में एक कहावत है –

हरदी जरदी ना तजै खटरस तजै न आम।

असली (सज्जन) तो औगुण तजै गुण को तजै गुलाम (दुर्जन)।

जैसे हल्दी अपना पीलापन, आम अपनी खटास नहीं छोड़ता वैसे ही सज्जन अपनी सज्जनता और दुर्जन अपने दुर्गुण नहीं छोड़ता। दुर्जन, केवल दण्ड की भाषा ही समझता है, सज्जनता का व्यवहार उसके लिये उपेक्षणीय या विनोद है इस प्रेस के मालिक ने भी श्री महाराज जी के साथ विश्वासघात करके उस धन से एक गाड़ी खरीद ली। प्रेस उसने बंद कर दिया। श्री महाराज द्वारा छपाई के लिये प्राप्त धन से खरीदी गयी गाड़ी मथुरा–अलीगढ़ मार्ग पर दौड़ने लगी। उसके मौज हो गयी अब वह छपाई में क्यों माथा मारे?

एक डेढ़ महीना दौड़ धूप करने पर उसको श्री महाराज जी के सामने लाने में सफलता मिली लोगों को। श्रीमहाराज जी ने शांति पूर्वक पूछा–''प्रकाशन कार्य कैसे रुक गया और अब आरंभ कैसे होगा? आपके तो अब दर्शन ही नहीं होते।''

''बाबा मुझे प्रेम में घाटा ही घाटा हो रहा था इसलिये क्या करता प्रेस की मशीनें बेच कर उन रुपयों से मैंने गाड़ी खरीद ली उसे भाड़े पर टैक्सी के रूप में चलाकर गुजारा कर रहा हूँ।'' उसने कहा।

''यह तो बड़ा अच्छा किया कि घाटे का व्यापार छोड़ कर दूसरा काम शुरू किया किंतु हमारी अग्रिम ली हुई राशि लौटा दो कहीं दूसरी जगह प्रकाशन करवायें।'' श्री महाराज जी ने कहा तो उस कृतघ्न व्यक्ति ने तमतमा कर कहा–''बाबा साहब! आप क्यों बेकार की बातें करते है? मेरे पास आपका कोई पैसा बाकी नहींहै । अब मत बुलवाना मुझे

अपने पास।'' कहते हुए वह जाने लगा। उसने अपनी नियत दिखा दी थी। ऐसे विश्वासघात पर किसी भी साधारण व्यक्ति को क्रोध आये बिना न रहता। किंतु फिर संत और साधारण में अंतर ही क्या होता श्रीमहाराज जी ने शाँत महोदधि की भाँति उस जाते हुए व्यक्ति से कहा –''अरे भाई! खाली हाथ क्यों जाते हो, प्रसाद तो लेते जाओ।''

एक दोना भर प्रसाद उसे देकर विदा किया।

आज के मलुकपीठाधीश और उस समय के छात्र श्री राजेन्द्रदास जी वहीं खड़े थे। उन्होंने श्री महाराज से निवेदन किया ''महाराज जी! आप सहज ही सब पर विश्वास कर लेते हैं। इस व्यक्ति ने कितना बड़ा धोखा किया।''

''पंडित जी! धन देखकर बड़ों–बड़ों के मन में लोभ आ जाता है। यह तो बेचारा साधारण मनुष्य है। संस्था को हानि नहीं पहँचायी जा सकती इस राशि की भर पायी मैं करूँगा। उस पर क्रोध न करें।'' श्री महाराज जी ने समझाते हुए कहा।

क्या बेईमानी का पैसा, दु:खी, गरीब और निरपराध पर अत्याचार करके और महापुरुषों का अपराध करके कोई सुखी रह सकता है? थोड़े ही समय में इनका परिणाम कोढ़ की भांति फूटने–प्रकट होने लगता है। शास्त्र कहते हैं–

त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिर्पक्षैः त्रिभिर्दिनैः।

अत्युत्कटस्य पापस्य इहैव फलमश्नुते।।

अति उग्र पाप का फल तीन वर्ष, तीन महिनो, तीन पक्ष, तीन दिनोंअथवा फिर एक ही दिन में प्राप्त हो जाता है। श्री महाराज जी के साथ बेईमानी करके जिन रुपयों से जो गाड़ी उस प्रेस वाले ने खरीदी थी वह कुछ दिनों बाद ही दुर्घटना ग्रस्त हो गयी। उस दुर्घटना में एक आदमी भी मर गया। गाड़ी का बीमा तो था नहीं जो वापस पैसा मिल जाता। इससे

उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी, घर में चूल्हा जलना भी मुश्किल हो गया। आखिर हार कर वह पुनः श्री महाराज जी के पास आया। रोते हुए उसने अपनी विपदा सुनायी–''मुझे माफ करो बाबा! मैं बेईमान हूँ, चोर हूँ, मैंने आपको धोखा दिया उसका फल भो रहा हूँ। गाड़ी का एक्सीडेंट हो गया, बीमा न होने से पैसा कहाँ से मिलता? मेरे बच्चे भूखे मर रहे हैं बाबा मुझ पर रहम करो....रहम करो कहते कहते वह बेतरह रो पड़ा।

किसी वश्विासघातक–धोखबाज पर भला किसी को दया आती है? नहीं, कभी नहीं, हम जैसों को तो कभी नहीं। अधिक से अधिक यही कहते उसकी बातों के उत्तर में कि–''भाई! यह कलियुग नहीं तुरंत युग है? तुमने जैसा किया वैसा ही भोग रहे हो इसमें भला मैं क्या कर सकता हूँ, जैसी करनी वैसी भरनी।''

किंतु महत्पुरुषों की बात ही और है, जिनकी दृष्टि में सभी उनके आराध्य के स्वरूप हैं उनकी बात ही कुछ और है, जिन्हें चारों ओर अपने प्रियतम का लीला–विलास ही दृष्टिगोचर होता है उनकी बात ही कुछ और है। जिनके हृदय मंदिर में करूणानिधान श्रीहरी का निवास है वे स्व्यं भी करूणामय हो जाते हैं। कठोरता, उपेक्षा, अनादर उनका स्पर्श भी नहीं कर पाते।

श्रीमहाराज जी के हृदय में भी क्षमा करुणा की पयस्विनी निरन्तर प्रवाहित होती रहती थी, किसी की भी व्यथा के ताप से उसमें और अधिक उफान आ जाता। उसके सारे अपराध जाने किस विस्मृति के गर्त में जा समाते और रह जाती ममतामयी माँ जैसी कृपा करूणा जिससे आकुल –कृपा परवश सामने वाले की सारी कठिनाई दूर करने को तत्पर हो उठते।

श्री महाराज जी ने कहा–''आपने तो कहा था''– आपका हमारा कोई हिसाब बाकी नहीं है।'' मैंने तो आपको चोर नहीं कहा फिर क्यों आप अपने को चोर–बेईमान मान रहे हैं? जो हो; झूठ नहीं बोलना चाहिये।''

श्री महाराज जी ने आलमारी खोलकर दो हजार रू. निकाले और उसे देते हुए बोले–''जाओ यह राशि अपने परिवार के भरण–पोषण में ही लगाना, दूसरे कामों में खर्च मत कर देना।''

श्रीमलूकपीठाधीश लिखते हैं–''एक ओर जघन्य–अक्षम्य अपराध और दूसरी ओर असीम क्षमा और करुणा देख कर यह दास विस्मित रह गया।''

पूछा अपने सद्गुरूदेव से –''महाराज जी! क्या ऐसे व्यक्ति पर दया होनी चाहिये।''

''पंडित जी! कथा–प्रवचन में दूसरों को सुनाने–समझाने के लिये ही श्री जानकी जी का यह वाक्य नहीं है कि–

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गमं।

कार्यं कारूण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।।

''हे हनुमान जी! पापात्मा, पुण्यात्मा अथवा बधयोग्य व्यक्ति ही क्यों न हो, आर्यपुरूषों को उस पर सदा दया ही करनी चाहिये, क्योंकि सृष्टि में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिससे कभी अपराध न हुए हों।''

दूसरों को यह वाक्य समझाने से पूर्व हमें स्वयं भी समझ कर इसके अनुरूप जीवन बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। उस बेचारे के घर में चूल्हा तक नहीं जल पा रहा है, बालकों के पेट में मुट्टी भर अन्न नहीं पहुँच पा रहा है और आपका विचार है कि इस पर दया नहीं करनी चाहिये।

अविचल शांति-परमार्थिक उपलब्धियायां अंतरात्मा को होती हैं, उनका अनुभव भी अंतर्मन को ही होता है, किंतु परमार्थ की कसौटी व्यवहार है। मनुष्य के व्यवहार से ही ज्ञात होता है कि वह कितने पानी में है। यदि व्यवहार में शांति, तितिक्षा, निर्वैर, अक्रोध, अपरिग्रह निर्विकार हैं तो यह उसके आंतरिक परमार्थिक उपलब्धियों की प्रमाणिकता प्रकट करते हैं।

श्री महाराज जी में ये सभी गुण-लक्षण पूर्णतः परिलक्षित होते थे। श्रीमलूकपीठाधीश लिखते हैं-"श्रीमहाराज जी के चित्त की अविचल शांति अनुद्विग्नता, सहिष्णुता से संबंधित इस घटना का यह दास प्रत्यक्षदर्शी है-

श्रीराधेश्याम बाबा का गोवरधन आश्रम जो बाद में "कनक भवन" कहलाया। योग्य संचालक के आभाव में अवांछित तत्वों के हाथ पड़ गया था। श्री महाराज जी ने विपुल धनराशि खर्च कर उसे छुड़ाया। इसके पश्चात भी यदा कदा वहाँ अव्यवस्था हो जातीं और श्री महाराज जी वहाँ पहुँच कर व्यवस्था सुधार किया करते। वृन्दावन निवास काल में भी यह क्रम चलता रहा।

यह घटना कनक भवन से सम्बन्धित ही है। उस समय श्री महाराज जी वहीं कनक भवन में ही ठहरे हुए थे। यह दास (श्रीमलूकपीठाधीश) भी उनके साथ था। एक पड़ौसी व्यक्ति ने श्री महाराज जी से कनक भवन के पीछे खाली पड़ी भूमि पर सिंचाई इंजिन रखने की अनुमति माँगी। वह इंजिन से मानसी गंगा का पानी खींचकर अपने उपयोग में लेना चाहता था। सांसारिक कपट-चतुराई से रहित, सरलचित्त श्री महिराज जी ने इंजिन रखने की अनुमति दे दी। उस व्यक्ति ने इंजिन रखने के कुछ ही समय बाद उस खाली पड़ी जमीन पर कब्जा-अधिपत्य जमाने की इच्छा से दीवार बनवाना आरंभ कर दिया। श्रीमहाराज जी के साथ वहाँ ठहरे संतों ने उसके कपट व्यवहार को समझ कर उसके द्वारा बनायी दीवार

गिरा दी उस समय तो वह वहाँ उपस्थित नहीं था पर जब वह आया तो दीवार गिरी हुई देख क्रोध से तिलमिला उठा। कनक भवन से लगा हुआ ही उसका अपना घर था, वह अपने घर की छत पर चढ़कर चिल्ला-चिल्लाकर अनाप शनाप बोलने लगा। फिर ईंट पत्थर फेंकने लगा श्री महाराज जी और अन्य साधुओं पर। महाराज जी उस समय आँगन से लगे बरामदें में तख्त पर विराजित थे। ईंट-पत्थरों की इस वर्षा से सब साधु हड़बड़ा कर सुरक्षित स्थान पर चले गये। इसी भाग दौड़ में एक संत की पीठ में उसकी फेंकी ईंट लगी और वे घायल हो मूर्छित हो गये।

मैं (श्रीमलूकपीठाधीश) श्रीमहाराज जी के पीछे ही खड़ा था। मैंने बार-बार श्रीमहाराज जी से कक्ष में पधारने की प्रार्थना की जिससे इन ईंट-पत्थरों से उनको चोट न लग जाय।

''पंडित जी! आप भीतर चले जाइये, हम यहीं ठीक है।'' श्रीमहाराज जी ने हमारी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए कहा।

इसी बीच कई पत्थर महाराज जी के तख्त पर और उनके अगल-बगल गिरे। मैंने देखा श्रीमहाराज जी उस समय श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में प्रह्लाद जी द्वारा की गयी श्रीनृसिंह स्तुति के श्लोकों का पाठ कर रहे थे। मेरे पुनः आग्रह करने पर बोले- ''पंडित जी! हमें विक्षेप मत करो, हम पाठ कर रहे हैं।'' श्रीमहाराज जी बराबर इस श्लोक की आवृत्ति कर रहे थे-

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीद्तां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्हैतुकी।।

''समस्त विश्व का कल्याण हो, दुष्ट भी प्रसन्न हो जांय। सभी प्राणि प्रसन्न हो परस्पर एक दूसरे की कल्याण-कामना करें। हमारा मन शुभ संकलपमय हो। हे इन्द्रियातीत भगवान नृसिंह! हमारी निष्काम बुद्धि सदा आप में लगी रहे।''

उस ईंट-पत्थरों की वर्षा में श्री महाराज जी इस श्लोक का पाठ करते रहे।

"महाराज जी! आपके इस श्लोक पाठ से क्या होगा?" मैंने कहा।

"पंडित जी! देखते रहो, इसी से पूर्ण शांति हो जायेगी।" श्रीमहाराज जी ने ठंडे स्वर में कहा।

कनक भवन के संत और वहाँ उपस्थित व्रजवासियों ने कहा- महाराज जी! यदि आपकी आज्ञा हो तो हम छत पर जाकर इस आदमी को नीचे गिरादें, अथवा इसकी अच्छी तरह पिटाई कर दें।

"आप लोग शाँत रहिये, कोई भी व्यक्ति काम क्रोधादि विकारों में सदा नहीं रह सकता। शाँति ही जीव का सहज स्वरूप है। शाँति में ही वह स्थिर रह सकता है। कैसे भी विकार से ग्रस्त हो अन्ततः उसे शाँति में ही आना पड़ेगा।" कहकर श्रीमहाराज पुनः श्लोक की आवृत्ति करने लगे।

कैसा अनोखा दृश्य था-एक ओर क्रूर-क्रोधाभिभूत व्यक्ति उल्टा सीधा बोलते हुए ईंट-पत्थरों की वर्षा कर रहा था और दूसरी ओर तरंग रहित शाँत महासागर के समान एक महापुरुष विराजमान थे, उनमें न उद्वेग था, न भय, न क्रोध। दूसरों को अक्रोध, निर्भयता और सहिष्णुता के उपदेश तो बहुत लोग दिया करते हैं किंतु कितने लोग हैं ऐसे जो अपने ही द्वारा दिये गये उपदेशों का ऐसे कठिन समय में पालन कर स्थितप्रज्ञ रह सकें।

आधे घंटे बाद ईंटों-पत्थरों की वर्षा बंद हो गयी, महाराज जी सहज भाव से उठे और बिखरे हुए ईंट पत्थरों को एक परात में भर कर स्थान साफ करने लगे जैसे कुछ हुआ ही नहीं।" इसके दूसरे ही दिन श्री महाराज जी वृन्दावन लौट आये।

भक्तवत्सल भगवान अपने प्रति किये गये अपराध के प्रतिजित ने सहिष्णु हैं, अपने जन-भक्त के प्रति किये गये अपराध के प्रति उतने ही असहिष्णु हैं। श्रीभक्तमाल और

अनेक ग्रंथों में ऐस उदाहरण प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण तो महाराज अंबरीष हैं। महर्षि अत्रि और पतिव्रताओं में शिरोमणि अनुसूया जी के पुत्र, शिवावतार, परमविरक्त, महातपस्वी, महातेत्रा महर्षि दुर्वासा द्वारा हुआ अपराध महाराज अंवरीष के प्रति जो गृहस्थ हैं, राजा हैं पर भक्त हैं- प्रभु सह न सके। प्राण भय से भागते दुर्वासा को त्रिलोकी में कहीं त्राण न मिला, स्वयं वे भी जिनका उस सुदर्शन चक्र दुर्वासा जी के पीछे लगा था, बचा न सके और उन्हें उन्हीं भक्त प्रवर के चरणों में गिर कर क्षमा याचना करनी पड़ी तो आज भक्त पर प्रहार करने का प्रयत्न करने वाले को वे कैसे क्षमा कर देते?

इस घटना के दो चार दिन पश्चात ही वह अपने उग्र स्वभाववश अपने से अधिक बलवान लोगों से उलझ पड़ा। उन्होंने उस की इतनी पिटाई की कि वह अधमरा सा हो मूर्छित हो गया। होश में आने पर उसने अपने परिजनों से कहा-श्री महाराज का मैंने अपराध किया था उसी के कारण मेरी यह दशा हुई है। श्री गिरिराज जी ने उसी का दण्ड दिया है, मुझे शीघ्र श्री महाराज जी के पास ले चलो। श्री महाराज जी ने भगवान नृसिंह से जो प्रार्थना की थी उसमें ''खलः प्रसीद तां'' था-''दुष्ट भी प्रसन्न हो जांय- उनकी दुष्टता समाप्त होकर उनमें साधुता का उदय हो।'' भला भगवान भक्त की प्रार्थना कैसे अनसुनी करते?

उस व्यक्ति को तुरंत सुदामाकुटी वृन्दावन लाया। वह श्रीमहराराज जी को साष्टाँग दण्डवत कर रोने लगा। वह बहुत घायल था, बड़ी बुरी दशा थी उसकी, श्रीमहाराज जी उसकी दशा देख द्रवित हो गये और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले-''तुम्हें क्या हो गया भैया।''

''जैसे सूर्य की ओर मुँह करके थूकने वाले का मुँह अपने ही थूक से गंदा हो जाता है उसी प्रकार आपके प्रति किये गये मेरे दुर्व्यहार का दण्ड मुझे तत्काल मिल गया। आप मुझे क्षमा करने की कृपा करें।'' उसने रोते हुए कहा।

उसकी दुर्दशा देख श्री महाराज जी के नयन भर आये, प्रेम भरे कोमल स्वर में उसे सान्त्वना प्रदान की। श्रीमहाराज जी की ऐसी क्षमा शीलता देख वह इतना प्रमावित हुआ कि सारी दुष्टता त्याग कर वह उनका शिष्य बन गया।

श्रीमहाराज जी कहते–''हृदय से यह निश्चय करलो कि इस पृथ्वी पर हमारा कोई शत्रु नहीं है।''

उनका यह उपदेश उनके आचरण में सदा उपस्थित –मूर्त रहता, यह घटना इसका प्रमाण है।

श्री महाराज जी की सेवा निष्ठा– सेवा, बड़ा सरल शब्द है सेवा, किंतु आचरण? बड़ा कठिन, कहना सम्भवतः पर्याप्त न होगा। आतपतप्त तपस्वियों, समाजशास्त्रियों और त्रिकालज्ञ योगियों के लिये भी समझ पाना कर पाना असम्भवप्राय हैं।'' सेवाधर्मः परमगहनः योगिकाम्प्यगम्यः''।

इस अगभ्य धर्म में दो बड़ी बाधायें हैं– सेव्य के दोष देखना और सेवा की ओट में छिपी कामना–स्वार्थ पालना। इन्हीं दो दोषों के कारण सेवा कलंकित होती है, इन्हीं के कारण सम्यक फल प्राप्ति नहीं होती ओर इन्हीं के कारण समय सेवा भी नहीं होती। यदि कदाचित इन दोषों से मुक्त सेवा बन पड़े–'' श्रीमहाराज जी का वचन है–भगद्भाव से निष्कामता पूर्वक की गयी सेवा सद्यः पंचम पुरुषार्थ–प्रेम को देने वाली होती है।''

सेवा विषयक सारे प्रश्नों के उत्तर दस वाक्य में समाहित हैं।

श्रीमहाराज जी का ही एक और वाक्य है–''अब तक जो कुछ भी पाया सेवा से ही पाया है।''

अब प्रश्न उठता है–सेवा किसकी? सेव्य कौन?

उत्तर बड़ा सरल पर समझने में थोड़ा कठिन- जो सबका सेव्य है, जो सर्वोपरि है वही सेव्य है, वह भगवान है। वह प्राणियों में ही नहीं जड़ चेतन सबमें व्याप्त है अतः वही दु:खी, जरूरतमन्द आर्त याचक के रूप में हाथ फैलाये सामने आ खड़ा होता है। उस समय उसके वास्तविक रूप को पहचान कर दौड़ पड़े वही सच्चा सेवक है।

ऐसी सेवा का फल ?- सांसारिक सुविधायें ? आरोग्यता ? धन ? अथवा पाँचों मोक्ष स्वरूप (सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) ?

नहीं, सेवा का फल केवल और केवल सेव्य की प्रसन्नता- उनके सुन्दर, सुढार, विद्रुम अधरों की मधु मुस्कान ही है। कहिये तो इससे अधिक तो क्या इसके समकक्ष भी कोई महार्घ वस्तु दिखायी देती है आपको ? नहीं न ? तो फिर यह परम काम्य, परमप्रिय फल तो आपकी सेवा आपको बिन माँगे ही प्रदान कर देगी। कहिये तो-कैसा लाभ का सौदा है ? किंतु-बड़ी बुरी बला है यह ''किंतु'' हर कहीं टेढ़ी टाँग अड़ा कर खड़ी हो जाती है। क्या किया जाय, इसे लांघ कर आगे वहीं बढ़ा जा सकता। हाँ, तो इस किंतु का कहना है सेवा करने वाले संसार में कुछ कम नहीं हैं, पर कामना रहित कितने हैं ? और कुछ न सही-यश, प्रशंसा तो चाहिये ही चाहिये। यहीं लाभ का सौदा घाटे में परिवर्तित हो जाता है, सारा परिश्रम, सारी सावधानी घाटे के गर्त में हीरा काँच और स्वर्णमुद्रा जरूरत के टुकड़े में बदल जाती है। चलो, कुछ तो मिला। सेवा करने वाला कभी खाली हाथ नहीं लौटता। इसलिये हजारों कामनायें हों भले, सेवा करनी ही चाहिये। मुश्किल ये है कि सेवा करने की इच्छा ही कितनों को होती है ? भाग्यवंत होते हैं जो इस ओर मुड़ते हैं। भक्ति के पाँचों रसों में भी सेवा गुंथी रहती है। सेवा के बिना ये भी फीके ही है। श्रीमहाराज जी बचपन से ही माता, पिता, गुरु और अपने से बड़ो की सेवा करते रहे। यहाँ तक कि अपने से छोटे और समान आयु के सहपाठियों की सेवा करके भी सुखानुभूति करते थे।

काशी में कान्यकुब्ज संस्कृत विद्यायलय में पढ़ते समय गुरूजनों और विद्यार्थियों की सेवा करते। छात्रावास में सब छात्रों में सेवा में बटी हुई थी; श्री महाराज जी सहपाठियों को सेवा मुक्त कर उन्हें अध्ययन में लगा देते और उनके हिस्से की झाड़ू, पौछा, रसोई आदि की सेवा स्वयं करते। छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाते और अपना पाठ भी याद करते। इस सब सेवा वात्सल्य के कारण ही विद्यार्थी कहा करते-''गया प्रसाद तो हम सबकी मां हैं''

बचपन में जो इनके ह्रदय में सेवा भावना अंकुर फुटा वह आगे चलकर जीवन में सत्संग और वैराग्य का खाद पानी पाकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता चला गया। काशी छात्रावास से जब महाराज जी अध्ययन छोड़ वैराग्य पथ पर चल पड़े तब विन्ध्याचल पहुँच कर वहाँ कई महिनों तक निवास किया, वहाँ तपपूर्ण नियम अनुष्ठान करते हुए भी स्नान से पहले गंगाजी के घाट और सीढ़ियों पर झाडू लगा देते। वहाँ से चित्रकूट पहुँचने पर श्रीमदगंजन महोदव के मंदिर में ठहरे। यहाँ श्री नित्य मंदिर परिसर और मंदाकिनी गंगा के रामघाट की सीढ़ियों को झाड़ बुहार कर साफ कर दिया करते थे। चित्रकूट के रामवन में निवास करने वाले श्रीरामधीनदास जी इन के सेवाभाव से बड़ प्रसन्न होते। चित्रकूट से ओरछा आने पर श्रीरामराजा सरकार की रसोई और भंडार गृह की सेवा-सौभाग्य प्राप्त किया। ओरछा से गोवरधन आने पर गुरु की प्राप्ति हुई। वहां से अयोध्या में हनुमानगढ़ी के पुजारी पद पर दो बार नियुक्ति हुई और दो ही बार गंगासागर संगम के कपिलाश्रम की सेवा भी मिली, वहाँ भक्त-भगवंत और दरिद्रनारायण की सेवा अयोध्या के लुप्त तीर्थो का प्राकट्य भी सेवाकार्यों में सम्मलित था। श्रीलक्ष्मण मंदिर गोवरधन में गोसेवा, संत सेवा, विद्यार्थियों की सेवा, अष्टछाप के कवियों, अनेक भक्त-महापुरुषों के जयन्ती उत्सव, सूर श्याम गौशाला की स्थापना इन सभी कार्यों में गो, ब्राह्मण, संत-भगवंत तथा प्राणिमात्र की सेवा निष्ठा का सजीव दर्शन होता है।

दिनचर्या-श्रीमहाराज जी के मन में बिना किसी आयास प्रयास के निरंतर भगवत्स्मरण चलता रहता था। फिर भी पुरातन ऋषियों और शास्त्राज्ञानुसार प्रातः ब्रह्म-बेला में शय्या त्याग के पश्चात् प्रातः स्मरण के अनेक पद्यों का पाठ किया करते थे। इनके नित्य पाठ के पद्यों के अंश प्रस्तुत हैं- जयत्यतिबलोरामो....... दासोऽहंकौशलेन्द्रस्य..... नरावण सहस्त्रं में.......अर्दयित्वापुरीं लंकाम्......, श्रीराम जय राम जय जय राम। श्रीराम जय राम जय जय राम। नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय ..., रामं रामानुजं सीतां....... अंजनानंदनं वीरं..... उल्लंघ्य सिंधोः सलिल.......मनोजवं मारुततुल्यवेगं....... यत्र यत्र रघुनाथ कीर्तनं...... आञ्जनेयमति पाट लालनं....., अतुलितबल धामं......हनुमान अञ्जनीसूनु.......श्री रामजय राम.......प्रातः स्मरामि रघुनाथ मुखारविंन्द...., कौसल्या सुप्रजारामपूर्वा...., उतिष्ठोतिष्ठ श्रीराम......उत्तिष्ठोतिष्ठगोविन्द.....मंगलंकौशलेन्द्राय......मंगलं भगवान विष्णुः.......मंगलं भगवान् शम्भूः........गावो में अग्रतः सन्तु......ऊँ नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः...... ॐ सुरभ्यै नमः, ॐ सुरभ्यै नमः, ॐ सुरभ्यै नमः। या दृष्टा निखिलाघ संघ शमनीं........ॐ ह्रीं वृंदावन्यै स्वाहा, ॐ हीं वृंदावन्यै स्वाहा, ॐ ह्रीं वृन्दावन्यै स्वाहा नमामि यमुनामह सकल सिद्धि......... इस सपद्य से प्रारंभ होने वाला श्रीवल्लभाचार्य कृत यमुनाष्टक का पाठ कर श्रीगोवर्धन का स्मरण करते-हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो.......श्रीगिरिगोवर्धनाय नमः, श्रीहरिदासवर्याय नमः, श्रीहरि गो-गोप-गोपीजन-वल्लभसेविताय नमः, श्रीहरिदासेषु प्रेमप्रदाय नमः, गो-गोप गोपीरक्षकाय नमः, हरीः शरणम्, हरीः शरणम्, हरीः शराणम्, श्रीमथुरा अयोध्याभ्यां नमः, श्रीसरयूयमुनाभ्यां नमः, श्रीब्रजवसुन्धरायै नमः, आधारशक्त्यै नमः, श्रीभूदेव्यै नमः, नमस्ते श्रियै राधिकायै परायै, श्रीराधा पुनातु जगद्रच्युत्तदतचित्ता, सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नमः, सर्वेभ्यो, वैष्णवेभ्यो नमः, पुनातु मां ब्राह्मणपाद पांशवः, पुनातुमां वैष्णव पाद पांशवः, सीतानाथ समारम्भां....... स्वयंभूनारदः शम्भुः कुमारो......

प्रह्लादनारद–पराशरपुण्डरीक.....वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च अयोध्यासरयूभ्यां नमः......धर्महरये नमः......, चक्रहरये नमः, पुण्यहरये नमः, मत्तगयंदाय नमः, सरमादेव्यै नमः, नागेश्वराय नमः, क्षीरेश्ंवराय नमः, दुर्गेश्वराय नमः, मन्त्रेश्वराय नमः, श्रीमतेहनुमते नमः, नमोऽयोध्ये, नमोऽयोध्ये पाप नस्त्वमपाकुरु, इस प्रकार श्री महाराज जी संस्कृत पद्यों द्वारा प्रातः स्मरण करते थे। इसके बाद अष्टछाप के महाकवि श्री नंददास कृत–''श्री राम कृष्ण कहिये उठि भोर'' का पाठ करते। श्रीभक्तमाल के पूर्वार्ध– भक्त भक्ति भगवन्त गुरु से लेकर ''उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति'' तक का अंश प्रातः स्रमण का अंग था। जिसका श्रीमहाराज जी भाव पूर्वक पाठ किया करते। इस प्रातः स्मरण नियम के बाद शौच स्नानादि देह कृत्य सम्पन्न करते।

तत्पश्चात् सूर्य को अर्घ्य देते, फिर गिरिराज शिला स्वरूप और श्रीनर्मदेश्वर को जल चढ़ाते। इकसे बाद श्री तुलस्यै नमः श्रीतुलस्यै नमः उच्चारण करते हुए तुलसी जी को जल अर्पित करते हुए प्रार्थना करते–''नमो नमो तुलसी महारानी भूखे को भोजन प्यासे को पानी'' यही श्री महाराज जी का प्रातः कालीन दैनिक कृत्य था।

रसोई सेवा– श्री महाराज जी के दैनिक कार्यों में रसोई सेवा बहुत महत्व रखती है। श्री वृन्दावन वास से पूर्व भी श्री महाराज जी यह सेवा करते रहे थे।

श्री सुदामाकुटी के जिस कक्ष में श्री महाराज जी का निवास था उसमें आप की उदारता के कारण कई संतजन एवं पढ़ने के लिये आये कई ब्राह्मण विद्यार्थी बालक भी निवास करते थे।

संतजन श्री महाराज जी से भक्ति, ज्ञान वैराग्य आदि आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा सत्संग करके बोध प्राप्त करते और विद्यार्थी न्याय व्याकरण और भागवतादि शास्त्रों का अध्ययन करते।

प्रात:कृत्य समाप्त श्री महाराज जी रसोई बनाना आरम्भ करते। रसोई सेवा में श्री महाराज जी को असामान्य दक्षता प्राप्त थी। तीस चालीस संतों के लिये नित्य ही रसोई बनती थी, इसमें किसी अन्य की सहायता सहयोग भी नहीं लिया करते थे। इस सेवा से उन्हें सुखानुभूति होती, अभ्यास तो था ही अत: कोई असुविधा अथवा थकान भी नहीं जान पड़ती। प्रात: साढ़े सात बजे तक बन चुकी होती तब भीतर कक्ष में विराजे श्री ठाकुर जी और तुलसी के नीचे विराजमान श्री गिरिराज को भोग लगाकर संतों विद्यार्थियों की पंगत लग जाती। समय पर श्री ठाकुर जी को भोग पधराया जा सके और पढ़ने वाले विद्यार्थी यथा समय विद्यालय जा सकें। अपना नियम भजन करने के बाद संतों को भूखे न रहना पड़े अत: श्री महाराज जी नियम पूर्वक नित्य यथा समय भोग-राग प्रस्तुत करके सबको पवा देते। परोसने जिमाने के कार्य में श्री परमहंस जी सहयोग करते थे।

जैसे माँ अपने बालकों को खिला पिला कर प्रसन्न होती है, वैसे ही श्री महाराज जी भी सबको प्रसाद पवा कर प्रसन्न और तुष्टि का अनुभव करते।

नौ बजे तक पंगत निपट जाती। जो कुछ बाकी बचता उसी को पाकर श्री महाराज जी तृप्त हो जाते, कभी कुछ शेष नहीं बचता तो महाराज जी और अधिक प्रसन्न दिखायी पड़ते। विद्यार्थी बहुत आग्रह करते-''महाराज जी! आप पहले प्रसाद पा लीजिये।'' हम लोग बाद में पायेंगे तो आपका प्रसाद भी प्राप्त होगा वे मन में सोचते।

''नहीं, तुम सबस पहले पा लो। यह द्रौपदी की बटलोई है, जब तक मैं नहीं पाऊँगा कमी नहीं आयेगी। यदि मैं पहले पा लूँगा तो तुम लोग भूखे रह जाओगे।''

और सचमुच इस बटलोई का प्रभाव तो वहाँ महाराज जी के समीप रहने वालों ने कई बार देखा है कि पंगत के समय चाहे जितने लोग आजांय श्री महाराज जी परोसते-पवाते रहते और रसोई बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

कभी कभी बाहर जाने की शीघ्रता के कारण श्री महाराज जी जल्दी प्रसाद आरोग लेते तो उस दिन दो एक जन तो भूखे रह ही जाते।

कभी कभी यह भी होता कि सबको पवाने के पश्चात् महाराज जी अपनी थाली परोस कर भी उस समय प्रसाद नहीं पाते, पाते कभी दोपहर में कभी उसके भी बाद।

बहुत बार पूछने पर बताया–''राजा रन्तिदेव ने अड़तालीस दिन भूखे रहने पर भी भोजन मिलने पर अतिथि की प्रतीक्षा की थी। वेदों में अतिथि को भगवान मानने की आज्ञा दी है और ऋषियों अतिथि सत्कार का यज्ञ माना है।''

सबके प्रसाद पा लेने पर श्रीमहाराज जी रसोई के बर्तन साफ करने में लग जाते। कोई विद्यार्थी, संत अथवा बाहर से आये, गृहस्थ व्यक्ति अपना जूठा बर्तन उठाना–साफ करना भूल जाता तो उसे भी महाराज जी साफ करके यथास्थान रख देते। श्री महाराज जी इन बर्तनों को भगवान का पार्षद मानते और उसी भाव –ऐसी निरभिमानिता आजाये यदि हृदय में तो चरम लक्ष्य पाने में कितना विलम्ब होगा ?

श्री महाराज जी आपने पास चना, मूँगफली, मखाने आदि सूखी वस्तुओं का भी संग्रह रखते थे। समय असमय किसी को भूख लग आये... अथवा कोई यात्रा से लौटा है और क्षुधित है, या फिर किसी को तुरंत यात्रा पर निकलना है....। श्री महाराज जी के पास ऐसे सभी अवसरों के लिये कुछ न कुछ होता ही था। उनका सम्पूर्ण जीवन सेवामय था।

झाऊ की माला– पंगत सेवा के पश्चात श्री रामानन्द पुस्तकालय में अपने आसान पर बैठकर तिलक स्वरूप करते। कंधे की कोर से श्रीधारण करते और बची हुई श्री को सुहागिन स्त्रियों की भाँति केशों के बीच में लगा लिया करते।

नित्य नियम की सामग्री वहीं लकड़ी की एक खुली पेटी में रखी रहती। उस पेटी में कई खण्ड बने थे उनमें से किसी में खुले पैसे, किसी में दवात, किसी में कलम, किसी में गोपीचंदन, तो किसी में जप माला रखी रहती।

श्री महाराज जी की जपमाला झाऊ की थी। उस समय के छात्र श्री मलूकपीठाधीश ने पूछा–''महाराज जी! आप तुलसी की माला के बदले झाऊ की माला से जप क्यों करते हैं?''

''इसे कोई माँगता नहीं, तुलसी का माला तो कोई न कोई माँग ही लेता है। झाऊ है तो क्या, है तो वृन्दावन का झाऊ न? वृन्दावन का झाऊ भी आदरणीय है'' श्री महाराज जी ने उत्तर दिया।

इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता कि–उपकरण भले कुछ हो प्रधानता कार्यकी– उद्देश्य की ही होती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि–उपकरण कुछ नहीं–नगण्य है। नहीं, वह उपयुक्त हो– श्रेष्ठ हो, अच्छा है, किंतु खास बात तो अपने कार्य की है आपने लक्ष्य की है, वह पूरा होना चाहिये।

माला तुलसी की हो अच्छा है। उससे हम जैसों को तन मन की पवित्रता का अनुभव होता है। जप भी जैसा भी हो होता ही है। किंतु जिनका तन–मन ''अपवित्रं पवित्रो वा'' जिनका स्मरण अपवित्र को भी पवित्र करने वाला है, जिनका जप बिना माला के भी निरंतर चलता रहता है, जो जगत के सारे कार्य करते हुए भी स्मरण में लीन रहते हैं। जो केवल दूसरे हम जैसे निम्न कोटि के लोग साधक–भजन जप छोड़ न दें इसलिये बाहर से जप, ध्यान और साधन करते हैं। उनके लिये माला काठ की की है कि झाऊ की अथवा तुलसी की यह बात तनकि भी महत्वपूर्ण नहीं है।

श्री महाराज जी जप करते जो नाम याद आ जाता उसी का जप करने लगते यथा–राधे श्याम–राधे, कभी किसी दिन सीताराम–सीताराम, कभी गोविन्द–गोविन्द कभी मुकुन्द–मुकुन्द, कभी नारायण–नारायण, कभी राम नाम सत्य है गोपाल नाम सत्य है, कभी राम राम राम राम राम। जीभ जो भी नाम लेती रही हो, उनके ध्यान में – स्मरण में उनके

आराध्य का स्वरूप ही रहता। सिद्ध महापुरुषों के लिये सभी नाम आराध्य के, सभी रूप आराध्य के ही होते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा भगवत्प्रीत्यर्थ होती है।

नियम बद्धता हम जैसे साधन पथ पर पद धरने की इच्छा रखने वालों के लिये ही होती है, जो पहुँच चुके हैं उनके लिये किसी नियम की आवश्यकता नहीं होती। वे नियम करते हैं हमें दिखाने के लिये कि हम अपने पथ से डिगें नहीं नियम छोड़ें नहीं। श्री महाराज जी जप कर रहे होते और बीच में कोई संत आ जाते तो माला रख कर उनका काम करने लगते। कोई विद्यार्थी आ जाते तो पढ़ाने लगते।

डाक सामग्री और बैंक सुविधा- सेव्य का हित और आवश्यकता के अनुसार उन्हें सुख पहुँचाना ही सेवा है। सेवा किसी देश, काल और व्यक्ति से बंधी क्रिया का नाम नहीं है। श्री महाराज जी इस विषय में पूर्णतः सचेत -सजग रहते थे। संत-भगवंत जब जिसको जैसी आवश्यकता हो-महाराज जी वैसी ही सेवा करने को तत्पर रहते।

सुदामा कुटी में बहुत से संत स्थायी रूप से निवास करते हैं। उत्सवों पर इनकी संख्या बढ़ जाया करती है। उनकी सुविधा के लिये श्री महाराज जी अपने पास पोस्टकार्ड, अन्तर्देशीयपत्र, लिफाफे तथा डाक टिकिट आदि रखा करते थे। इससे संतों-विद्यार्थियों को सर्दी, गर्मी और बरसती बरखा में डाकघर की ओर नहीं दौड़ना पड़ता। श्रम और समय दोनों बच जाते।

इसके अतिरिक्त श्रीमहाराज जी के पास बैंक जैसी सुविधा भी उपलब्ध रहती थी। इस बैंक में कई संतों और विद्यार्थियों के खाते खुले रहते। भण्डारे की दक्षिणा, पाठ अनुष्ठानादि की दक्षिणा के रुपये श्री महाराज जी के बैंक में अपने अपने खाते में जमा करा देते। महाराज जी एक डायरी में उन सबके खातों का विवरण रखते एवं दी गयी द्रव्य राशि में उसमें अंकित कर देते खाता धारक संत-विद्यार्थी उस राशि को कभी भी आवश्यकतानुसार निकाल सकते थे। इस बैंक का न कोई निश्चित समय था न अवकाश का दिन। इसमें जो

विशेष बात थी, वह किसी अन्य बैंक में न थी, न है और न कभी होने की संभावना ही है। वह विशेषता यह थी कि इस बैंक से जमा की गई राशि से अधिक भी अपनी आवश्यकतानुसार निकाली जा सकती थी। यह जो अधिक राशि निकाली जाती थी वह ऋण के रूप में नहीं होती थी, बल्कि खाता धारक को अपनी राशि के रूप में ही मिलती थी। इसके लिए इस बैंक की ओर से न कोई शर्त थी न कोई अनुबंध और न ही उपकृत करने का कोई भाव यदि कोई संत या विद्यार्थी अपने खाते की स्थिति जानने के लिये पूछता कि –''मेरे खाते में और कितने जमा है?''

''चिंता की बात नहीं है, बहुत रुपया जमा हैं श्री महाराज जी का उत्तर होता।

गुरु–संत और भगवान के अतिरिक्त इतना उदार और कौन हो सकता है?

एक बार श्री मलूकपीठाधीश ने पूछा– ''महाराज जी! लोगों ने जो राशि आपके पास जमा करायी थी वह तो कम थी और निकाली गयी धनराशि अधिक है, ऐसा कैसे?''

''देखो, नाम धन के विषय में कही गयी यह बात प्रसिद्ध है कि ''दिन दिन बढ़त सवायौ''। इसी प्रकार कोई न कोई बैंक ऐसा भी तो होना चाहिये जिसमें रखा धन उत्तरोत्तर बढ़ता जाय'' श्री महाराज जी का उत्तर था।

यही नहीं, श्री महाराज जी के पास फटे पुराने नोटों को बदलने की सुविधा भी प्राप्त थी। आखिर यह भी तो बैंक ही का कार्य है न। संत–विद्यार्थी अपने पास आये फटे, पुराने और गले हुए नोटों को देकर उतने ही नये नोट ले जाते। पुराने नोटों को बदलनवाने में बाजार में जो कटौती (बट्टा) लगती वह भी इस बैंक में नहीं देना पड़ता। महाराज जी स्वयं ही अपने पास से वह कटौती देते थे। श्री महाराज जी कहते–''हमारे पास डाक खाना, बैंक और विद्यालय तीनों हैं।''

गुडाकेश महाराज जी– श्रीमलूकपीठाधीश लिखते हैं–''इस दास को अनेक वर्षों तक श्री महाराज जी के निकट उनके चरण प्रान्त की ओर श्याम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्राय: साढ़े दस बजे तक श्री महाराज जी आसन पर पौढ़ जाया करते थें और पौढते

ही गहरी नींद में चले जाते, किंतु वह नींद डेढ़ दो घंटे से अधिक की नहीं होती। उसके पश्चात् धीरे से बिना कोई खुटका किये उठते और कोहनी का टेका लगा हथैली पर मस्तक रखकर अधलेटी मुद्रा में रात्रि भर जागते रहते।'' या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी'' यह भगवद्वाक्य आपमें सर्वथा प्रत्यक्ष घटित होता। श्री माहराज जी की निद्रा अत्यन्त अल्प थी।''

इन महापुरूषों की क्षमता के विषय में क्या कहा जाय, जो जगत का व्यवहार पूरे उत्तरदायित्व के साथ निभाते है और हृदय की अंतरगुहा में अपने आराध्य की सेवा-लीला में तल्लीन रहते हैं। दोनों कार्य एक साथ एक ही समय में करना कितना कठिन है। यहाँ तो बाहर पूर्ण चेतना में रहने पर भी दोनों हाथ दो कार्य नहीं कर सकते। जिस हाथ को जिस काम का अभ्यास वहीं काम वह हाथ करेगा अन्यथा तो बांया हाथ निकम्मा ही रहता है।

रात में सुख शयन किसे नहीं सुहाता, किंतु प्रेमी, प्रेमी की बात तो क्या कही जाय। बचपन में पढ़ा था-

''चरण धरत चिंता करत नींद न चाहत शोर।
सुबरन को ढूंढत फिरत कवि भावुक अरू चोर।।

कवि, भावुक और चोरों को ही जब नींद नहीं आती नहीं सुहाती तो प्रेमी के हाल तो क्या कहने। कैसी होती होगी चित्त की वह अवस्था जिसमें वे अहर्निश डूबे रहते हैं, कभी उतराने को होश ही नहीं आता। कभी संशेगवश ऊपर आ भी जांय तो जलहीन मत्स्य से तड़फ उठते हैं-प्राण व्याकुल हो-हा, नाथ! हा प्रियतम! पुकार-पुकार उठते हैं। जाने आराध्य के सांनिध्य की कैसी मधुर अनुभूति थी कि प्राण उससे बाहर आते ही आकुल हो उठे। जाने किस लीला माधुरी के नशे की खुमारी छके थे कि प्रेमास्पद के विरह की आंशका ने प्राणों में विछोह की अग्नि धधका दी.....।

कैसी होगी, कैसी होगी वह अवस्था? जहाँ चरम अवस्था की पीड़ा और स्मरण सुख गालबांहि दिये रहते हैं, जहाँ आँसू और मुस्कान हाथ मिलाये चलते हैं, जहाँ अभाव और प्राप्ति धुले मिले रहते हैं। जहाँ विरह का धधकता दावानल और अनवरत दर्शन की सुखद वर्षा दोनों ही अपने वैभव की गरिमा फैलाये पड़े रहते। उस अलौकिक चित्तभूमि पर कैसी कैसी दिव्य लीलायें प्रकट होती होगी। हम जैसे हीन जनों के लिये तो इन सब अवस्थाओं की कल्पना भी दुष्कर है।

कभी इन्हीं प्रेमीजन कृपापरवश हो निहार लें तो धन्य हो जाय यह पंचभूतों का पिंड, उन प्रेमकजनों की कृपादृष्टि से उदभासित हो उठे यहा काला अधेरा मन, उनकी करूणाभरी दृष्टि मात्र से व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों झांड़ झंखाड़ जलकर राख हो जाते हैं और खिल जाते हैं नाम, रूप, लीला, धाम के सुंदर सुगन्धित पुष्प। मृगतृष्णा से जलती सूखी मरूभूमि में स्मरण की सरिता प्रवाहित हो उठती है। जाने कब होगा ऐसा जाने कब..... ? ? ? ? जाने कैसी स्थिति होगी वह जिसमें अपने मानस के धन को अति गुप्त रखने वाले भी , अति संयमी भी हा, नाथ! हा प्रियतम पुकार उठे थे। उस अवस्था को किन शब्दों में व्यक्त किया जाय? सम्भवत: भगवती वाग्वादिनी भी विवश हो गयी थी, ऐसे शब्दों का निर्माण करने में।

भाव दशा- श्रीमलूकपीठाधीश लिखते हैं-"एक बार मध्य रात्रि में इस दास को श्री महाराज जी का अत्यन्त आर्त-व्याकुल स्वर सुनाई दिया-"हा, श्यामसुनदर! हा प्राणवल्लभ!! हा, प्राण प्रियतम्!!! अनुराग रंजित हृदय की दारुण विरह वेदना युक्त यह पुकार सुन दास में भी वह करुणा भाव संचरित हो गया। यह दास उठ बैठा, उस समय श्री महाराज जी की जिस भावदशा का दर्शन हुआ वह अलौकिक थी। कक्ष के द्वार से आती चाँदनी के प्रकाश में श्री महाराज जी के दर्शन हो रहे थे उनकी सम्पूर्ण देह मानो प्रबल

झंझावात में पड़ कंपायमान हो, नयन निर्झरों से झरते जल से उपतोषक (तकिया) प्राय: भीग चुका था। जिस भाव राज्य में वे डूबे थे। उसके तो दास दर्शन नहीं कर सका किंतु श्रीमहाराज जी की भावाविष्ट देह में उद्दीप्त भाव के दर्शन दास बहुत देर तक करता रहा।

एक बार श्री महाराज जी से प्रेमी भक्तों के अष्ट सत्विक भावों की चर्चा हुई। इन भावों का गौड़िय सम्प्रदाय के आचार्यों के सिद्धान्त ग्रन्थों में विशद वर्णन है। अश्रु, पुलक, रोमांच, कंप, स्वेद, रोग, मूर्छा और मृत्यु। इन अष्ट सात्विक भावों में रोग का भी नाम है, श्री मलूकपीठाधीश ने एक बार पूछा–''महाराज जी! क्या प्रेमी भक्तों को रोग भी होता है?''

''हाँ, विरही भक्तों की देह में प्रेमावेग से ''रोग'' नामक सात्विक लक्षण भी प्रकट होता है। उन्हें अनेक प्रकार के रोग होते हैं यहाँ तक कि धीरे–धीरे उनकी अस्थियों को घुन सा लग जाता है। जब मैं गोवरधन में था तो एक डॉक्टर ने परीक्षा करके मुझे बताया कि–''आपकी हड्डियाँ गल रही हैं।''

यह कहकर श्रीमहाराज जी ने मानों अपनी प्रेम दशा और हृदय के अनुराग पूर्ण सात्विक भावों का परिचय दे दिया। उनके जीवन में अनेक बार भिन्न–भिन्न अष्ट सात्विक भावों का दार्शन श्री मलूकपीठाधीश को हुआ था। दैन्य और सादगी के पर्दे में छिपे श्री महाराज जी अति उच्चकोटि के सिद्ध महापुरुष थे।

यात्रा प्रसंग – सन् 1974 में श्री महाराज जी श्रीभक्तमाल भाष्य के लेखन हेतु श्री वृन्दावन पधारे। भाष्य के लेखन–प्रकाशन में करीब छः वर्ष का समय लगा। इसके बाद सन् 1980 से श्रीमहाराज जी ने अनेक यात्रायें की, यों तो गोवरधन में रहते समय भी यात्रायें किया करते थे किंतु जीवन में अधिक यात्रायें सन् 1980 से ही आरंभ हुईं। इन यात्राओं का क्रम करीब बीस वर्षों चलता रहा। उत्सवों–पर्वों पर अयोध्या, चित्रकूट, रामेश्वर, काशी

आदि सप्तपुरियाँ और देश के अनेक भक्तों के जन्मस्थान, भगवल्लीला स्थलों, और प्रेमी भक्तों के आग्रह के कारण उनके निवास स्थानों की यात्रायें भी की। श्रीमद्भागवत, श्रीभक्तमाल की कथा के लिये भक्तों का आग्रह भरा आमन्त्रण बना ही रहता था अतः इस प्रकार की अधिकतर यात्रायें गुजरात और बुंदेलखंड की हुआ करती थीं। इन यात्राओं में अनेक संत श्री महाराज जी के साथ रहते थे। श्री महाराज जी की यात्रायें भी उनकी सादगी, त्याग, तितिक्षा भरे जीवन के अनुरूप ही हुआ करती थीं। बुंदेलखंड के अतिशय गर्मी अथवा सर्दी युक्त देहातीं मे सुख-सुविधाहीन स्थानों-जहाँ कहीं - कहीं तो आवागमन के लिये बसों-गाड़ियों के साधना भी प्रायः अलभ्य रहते-श्रीमहाराज जी पैदल चलकर पहुँचते।

श्रीमहाराज जी को गरीब-दुर्बल भक्तों का आतिथ्य ही अधिक रुचता था। ऐसे लोगों के यहाँ जाने पर कई बार यात्रा का व्यय भार भी श्रीमहाराज ही वहन करते। धनिकों के यहाँ जाकर इतने प्रसन्न नहीं होते जितने देहाती गरीबों के यहाँ जाकर प्रसन्नता का अनुभव करते। यदि कोई श्रद्धालु भक्त श्रीभक्तमाल ग्रंथ पाना चाहता तो भक्तमाल के चारों खंडों का भार उठा कर दूर तक पैदल देहातों की यात्रा करते-उनकी रूखी सूखी खाकर प्रसन्न होते।

इस समय तक श्री महाराज जी की आयु बासठ वर्ष की हो चुकी थी।

एक बार बुंदेलखंड के किसी गाँव में अयोध्या के लक्ष्मणकिलाधीश श्रीसीतारामशरण महाराज से भेंट हो गयी।

श्रीमहाराज जी को इतनी दूर गरीब देहात में देखकर उन्होंने पूछा-''सरकार! आप यहाँ कैसे?''

''यहाँ तो मेरी पुरानी जमींदारी है'' श्रीमहाराज जी ने हँसकर कहा।

इन कठिन यात्राओं के पीछे श्रीमहाराज जी का अपना कोई स्वार्थ नहीं था। अपने कोमल-करुणामय स्वभाव के कारण संसार के दुःखी, गरीब, भोले और भटके लोगों के कल्याण हेतु ही उनकी ये यात्रायें हुआ करती थीं। इसीलिये उस गरीब क्षेत्र को अपनी ''पुरानी जमींदारी'' कहा।

जहाँ कहीं रेल चलती, वहाँ भी पैसेन्जर गाड़ियों में ही यात्रा करना चाहते। जहाँ पैसेन्जर नहीं चलती वही एक्सप्रेस आदि गड़ियों में बिराजते। आरक्षण का आग्रह कभी नहीं रहा, नहीं रहा किसी राजसी तामझाम का आग्रह और कभी नहीं रहा सजावट पूर्ण मंच तथा सुविधापूर्ण निवास का आग्रह भी। सदाशयता, सादगी, दैन्य, सत्य, सात्विकता आदि दैवी गुणों-तत्वों को छोड़ किसी भी सांसारिक वस्तुओं का आग्रह उन्हें कभी नहीं रहा।

उनकी सीधी सादी रहनी और वेषभूषा को देख कोई नहीं जान सकता था कि ये बहुमान्य सिद्ध संत, लब्ध प्रतिष्ठा लेखक और कथावाचक हैं। आस्मताएं और आडम्बर उन्हें कभी रूचे नहीं।

कथाव्यास श्री महाराज जी- शास्त्रों में लिखे कथा व्यास के सभी शुभ लक्षणों से युक्त श्री महाराज जी प्रेम में डूबकर कथा प्रसंगों का स्वाद लेते हुए जगताप से तपे लोगों के कल्याण की भावना से कथा कहते। इनके कथा कहने की शैली अत्यन्त सरल, सुबोध, भावमयी एवं शब्दाडम्बर से रहित होती थी।

आपकी कथा में श्रीमद्भागवत का प्रायः कोई प्रसंग छूट नहीं पाता था। नेत्र बंद कर तीन चार घंटे कथा कहते, श्री मद्भागवत कथा सप्ताह में प्रातः सांय मिलाकर सात आठ घंटे कथा चलती। भागवत के मधुर प्रसंग और स्तुतियों की व्याख्या इस प्रकार कहते कि श्रोताओं के हृदय में कथा उतर जाती। वेद-वेदाङ्ग, पुराण, साहित्य और व्याकरण सभी कुछ श्री महाराज के हृदय में प्रतिष्ठित-बुद्धिगम्य था फिर भी कथा की भाषा अत्यन्त सरल

होती क्योंकि अधिकांश श्रोता देहाती भक्तजन ही होते चुटकुले और लोगों को प्रसन्न करने की प्रवृत्ति जो अक्सर कथावाचकों में दिखायी देती है- श्रीमहाराज जी में नहीं थी। श्रीमहाराज जी भक्तमाल के भाष्यकार ही नहीं सरस कथाकार भी थे। वे उस भक्तचरित्र से तादात्म्य स्थापित कर तन्मय हो कथा कहते, भक्ति सिद्धान्तों का सरस सरल भाषा में निरूपण कर श्रोताओं के मानस पटल पर अंकित कर देते। आपकी कथा सुनकर श्रोता के भावविगलित हृदय की पिपासा का जैसे अनन्तग्राही मुख खुल जाता और निरंतर श्रसण की इच्छा उन्हें जब भी अवसर प्राप्त होता इस कथा सरोवर की ओर तृषातुर की भाँति दौड़ा देती। आपके द्वारा कही कथा उनके हृदय में ''भक्त भक्ति भगवन्त गुरु'' के प्रति निष्ठा जगा देती।

श्री महाराज जी ने धन प्राप्ति के लिये कभी कथा नहीं की। धन प्राप्ति की चाह कथा वाचक के सभी गुणों को धूमिल कर देती है। ऐसे में कथा केवल वाचिक होकर रह जाती है, मात्र पैसे के बदले किया गया परिश्रम। श्रोताओं का मनोरंजन भले हो जाय उनके हृदय की अंतरगुहा में कुछ भी नहीं उतरता, वह केवल हँसने-नाचने का मजा लेकर घर जाता है शास्त्र का सार लेकर नहीं। अपनी आध्यात्मिक उन्नति के पाथेय से तो वह वंचित ही रह जाता है।

श्रीमयहाराज का वांछित धन तो श्रीठाकुर जी की प्रेमाभक्ति ही थी अतः वे स्वयं तो कथा कहते हुए इसका रसास्वादन करते हुए डूबते उतराते ही अपने श्रोताओं को भी डुबकियां लगवाते रहते।

जहाँ कथा की अधिक दक्षिणा मिलने की सम्भावना होती वहाँ जाने का उनको उत्साह ही नहीं होता। गाँव-गंवई के निर्धन भक्तों के यहाँ बड़े उत्साह से कथा कहने चले जाते।

एक बार देश के जाने माने उद्योगपति ने आपको कथा के लिये आमन्त्रित किया और तभी काछी जाति के एक निर्धन देहाती ने भी कथा के लिये प्रार्थना की। श्री महाराज उस काछी के यहाँ कथा करने पधारे।

''मुझे अधिक दक्षिणा लेने का अभ्यास नहीं है।'' आप कहते-''धनी को तो और भी कथा वाचक मिल जायेंगे, निर्धन की कौन सुनेगा?'' अनेकों ऐसी कथायें हुईं जिनका थोड़ा अधिकांश खर्च आपने ही उठाया। निर्धन के यहाँ कथा भी कहें और खर्च भी उठायें यह उनके निर्लोभी हृदय का द्योतक-प्रमाण है।

प्रेतोद्धार-श्रीमद्भागवत महात्म्य में भागवती कथा को प्रेतपीड़ा विनाशिनी बताया गयी है। पुरातन काल से ही भागवत की यह विशेषता प्रमाणित होती आयी है। फिर श्री महाराज जी जैसे संत महापुरुष कथा कहें-यजमान की कोई इच्छा अपूर्ण कैसे रह सकती है? ललितपुर जिले के पूराकला गाँव के एक व्यक्ति ने वहाँ मकान खरीदा, उस घर में प्रेतों का वास था। उसमें निवास करने पर पूरा परिवार दु:ख और भय से त्रस्त हो उठा।

उस व्यक्ति ने इस दु:ख से त्राण पाने के लिये श्री महाराज जी से प्रार्थना की। श्री महाराज जी ने श्रीमद्भागवत कथा करने की आज्ञा प्रदान की और स्वयं कथा करने भी पधारे। आपके साथ इस कथा में सिद्ध संत श्री हरेराम बाबा भी थे।

कथा का अंतिम दिन- परमहंस भगवान शुकदेव जी परीक्षित को अंतिम उपदेश कर चुके-ठीक उसी समय एक घटना घटी-व्यासपीठ के सामने ही दो चिड़ियाँ- नर मादा का जोड़ा न जाने कहाँ से आकर गिर पड़ा।

चिड़िया का जोड़ा मरा हुआ पड़ा था।

श्रोताओं में श्री हरेराम बाबा भी उपस्थित थे उन्होंने चिड़ियाँ के जोड़े को देखकर तुरंत कहा-''अरे भूत-भूतनी का उद्धार हो गया। कथा के बाद बाबा ने उस चिड़ियाँ के

जोड़े को श्वेत वस्त्र में लपेट कर सरोवर के किनारे गाय के विधिवत दाह संस्कार किया और बाद में सरोवर में उन्हें जलांजलि भी दी। इसके बाद वह मकान प्रेत बाधा से सर्वथा मुकत हो गया।

(2) दूसरी घटना – बरसाना के गहवर वन में एक युवा संत रहते थे। कुसंगवश वे भक्ति का सात्विक पथ छोड़कर तान्त्रिक साधनाओं में लग गये। कुछ समय बाद तन्त्र साधना के किसी व्यक्तिक्रम के कारण कुंऐ में गिर कर मर गये। उन्हें प्रेत योनि प्राप्त हुई। आस पास रहने वाले संतों को वे दिखाई देते थे। देखने वालों को वे अति दु:खित दिखाई देते लगता जैसे अग्नि की भट्टी में जल रहे हों– वे तड़फते हुए दिखाई देते। उनकी दशा देखी नहीं जाती थी, सब संतों ने दया–द्रवित हो गोवर्धन में पूज्य पं. गया प्रसाद जी महाराज को उनका कष्ट निवेदन किया। पूज्य पंडित जी ने आज्ञा दी– किसी सदाचारी कथा व्यास से श्रीमद्‌भागवत सप्ताह करवाया जाय तो इस अधोगति प्राप्त साधक का उद्धार हो सकता है। सब संतों ने श्री महाराज जी से कथा कहने का अनुरोध किया।

गहवरवन में कथा का आयोजन किया गया। सप्ताह कथा के विश्राम के पश्चात् उन संतों को फिर उन साधक संत के दर्शन हुए पर अब वे शाँत–सुप्रसन्न थे।

कथा के आयोजन से मुझे परम शांति मिली है और अब मेरी मुक्ति सुनिश्चित है। कथा के उपलक्ष्य में कल होने वाले भंडारे का संत चरणमृत एवं संतों का सीथ प्रसाद कुल्हड़ – सकोरे में ऊँचा गाँव के समीप अमुक पेड़ के नीचे रख दिया जाय। उसे ग्रहण कर मैं प्रेत यानि से मुक्त हो जाऊंगा।

साधक के कहे अनुसार संतों का प्रसाद व चरणामृत उनके बताये पेड़ के नीचे रख दिया गया। इसके बाद वे कभी किसी को दिखायी नहीं दिये।

शिवपुराण की कथा से प्रेतोद्धार- हरेराम बाबा एक बार विचरते हुए टीकमगढ़ जिले के मुड़ारा गाँव पहुँचे और वहाँ एक पुराने घर में रहने लगे। उस घर में कई प्रेतों का निवास था, उन्होंने बाबा से प्रार्थना की कि आप हमारी मुक्ति का प्रयास करें। हमें यदि शिवपुराण सुनाया जाय तो उसी से हमारी मुक्ति हो जायेगी।''

पूज्य बाबा वृन्दावन आये और श्री महाराज जी को अपने साथ मुड़ारा लेकर आये। व्यासपीठ पर विराजमान होकर श्रीमहाराज जी ने शिवपुराण की कथा की। इसके प्रभाव से सभी प्रेत एक साथ मुक्त हो गये।

वैष्णवी दीक्षा से प्रेतोद्धार- पंजाब के सुनाम शहर के एक सज्जन अत्यन्त कठिन समस्या में पड़ गये थे। उनके छोटे भाई की देह में कभी-कभी एक प्रेत प्रवेश कर जाता था। उसका आवेश होते ही उस दुबले पतले व्यक्ति में इतनी शक्ति आ जाती कि आठ-आठ दस-दस लोगों के बस में नही आता। वह घर की छोटी बड़ी चीजों को ही उठा कर नहीं फेंकता घर के खिड़की-दरवाजे तक उखाड़ देता, दीवारों का पलस्तर उखाड़ देता। घर के लोग अत्यन्त दु:खी थे, घर की सुख शांति विदा हो गयी थी। उस परेशानी से छूटने के लिये श्रीमद्भागवत कथा का आयोजन किया गया, श्रीमहाराज जी को बड़ी विनय और आग्रह पूर्वक कथा कहने के लिये आमन्त्रित किया।

श्री महाराज जी निमन्त्रण स्वीकार कर यथा समय उसके घर पहुँचे, वहाँ भागवत का मूलपाठ करने के लिये एक पंडित जी को बुलाया गया था। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे तो केवल मूलपाठ ही करेंगे कथा तो श्री महाराज जी कहेंगे तो वे बड़े नाराज हुए। उन्होंने निश्चय किया। कि कथा मैं ही करूँगा।

आग्रह रहित, निस्पृह स्वभाव वाले श्री महाराज जी ने उनका आग्रह खुशी खुशी स्वीकार कर लिया। उन्हें कहाँ मान-अपमान स्पर्श कर पता था श्रीमहाराज जी ने प्रसन्नता पूर्वक मूलपाठ करना स्वीकार कर लिया।

कथा-आराम्भ से पूर्व दिन की सन्ध्या को यजमान का छोटा भाई फिर भूताविष्ट हो गया। उसकी उग्रता पर कई व्यक्ति मिलकर भी नियन्त्रण नहीं कर पा रहे थे।

प्रेतात्मा इसलिये क्रुध थी कि उसके उद्धार के लिये भागवत सप्ताह करवाया जा रहा है, उसने कहा-''मैं यह आयोजन होने ही नहीं दूँगा। सब कुछ उलट पलट कर दूँगा, सामान-बर्तन तोड़ फोड़ दूँगा, आग लगा दूँगा।''

बेचारे यजमान बड़े दु:खी और भयभीत हो उठे। कथा करने को उद्यत पंडित जी भी प्रेत द्वारा दी गयी धमकियों और चेतावनी से डर गये। इधर वह भूत से आविष्ठ व्यक्ति केवल कह ही नहीं रहा था घर में उथल पुथल मचा ही रहा था।

ऐसी कठिन घड़ी में यजमान ने उसे वश में करने का कोई उपाय न देखकर श्री महाराज जी से प्रार्थना की-''आप कृपा करके अभी इसी समय मेरे भाई को वैष्णवी दीक्षा प्रदान करके अपनी शरण में ले लें।''

श्री महाराज जी की अनुमति मिलने पर कई लोगों ने मिलकर उसे पकड़ा और बड़ी कठिनाई से उसे महाराज जी के निकट लाये। श्री महाराज ने उसके भाल पर तिलक - ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण कराया। वह व्यक्ति फिर हाथ पैर चलाने लगा तो महाराज जी ने उसे डाँट कर शाँत कर दिया और तुलसी की कंठी धारण करवा कर कान में श्री भगवन्नाम सुनाया।

बड़ा चमत्कार हुआ; कान में नाम पड़ते ही प्रेत बाधा से मुक्त हो वह व्यक्ति शाँत हो गया। प्रेतात्मा की भी अधोगति से मुक्त हुआ और घर में सदा के लिये सुख शाँति व्याप्त हो गयी।

खारा जल मीठा हुआ- श्री महाराज जी के सत्संग-प्रभाव से गुजरात जैसे सुदूर प्रांत में भी लोगों के मन में श्री भक्तमामल के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। यहाँ के शिष्यों-भक्तों के आग्रह वश श्री महाराज जी ने गुजरात सौराष्ट्र की अनेक यात्रायें की।

एक बार सुरेन्द्र नगर जिले के लखतर गाँव में श्री महाराज जी ने भक्तमाल की कथा कही। कथा में शबरी माता के प्रसंग में ''सरोवर का अशुद्ध जल श्री शबरी जी की चरणरज से शुद्ध और पवित्र हो गया'' यह बात आयी। इसे सुनकर एक ब्राह्मण के मन में आया-''श्री महाराज जी तो उच्चकोटि के महापुरुष हैं, यदि इनका चरणामृत अपने खारे जल वाले कुएं में डाल दें...., अवश्य ही जल मीठा हो जायेगा।''

ब्राह्मण देवता बिना किसी को कुछ बताये एक घड़ा जल और परात लेकर श्रीमहाराज जी के समीप आये और निवेदन किया ''हम चरणामृत लेना चाहते हैं।''

श्रीमहाराज जी ने सहज भाव से स्वीकृति देदी। चरणामृत लेकर ब्राह्मण ने श्रद्धापुर्वक उसे कुएं में पधरा दिया। अगले दिन उत्सुकता वश उसने परिक्षा करने के लिये कुएं से जल निकाल कर पीया तो उसे जल मीठा लगा। जब श्री महाराज जी से निवेदन कि-''आपके चरणामृत के प्रभाव से कुएं का जल मीठा हो गया।''

अमानी महाराज जी ने कहा-''यह मेरा प्रभाव नहीं है, यह तो उस ब्राह्मण की भावना और श्रद्धा का चमत्कार है।'' श्री महाराज जी अपनी महिमा को उसकी श्रद्धा की ओट में छिपा ली।

गहवर वन की कथा में भावावेश-

श्री महाराज जी गहवर वन में कथा कह रहे थे। अधिकांश कथाकार कथा को भावमय -रससिक्त बनाने का प्रयत्न करते हैं किंतु श्री महाराज जी भावमय प्रसंगों से बचकर कथा किया करते थे।

गहरवर वन में श्रीमद्‌भागवत कथा हो रही थी, सम्भवत: कथा रस में बहते हुए श्री महाराज जी श्री किशोरी जी और ठाकुर जी के प्रथम मिलन के समय सरस नवानुराग की चर्चा कर बैठे-

''श्री जी ने प्रथम बार ''कृष्ण'' नाम सुना, सुनते ही इसके अनन्त माधुर्य में डूब गयीं। भूल गयीं कि स्वयं कौन हैं? कहाँ हैं? यह नाम किसका है? कौन यह नाम धारक? कृष्ण नाम के माधुर्य और हृदय के अनुराग आवेग से अष्ट सात्विक भाव जागृत हो गये। उस अवश अवस्था में मूर्छा प्रकट हुई और वे मुर्झायी स्वर्ण वल्लरी सी धरा पर जा गिरीं।'' श्री महाराज जी ये दो चार वाक्य ही बोल पाये थे कि प्रबल भावावेश के वश हो वाणी रुद्ध हो गयी, नस नाड़ियाँ उभर आयीं, नेत्र लाल हो गये और देह रोमांचित – कंटकित हो काँप उठी। कम्पन इतना तीव्र था कि व्यासपीठ हिलने लगा, चौकी काँपने लगी।

श्रीमहाराज की भाव धारा ने श्रोताओं को भिगो दिया। सभी के नेत्र बरसने लगे, हृदय में भाव तरंगे उठने लगीं। महापुरुषों की भाव दशा किस प्रकार साधारण जनों को भी गंभीर भावोदधि में स्नात कर देती है यह वहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है।

श्री महाराज जी की ऐसी अवस्था देखकर श्री मलूकपीठाधीश कीर्तन कराने लगे। उस दिन कथा का आगे बढ़ पाना असम्भव हो गया। व्यासपीठ से उतर कर श्री महाराज जी विश्राम कक्ष में पधार गये।

रात्री में अवसर देखकर श्री मलूकपीठाधीश ने ''उस दशा'' के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की।

''पंडित जी! बड़ी सावधानी से हमको कथा कहनी पड़ती है। तनिक भी असावधानी हो जाय तो कथा कहना असम्भव हो जाता है। अपने मन को भाव स्थिति से बलपूर्वक बचा कर ही हम कथा कह पाते हैं।''

स्वरूप सरकार का अनुग्रह– गहवर वन बरसाना की ही बात है। श्री महाराज जी कथा कह रहे थे, कथा के बाद श्री रास बिहारी सरकार की झांकी के दर्शन होते। उनके दर्शन कर श्री महाराज जी भावपूर्ण हृदय से उनको साक्षात् श्री राधाकृष्ण मानकर साष्टाङ्ग दण्डवत करते और प्रसाद ग्रहण करते थे।

श्रीमहाराज जी के साथ रहने वाले एक संत अपने मन में स्वरूप सरकार को केवल व्रजवासी- ब्राह्मण बालक ही मानते थे। वे दूर से प्रणाम तो कर लेते पर उच्छीष्ट प्रसाद नहीं लेते थे।

एक रात को उन्होंने स्वप्न देखा- ठाकुर जी की रासलीला हो रही है और श्री महाराज जी प्रणाम करके वहां बैठे हैं। लीला के बीच में ही दोनों स्वरूप (प्रिया-प्रियतम) आकर श्री महाराज जी की गोद में बिराज गये। उसी समय कुछ सन्तों ने स्वरूप सरकार को भोग लगाने केले महाराज जी को दिये। श्रीमहाराज जी भाव विगलित हृदय लिये केले छील-छील कर युगल स्वरूप को भोग लगा रहे हैं। दोनों स्वरूप प्रसन्नता पूर्वक केले आरोग रहे है।

स्वप्न देखने वाले संत ने स्वयं अपने को भी वहीं कुछ दूर संध्या करके जप करते हुए देखा। श्रीमहाराज जी की गोद से उठकर युगल सरकार उनके समीप आये और ठाकुर जी ने कहा-"अरे बाबा! जप पीछे कर लीजों ले केला खाय ले।" जब ठाकुर जी यह बात कह रहे थे उस समय श्री जी संत जी के पीछे उनके सिर पर हाथ रखकर खड़ीं थीं, वे ठाकुर जी से बोलीं- "अरे बाबा कूं काय कौं परेसान करौ हो।"

किंतु ठाकुर जी "लै-लै केला खायले" कहते हुए अपने हाथ से बलात् उनके मुख में केला दे दिया। उसी समय उनकी नींद खुल गयी।

वे संत इसे श्री रासबिहारी की कृपा मान प्रसन्न हुए और श्री महाराज जी को यह स्वप्न सुनाना चाहा किंतु दिन भर में वे जब जब श्रीमहाराजजी के पास गये कोई न कोई बैठा मिला उनके पास। एकान्त न मिलने के कारण वे महाराज जी को सुना न सके। सन्ध्या को कथा के पश्चात नित्य की भाँति युगल स्वरूप की झांकी का दर्शन हुआ। उसी समय जैसा उन संत ने स्वप्न में देखा था ठीक उसी तरह दोनों स्वरूप सरकार श्री महाराज जी की

गोद में आ बैठे, उसी तरह श्रीमहाराज जी उन्हें केला खिलाने लगे और उसी तरह वे दोनों महाराज जी की गोद से उठकर आये और ''लै, लै केला खाय ले'' कहते हुए अपना प्रसादी केला उनके मुख में दे दिया।

रात्री का स्वप्न और ठीक वैसा का वैसा जाग्रत में घटित प्रसंग उन संत ने श्रीमहाराज जी को सुनाया।

''आपकी स्वरूप सरकार में ठाकुर बुद्धि नहीं थी। आप उन्हें साधारण ब्रजवासी बालक मानते थे इसीलिये उन्होंने आपको यह अनुभूति करायी। श्री ठाकुर जी प्रत्यक्ष ही लीला कर रहे है; इस भाव से रासलीला का दर्शन करना चाहिये। श्रीमहाराज ने उन्हें समझाया! इसके बाद उन संत का रासबिहारी ठाकुर जी में अत्यन्त प्रेम हो गया।

मधुमेह रोग–श्रीमहाराज जी की नेत्र ज्योति कम पड़ने लगी, परिक्षण के लिये डॉक्टर ने अस्पताल में कई परीक्षण प्रयोग हुए, परिणाम स्वरूप ज्ञात हुआ कि आपको मधुमेह (डायबिटीज) रोग हो गया है। यह बात सन् 1995 में झांसी की है। इसके बाद श्री महाराज की देह में मधुमेह का प्रभाव बढ़ता–चला गया और रोग जनित दुर्बलता एवं वृद्धावस्था के चिन्ह दिखायी पड़ने लगे। इस समय आपकी आयु पिचहत्तर वर्ष से अधिक थी।

भक्तमाल के प्रथम श्रोता– श्री भक्तमाल के मुख्य श्रोता श्री हरी ही हैं। अपने प्रेमी भक्तों के चरित्र सुनने को करुणासागर, अनुग्रहमय, प्रेमाब्धि प्रभु सदा लालयित रहते हैं। जहाँ तनिक सा कोई उनकी ओर रुचि दिखाये जरा सा उन्मुख हो – ऐसे दौड़ पड़ते हैं जैसे उसके बिना तो उनके सारे काम अटके पड़े हों, जैसे ग्रास ही गले में फँस गया हो उसके बिना और फिर एक बार छू लें अथवा मिल लेने पर छोड़ना भूल ही जाते हैं। चाहे कोई कितनी ही उछल कूद करे, छूटने के कितने ही प्रयत्न करे –गाली दे अथवा मुँह ही फेर ले

इनकी ओर से-कुछ नहीं होने का। इतने भोले कि क्या कहें, उसकी कोई बुरायी जैसे इन्हें सुनाई ही नहीं देती- दिखती ही नहीं। भले झूठे ही ऊपरी मन से कह दिया-''मैं तेरा हूँ'' और गया कम से ऐसा नेहनिधि कोई और है तात चरण (श्री सुदर्शन सिंह जी चक्र) कहते थे-''एक तो बाबा ने कन्हाई को पढाया नहीं दूसरे वह बुधवार को जन्मा इसलिये बुद्धू ही रह गया।''

इन बुद्धू ठाकुर को भक्त के सामने अपनी सर्व समर्थता, सर्वज्ञता, अपरिमेय बल और सारी ठकुराई विस्मृत हो जाती है। रह जाते हैं प्रेमी भक्त के हाथों की कठपुतली बनकर। अब कोई देखे उनके ''जन'' की ओर टेढ़ी नजर से, कोई उसका अहित मन से भी सोच देखे- उनकी सामर्थ्य उनके संकेत से पूर्व ही दौड़ पड़ती है उस अहित से बचाने ''निज जन'' को। वह माने कि न माने पर जिसे एक बार उन्होंने ''निज'' मान लिया वह ''पर'' की श्रेणी-परिधि में कभी नहीं आता। कैसा है यह ठाकुर? अब जिसे हम चाहें अथवा जो हमें अच्छा लगता है हमारा है उसकी तो चर्चा अच्छी लगती ही है। इसी न्याय से यह सर्वज्ञ, समर्थ ठाकुर एक पैर उठाये, उत्कीर्ण-कर्ण सदा दौड़ पड़ने को तत्पर खड़ा रहता है। विश्वास न हो तो पूछ देखिये उसके निजजनों को। अथवा एक बार होकर देख लिजिये ''उसके''। किंतु बहुत सोच कर हो? क्योंकि फिर लौटना... ....? असम्भव?

हाँ, तो टीकमगढ़ जिले के एक भक्त ब्राह्मण ने अपने घर श्री महाराज जी के श्री मुख से श्री भक्तमाल-कथा सुनने की इच्छा की। श्रीमहाराज जी की अनुमति मिलने पर कथा से कुछ दिन पूर्व वे भक्त प्रवर श्रीवृन्दावन पधारे और बिहारी जी को कथा में आने का निमन्त्रण दिया। ऐसे ही ओरछा जाकर श्री रामराजा सरकार को भी कथा श्रवण के लिये आमन्त्रित किया।

ओरछा से आने के अगले ही दिन कथा आरम्भ होनी थी। रात उन महाभाग ब्राह्मण को स्वप्न आया उन्होंने देखा- अपने घर के बाहर हाथी की चिंघाड़ सुन वे दौड़कर बाहर आये देखा श्वेत हाथी पर विराजमान श्री सीताराम जी पधारे हैं, महावत के स्थान पर श्री हनुमान जी महाराज स्थित हैं। उन्होंने दण्डवत प्रणाम किया और करबद्ध खड़े रह गये।

''पंडित जी! हम ओरछाधीश रामराजा सरकार हैं, आपने हमें कथा सुनने बुलाया था अतः हम आ गये हैं।'' हाथी पर विराजित श्रीरघुनाथ जी ने फरमाया।

ओरछाधीश के राजसी वैभव को देख गरीब ब्राह्मण के होश उड़ गये उन्होंने हाथ जोड़े हुए सान्निध्य संकोच पूर्वक कहा-''प्रभु! आपके योग्य इस विपन्न के यहाँ कोई सुव्यवस्था नहीं है।''

''उसकी चिंता आप न करें, सारी व्यवस्था हमीं सम्हाल लेंगे। कहकर रामराजा सरकार हाथी सहित घर में प्रवेश कर गये। कहिये तो है कोई जगत में प्रेम का ऐसा निर्वाह करने वाला?

फिर देखा- श्रीवृन्दावन धाम से बिहारी जी पधारे हैं, ब्राह्मण ने प्रणाम किया तो श्री बिहारी जी बोले-''पंडित जी! आपने कथा सुनने का निमन्त्रण दिया था अतः हम कथा सुनने आये हैं।'' कह कर बिहारी जी भी घर में प्रविष्ट हो गये।

अगले दिन कथा आरम्भ हो रही थी अतः नाना व्यवस्थाओं में व्यस्त रहने के कारण वे ब्राह्मण देव श्री महाराज जी को यह स्वप्न सुना नहीं पाये। कथा सुनाने के लिये श्री महाराज जी व्यास पीठ पर यथा समय विराजमान हुए और मंलाचरण के बाद बोले-''भक्तमाल की कथा सुनने के लिये वृन्दावन से श्री बिहारी जी और ओरछा से श्रीरामराजा सरकार यहाँ पधारे हैं। वे ही इस कथा के प्रधान श्रोता होकर विराजमान हैं।''

इतना सुनते ही उन महाभाग भूदेव की देह रोमांचित एवं हृदय विह्वल हो उठा, नेत्रों में भरा जल छलक कर वक्षवरण भिगोने लगा। ''यह कैसा अनुपम अनुग्रह प्रभु! मैंने तो स्वप्न में देखकर ही अपने को धन्य-कृतार्थ मान लिया था। आप..... आप सचमुच पधार गये भगवन? दास पर कैसी महती कृपा की प्राणधन! मैंने तो श्री महाराज जी को स्वप्न सुनाने का अवकाश ही नहीं पाया यदि आप न पधारे होते तो श्रीसद्गुरूदेव कथा में आपके बिराजने की बात कैसे फरमाते? करूणामय! बड़ी कृपा......बड़ी कृपा की मेरे सर्वस्व.. .....।'' विगलित हृदय से उठते भाव सुमन नयनों की राह झरते रहे। उन्हें लगा आज यह दोहा सजीव हो उठा-

''हरि जू आय विराजिये, कथा सुनहु इतिहास।
तुम श्रोता या माल के, तव पद रज हम दास।।

कथा - मध्य में गोपीवेश- वंशीवट के समीप ही है वृन्दावन का गोपीश्वर मंदिर। वंशीवट स्थली है, इसी रासमण्डल पर श्री महाराज जी ने भागवत कथा कही। कथा में जब रासलीला का प्रसंग आया तो श्रीमहाराज जी ने भगवान के गोपी स्वरूप प्राप्त करने की चर्चा की। ''गोपी भाव के बिना इस अंतरंग लीला में प्रवेश मिलना नहीं है। भगवान शिव ने वृन्दावन के मानसरोवर में स्नान करके गोपीभाव प्राप्त किया, श्री यमुना जी ने उन्हें गोपी श्रृंगार प्रदान किया और श्री किशोरी जू की प्रधान सहचरी श्री ललिता जू ने उन्हें ''चिन्तामणि'' मंत्र की दीक्षा दी तब जाकर भगवान शिव को गोपीश्वर रूप से महारास में प्रवेश प्राप्त हुआ।''

यह कथा कहते कहते श्री महाराज जी भाव विभोर हो गये। आप बोले-''जब गोपी भाव इतना दुर्लभ है तो मुझ जैसे शुष्क हृदय वाले जीव को वंशीवट-रासमण्डल पर बैठकर कथा करने का अधिकार ही क्या है? श्री जी, ठाकुर जी एवं उनकी सखियों की कृपा हो तभी यह अधिकार मिल सकता है।''

ऐसा कहते हुए वे अपने सहज दैन्य में निमग्न हो गये। बाष्परुद्ध कंठ और नेत्रों की वर्षा के कारण कुछ क्षणों तक वाणी को विराम लग गया।

उसी समय नख-शिख श्रृंगार किये, घुंघट किये एक नवविवाहिता वधू वहाँ आयी। उसके हाथों में पूजन सामग्री युक्त थाल था। उसने व्यासपीठ के समीप आकर बिना किसी संकोच के श्री महाराज जी के भाल पर तिलक लगाया फिर उनके कंठ में युगल कंठी बांधी और लाल-गोटे दार चुनरी श्रीमहाराज जी को ओढ़ाकर छोटा सा घूंघट भी काढ़ दिया। इसके पश्चात् प्रणाम करके चली गयी। बाद में प्रयत्न करने पर भी उस नववधू का आसपास कोई पता नहीं चला।

श्रीमलूकपीठाधीश भी उस कथा में उपस्थित थे, उनका लिखना है-''दिव्य वृन्दावन का दिव्य वंशीवट-रासमण्डल तथा श्रीमद्भागवत की दिव्य कथा में महारास लीला का दिव्यातिदिव्य प्रसंग और फिर उसके वक्ता श्रीमहाराज जी जैसे दिव्य महापुरुष, ऐसे में वहाँ घटी यह घटना भी अवश्य ही किसी दिव्य नित्य लीलाराज्य का संकेत करती है।

चरणामृत से जीवनदान- श्री महाराज जी बुंदेलखंड के ''बंधा'' नाम के गाँव में थे। उसी गाँव के एक भक्त का बालक बीमार हो गया। शहर में दूर छोटे गांवों में चिकित्सा की सुविधा प्राय: ''नहीं'' समान होती हैं।

बालक की स्थिति गम्भीर होती गयी और लगा-उसके बचने की अब कोई आशा नहीं रह गयी। उस परिवार और गृहपति की श्रीमहाराजजी में अपार श्रद्धा थी। जब बालक के जीवन की कोई आशा नहीं बची तो वे गृहपति जल और परात लेकर श्री महाराज जी के समीप उपस्थित हुए और चरणामृत की याचना की। अनुमति प्राप्त होने पर चरणामृत को औषधि मानकर थोड़ी-थोड़ी देर में बालक को पिलाने लगे, धीरे-धीरे बालक की दशा सुधरने लगी और थोड़े समय बाद वह स्वस्थ हो गया।

बात आश्चर्य की लगती है पर जहाँ श्रद्धा, विश्वास और संत महापुरुष की उपस्थिति हो ''असम्भव'' शब्द अवश्य ही कोई ओट ढूँढकर दुबक जायेगा।

श्रीमहाराज जी जैसे संत महापुरूषों के चरणामृत और सीथ प्रसाद का श्रद्धा पूर्वक सेवन करने से तो अत्यन्त कठिन भवरोग श्री निर्मूल हो जाता है फिर देह रोग की चिकित्सा हो जाय, यह तो साधारण बात है।

लीलाराज्य के अंतर्गत में स्थिति – सुदामाकुटी के रामानन्द पुस्तकालय में श्रीमहाराज जी विराजमान थे। समीप में श्री परमहंस जी और एक दो संतों के साथ श्रीमलूकपीठाधीश भी बिराजे थे।

श्रीमहाराज जी उस समय पुस्तकालय के बिक्री विभाग का हिसाब कर रहे थे। वे रुपये गिन रहे थे। वहाँ बैठे संतों में श्रीहरिराम व्यास जी की निम्न पंक्तियों पर सत्संग-चर्चा हो रही थी-

कनक मरकत धरनि कुंज कुसुमित महल मधि कमनीय शयनीय ठानी।

पल न बिछुरत दोऊ जात नहिं तहाँ कोऊ व्यास महलनि लिये पीकदानी।।

श्रीव्यास जी का कहना है-''इस प्राकृत जगत से दूर श्री श्यामा श्याम के अगम्य निज महल में मैं सहचरी वपु से पीकदानी लिये हुए सेवा में उपस्थित हूँ।''

कक्ष में उपस्थित संतों का कथन था-''प्रकृत व्यवहार जगत में रहते हुए भी सदा नित्य लीला में उपस्थिति कैसे संभव है?'' उस समय रुपयों की गड्‌डी हाथ में लिये गिनते हुए श्रीमहाराज जी ने भाव विगलित स्वर में पूछा-''अच्छा यह बताओ कि मैं इस समय क्या कर रहा हूँ?''

''महाराज जी! आप रुपये गिन रहे हैं।'' सब का उत्तर था।

''आप सबकी दृष्टि में मैं भले ही इस पुस्तकालय में बैठकर रुपये गिन रहा हूँ'' श्रीमहाराज जी ने बाष्परुद्ध कंठ से कहा–''वस्तुतः इस समय मैं श्रीगिरिराज तरहटी में श्रीकृष्ण–बलराम के साथ गोचारण कर रहा हूं।'' इतना कहने के साथ ही उनमें प्रेमवैवर्ण्य के लक्षण प्रकट हो गये। श्रीमहाराज जी की दशा देख श्री परमहंस जी भी विह्वल हो गये। कक्ष में बैठे सभी संत आवाक् देखते रहे, किसी से कुछ कहते नहीं बना। कुछ समय तक कक्ष में पूर्ण नीरवता रही।

तत्पश्चात् भाव संवरण कर आत्मसंगोपन स्वभाव के अनुसार अपनी स्थिति को छिपाते हुए बोले–''यह जो बात मैंने कही मुझ जैसे प्रपंची साधु पर लागू नहीं होती। यह तो मैं भगवत्प्राप्त महापुरुषों की स्थिति के विषय में आप लोगों को बता रहा था। ऐसे महापुरुष संसार में रहकर व्यवहार निभाते हुए भी लीला राज्य में अवस्थित रहते हैं।''

मलूकपीठ का पुनरुद्धार– श्रीवृन्दावन के वंशीवट क्षेत्र में स्थित श्रीमलूकपीठ वैष्णवों के बावन द्वाराचार्य पीठों में से बाइसवाँ पीठ है। इसके संस्थापक श्रीमलूकदास देवाचार्य जी महाराज श्री रामानंद सम्प्रदाय के एक प्रभावशाली मनीषी आचार्य थे जो विक्रम की सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में धराधाम पर विराजमान थे। इतिहास में एक क्रांतिकारी युगपुरुष के रूप में उनका स्मरण किया जाता है। मुगलकाल के तीन बादशाह जहाँगीर, शाहजहाँ, और औरंगजेब उनके विलक्षण चमत्कारी व्यक्तित्व से हतप्रभ थे। श्रीमलूकदास जी ने इन बादशाहों पर अपना प्रभाव दिखाते हुए सनातन हिंदू धर्म, संस्कृति और उसके उदात्त मूल्यों का संरक्षण किया।

एक वाणीकार के रूप में श्री मलूकदास जी की व्यापक ख्याति है। हिन्दी भाषा अंचलों में उनेक नाम से बहुत लोग परिचित है। उनका एक दोहा तो अबाल वृद्ध के चित्त मन पर चढ़ा हुआ है प्रसंगानुसार नर नारी सभी इसका उच्चारण–प्रयोग करते रहते हैं–

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।

दास मलूका यों कहे सबके दाता राम।।

सनातन धर्म के कल्याणकारी सिद्धान्तों को प्रचार प्रसार के लिये स्थापित श्रीमलूकपीठ कुछ शताब्दियों तो आशानुरूप संचालित होता रहा किंतु आगे चलकर इसमें बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी।

श्रीमहाराज जी सन् 1974 में सुदामाकुटी में स्थाई रूप से निवास करने लगे तब तक इस पीठ की स्थिति चिंताजनक हो चुकी थी।

सुदामाकुटी के ठीक सामने स्थित यह पीठ जर्जर भवन के रूप में खड़ा था। उसका ज्यादातर हिस्सा दूसरों के हाथ में जा चुका था। रहे सहे भाग पर अवांछित लोग आते जाते रहते थे। श्री मलूकदास जी के सेव्य ठाकुर श्री सीताराम जी महाराज विराजित थे किंतु उनकी दैनिक सेवा-पूजा की कोई व्यवस्था नहीं थी।

श्री महाराज जी के प्रयासों से कई लोक हितकारी संस्थाओं के आस्तित्व की रक्षा हुई, कइयों का जीणोद्धार हुआ और स्थानों पर सुयोग्य साधुओं की नियुक्ति कर उन स्थानों की गरिमा की रक्षा की।

मलूकपीठ का भी जीर्णोद्धार सुदृढ़ संस्था के रूप में सर्वाङ्गीण विकास श्री महाराज जी के सत्प्रयासों से ही सम्भव हुआ।

श्रीमहाराज जी सत्संकल्प के अनुसार सन् 2000 में श्री मलूक पीठ अवांछनीय तत्वों से ले लिया गया। इस अवसर पर सुदामा कुटी के अपने निवास कक्ष में विराजित श्री महाराज जी ने एक घृतदीप प्रज्वलित करके वर्तमान मलूकपीठाधीश्वर जी को देते हुए आज्ञा प्रदान की कि-''इसे मलूकपीठ के ठाकुर श्री सीताराम जी के सामने रखकर

उनसे प्रार्थना करो–''इस अभिनव दीप का मंगलमय प्रकाश अनुदिन वृद्धि को प्राप्त होता रहे।''

श्री मलूकपीठ में श्री ठाकुर जी का भव्य मंदिर, संत-भक्त निवास, विशाल सत्संग भवन, पुस्तकालय, गौशाला आदि सेवाओं का प्रांरभ हो चुका है। यही नहीं उनके प्रिय और सुयोग्य शिष्य श्री राजेन्द्रदास जी महाराज का द्वाराचार्य के रूप में अभिषेक भी सम्पन्न हो चुका है। इनके रूप में श्रीमहाराज जी को सत्संकल्प ही मूर्त हुआ है। श्री महाराज जी द्वारा प्रज्वलित प्रेरणा दीप ही इसका अवलम्ब है।

श्रीमलूकपीठधीश द्वाराचार्य श्री राजेन्द्र दास देवाचार्य लिखते हैं–''ठाकुर श्री सीताराम जी की महती कृपा एवं श्री महाराज जी के शुभ आशिर्वाद से यह संस्था अपने अभीष्ट पथ पर अग्रसर हो रही है। इस दास की प्रार्थना पर सन् 2004 में आप श्री मलूकपीठ में निवास करने लगे। आपने सन् 2006 में दिनांक 12 अप्रैल को पीठ के विशाल सत्संग भवन का उद्घाटन किया।

पनुरुद्धार-भक्ततीर्थ-गागरौनगढ़- पीपाधाम नाम से भक्त जगत में प्रसिद्ध गागरौन गढ़ भक्त प्रवर पीपा जी की राजधानी थी। ये झालावाड़ के पास स्थित गागरौनगढ़ के राजा और जगद्गुरु स्वामी श्री रामानन्दाचार्य महाराज के शिष्य थे।

पीपाजी के कई रानियाँ थी उनमें सबसे छोटी रानी सीता सहचरी परम भक्तिमती थीं।

स्वामी जी से दीक्षा पाने के बाद घूमते हुए पीपाजी ने कई वर्षों तक भक्ति प्रचार किया। जीवन के उत्तर काल में वे गागरौन आये और यहीं उन्होंने जीवित समाधि लेकर साकेत पधारे।

गागरौन में पीपाजी का किला अभी भी मौजूद है। स्वामी श्री रामानन्दाचार्य की चरण पादुकायें यहाँ स्थापित हैं। समय के फेर बदल में संत पीपाजी के ये स्मृति चिन्ह

जीर्ण-शीर्ण होकर लुप्त प्राय हो गये थे। श्री महाराज जी का ध्यान इस ओर गया और सन् 2000 में चाचौड़ा से लौटते हुए पीपाधाम के दर्शन करने के विचार से गागरौन पहुँचे। पूछते पाछते स्थान पर पहुँचते पहुँचते रात हो गयी थी। पीपा जी के समाधि पर दीपक का भी प्रबन्ध न देखकर श्री महाराज जी व्यथित हो उठे। इस स्थान की इतनी उपेक्षा उन्हें असह्य लगी। इसके अभ्युदय के लिये श्री महाराज जी ने संकल्प किया। संत का संकल्प-वचन तो सदा से अमोघ रहता आया है। सत्य संकल्प श्री महाराज जी के प्रयास से यह स्थान धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होकर आज पीपा धाम के रूप में प्रख्यात हो चुका है। श्री महाराज जी की प्रेरणा से वहाँ प्रतिवर्ष पीपा जयन्ती मनायी जाती है जो अब राज्यस्तरीय उत्सव का रूप धारण कर चुकी है।

श्री पीपाधाम के सारे दायित्वों का वहन और कुशल संचालन श्रीमहाराज जी के स्नेहभाजन श्री झंकारेश्वरदास त्यागी जी कर रहे हैं।

यह श्री महाराज जी के समर्थ संकल्प का ही प्रभाव है कि शासन, क्षेत्रिय निवासियों एवं धार्मिकसमाज द्वारा उपेक्षित यह स्थान कुछ ही वर्षों में श्री पीपाधाम के नाम से प्रख्यात हो भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर चमकते हुए नक्षत्र सा शोभित है।

धुँअन कला; श्री धन्ना जी- जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य के बारह प्रधान शिष्यों में से धन्ना जाट एक थे। वर्तमान टोंक जिले के धुँअन कला गाँव के निवासी थे। भक्तमाल के छप्पय बासठ में श्री धन्ना जी का चरित्र वर्णन है।

एक बार ये खेत में बुवाई के लिये गेहूं लेकर जा रहे थे, रास्ते में इन्हें संतों की टोली मिली। इन्होंने बीज के लिये लाये गेहूँ बेच दिये और उन पैसों से आटा, दाल, चावल, घी-गुड़ लाकर रसोई बनाकर संतों को जिमाया। भवत्कृपा से बिना ही बीज बोये इनके खेत में गेहूँ की फसल लहलहाने लगी।

श्री धन्नाजी के कुछ पदों का वर्णन सिखों के प्रसीद्ध ग्रंथ "गुरु ग्रंथ साहब" में भी है, अत: सिख भी उनके प्रति श्रद्धा रखते है धुंअन कलां में सिखों द्वारा बनवाया गुरूद्वारा भी है।

किंतु जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया अथवा जिस वैष्णव पंरपरा में वे दिक्षित हुए उनके द्वारा बनाया गया धन्ना जी का कोई स्मृति चिन्ह वहां नहीं था। गाँव में उनका खेत, टूटे फुटे खंडहर के रूप में उनकी गढ़ी, उनकी भजन स्थली आदि के चिन्ह तो हैं किंतु न तो उनकी जयन्ती का आयोजन होता न कोई ऐसी संस्था जो सुचारु रूप से आयोजनों को संचालित करे और न ही कोई ऐसा स्थान है जहाँ साधु संत अथवा श्रद्धालु टिक सकें।

श्री महाराज जी की प्रेरणा से लोगों ने इस स्थान का महत्व समझा और प्रतिवर्ष धन्ना जी की जयन्ती मनाई जाने लगी। इस समय तक वहाँ धन्ना जी का मंदिर भी बन चुका है।

श्री पीपाधाम और धन्ना जी का स्थान दोनों ही श्री महाराज जी के शुभ संकल्प का ही परिणाम हैं। श्री महाराज जी की प्रेरणा से श्री जानकीशरण जी सतत् प्रयासरत हैं।

बान्धवगढ़- श्री सेन जी- नाई जाति में उत्पन्न श्री सेन जी बाँधवगढ़ के राजा की हजामत बनाने और तेल मालिश के लिये नित्य गढ़ में जाते थे। यही उनकी जीविका थी और यही नौकरी।

एक दिन वे राजा के यहाँ जाने की तैयारी में अपनी छेटी सी पेटी में तैल और अन्य सामान सम्हाल कर रख ही रहे थे कि कुछ संत आ गये। सेन जी गढ़ में जाना भूल संत-सेवा में लग गये।

राजा की सेवा में उपस्थित न होने का परिणाम भयंकर हो सकता था, जीविका तो जाती ही, बिना छुट्टी माँगे सेवा में त्रुटि के कारण दण्ड भी मिल सकता था। यह दण्ड

देहिक-आर्थिक अथवा दोनों प्रकार का हो सकता था, उनका घर बार-जमीन भी कुर्क (जब्त) हो जाती।

भक्तवत्सल प्रभु भक्त को इतनी बड़ी विपत्ति में फंसता कैसे देख पाते अतः उन्होंने अग्रिम व्यवस्था की। व्यवस्था भी क्या भक्त-प्रतिपाल भोले भगवान को और तो कुछ सूझा नहीं स्वयं सेन जी का रूप धारण कर सेवा के लिये राजा के पास पहुँच गये। राजा की दाढ़ी बनायी तैल मालिश की सब सेवा कर उनकी अनुमति लेकर लौट आये।

बान्धवगढ़ सेन जी की जन्म स्थली के भी वही हाल थे जो धन्ना जी और पीपा जी के स्थानों के थे। यहाँ तक कि भक्त सेन जी का नाम अधिकांश लोग भूल चुके थे।

श्री महाराज जी ने श्री जानकीशरण जी को वहाँ भेजा, उनकी प्रेरणा से अब वहाँ सेन जी की जयन्ती मनायी जाती है। अभी वहाँ का विकास कार्य अधूरा हैं किंतु लोगों को उस स्थल का महत्व समझ में आने से जाग्रति आगयी है और निर्माण बढ़ रहा है।

श्रीधाम में नित्य स्थिति- श्री महाराज की देह आयु बढ़ने के कारण वार्धक्य के सभी लक्षण परिलक्षित होते थे। देह दुर्बल और कमर झुक गयी थी, रोग भी थे ही-दृष्टिमांद्य, शुगर (मधुमेह) और सबसे ऊपर कमजोरी-शक्तिहीनता। इन्हीं कारणों से कुछ संतों भक्तों का आग्रह रहता था कि अब महाराज जी कहीं बाहर न पधारें। जब महाराज के सामने यह बात रखी गयी तो उन्होंने कहा-

''मैं अपनी इच्छा से नहीं जाता हूँ। कहीं जाने का मेरे मन में संकल्प भी नहीं उठता है। लोग प्रेमाग्रह करके ले जाते हैं और पुनः छोड़ भी जाते हैं।''

इतना कहते कहते श्री महाराज जी में किसी दिव्य भाव का संचार हुआ और उनके स्वर, बोलने की शैली और हावभाव में असाधारण पविर्तन दिखायी दिया। श्री धाम के प्रति उनकी गहरी निष्ठा, वृन्दावन का दिव्य स्वरूप और इस दिव्यधाम में उनकी नित्य अवस्थिति

के रहस्य उनकी वाणी में छलक उठे। श्री महाराज जी ने कहा-"तुम्हें यही भय है कि कहीं वृन्दावन से बाहर मेरा शरीर न छूट जाय। अरे; मेरा शरीर जहाँ भी छूटेगा वहीं पहले श्री वृन्दावन प्रकट हो जायेगा। मैं वृन्दावन से एक क्षण भी बाहर नहीं रहता।"

भगवान जगन्नाथ की लीला- सन् 2004 में श्री महाराज जी चालीस संतों को साथ लेकर श्री जगन्नाथ पुरी रथ यात्रा के दर्शन करने पधारे। प्रतिवर्ष इस उत्सव में लाखों यात्री सम्मलित होते हैं। श्री महाराज जी के पहुँचने तक- भगवान जगन्नाथ, श्रीबलराम जी और सुभद्रा जी रथ पर विराज कर गुडिचा मंदिर पहुँच गये थे। वहाँ की परंपरा के अनुसार जब रथ गुडिचा मंदिर पहुँच जाते हैं तो दर्शनार्थी रथ पर चढ़कर भगवान जगन्नाथ के दर्शन, पूजन और आलिंगन कर सकते हैं। उस समय हजारों दर्शन करने वाले लोग तीनों रथों पर चढ़कर दर्शन आलिंगन कर रहे थे। वहाँ रथ पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की व्यवस्था नहीं थी। रथ के पहियों और उसकी आड़ी तिरछी लकड़ियों को पकड़कर करीब आठ फिट ऊँचे रथ पर चढ़ना पड़ता है। हजारों दर्शनार्थियों ने रथों को घेर रखा था, चारों ओर भीड़ भाड़ थी। पुलिस वाले भी बलपूर्वक व्यवस्था कर रहे थे।

ऐसी अवस्था में दुर्बल देह श्री महाराज जी भीड़ से बचकर रथों से दूर खड़े हो गये। श्री महाराज जी ने साथ के संतों को रथ पर चढ़कर ठाकुर जी के दर्शन-स्पर्श करने की आज्ञा प्रदान की। श्रीमलूकपीठाधीश भी वहाँ थे उनको भी दर्शन की आज्ञा हुई किंतु भीड़ में श्री महाराज जी को अकेले -अरक्षित छोड़ने का साहस वे न कर सके और उनके समीप ही खड़े रहे। श्रीमहाराज दुर्बल थे उनकी कमर झुक गयी थी, किंतु ठाकुर जी तो दुर्बल नहीं थे और न उनकी कमर ही झुकी थी। भक्त चले अपने लोभ को संवरण कर ले किंतु भगवान कैसे कर लें। उन्हें क्या भक्त के दर्शन आलिंगन का लोभ-भक्त के अपने दर्शन आलिंगन लोभ से कम होता है? नहीं, भक्त इस लोभ से भगवान का लोभ कई गुना अधिक

होता है, यह प्रमाणित सत्य बात है। यदि ऐसा न होता-वे अंतर्यामी रूप से तो अत्यन्त निकट हैं ही, सर्वरूप होने से भी निकट हैं, अर्चा विग्रह चित्रपट, गुरु, संत के रूप में भी प्राप्य हैं फिर भी मेरी अल्प बुद्धि कहती है प्रतिदिन विशेषरूप से एक दो बार अपने भक्त से मिले बिना उनसे रहा नहीं जाता है। तब ऐसे विशेष अवसर-रथयात्रा उत्सव में अपने धाम में आये हुए श्री महाराज जी जैसे संत महापुरुष से बिना मिले उन्हें कैसे चैन पड़ता। कैसे शांति मिलती और कैसे संतोष होता??? सामर्थ्य रहित भक्त का आलिंगन प्राप्त करने की उनकी अपनी विकलता यदि शाँत न कर सके तो उनकी सामर्थ्य फिर किस दिन के लिये है? ऐसे अवसरों पर वह प्रभु के संकेत की प्रतीक्षा भी नहीं करती, स्वयं ही दौड़ पड़ती है इसके अनेक उदाहरण हैं- प्रेमावतार श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री माधवदास जी, श्री बंधुमाहेती, श्री कर्माबाई, श्री सदन कसाई, आदि-आदि जिनमें भक्त संकोचवश अथवा सामर्थ्य हीनता के कारण दूर खड़ा रह गया किंतु भगवान दौड़ पड़े उससे लिपटने को अथवा उनकी सामर्थ्य सक्रिय हो उठी भक्त को भगवान तक पहुंचाने के लिये। अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि वे और उनकी सामर्थ्य अलग नहीं हैं।

श्री महाराज जी और उनके सत्‌शिष्य मलूकपीठाधीश रथों से काफी दूर खड़े थे, उसी समय एक हट्टे कट्टे विशालकाय भद्र पुरूष वहां आये, उनकी लम्बाई साढ़े छः फिट से कम न थी। उसी हिसाब से चौड़ी छाती, ऊँचा ललाट और लम्बी चौड़ी कद काठी से वहाँ उपस्थित हजारों लोगों से भिन्न दिखायी दे रहे थे। सांवला रंग, चौड़ी किनारी की धोती और उपरैना धारण किये वे जगन्नाथ जी के पुजारियों जैसे लगते थे।

श्री महाराज जी के समीप आकर उन्होंने उड़िया लहजे वाली हिन्दी में कहा-"बाबा! यहाँ क्यों खड़ा है? रथ पर चढ़ कर भगवान का आलिंगन क्यों नहीं करता?"

"वृद्धावस्था और दुर्बलता के कारण भीड़ में घुसकर रथपर चढ़ने का साहस नहीं है, इसलिये यहीं से रथ के शिखर ध्वज का दर्शन कर रहा हूँ।" श्री महाराज जी बोले।

''चलो, चलो, मैं दर्शन कराता हूँ।'' श्री महाराज की बात सुनते ही उन भद्र पुरूष ने तत्क्षण महाराज जी को अपनी पीठ पर चढ़ा लिया यह कार्य उन्होंने इतनी शीघ्रता से किया कि दोनों में से किसी को कुछ कहने का अवसर ही न मिला। श्री महाराज जी को पीठ पर चढ़ाकर वे भीड़ को हटाते हुए श्री बलराम जी के रथ के पास पहुंचे और किसी अभ्यस्त पर्वतारोही की भाँति उपर चढ़ गये। श्री बलराम जी महाराज के आस पास भी खासी भीड़ थी उसे हटाकर बलराम के सामने उन्होंने श्री महाराज जी को पीठ से उतार दिया।

''बाबा! जाओ आलिंगन और परिक्रमा करो।''

श्री महाराज जी भरे हृदय और भरे नेत्रों से दर्शन, आलिंगन और परिक्रमा की इसके बाद फिर से उन भद्र पुरूष ने उन्हें पीठ पर चढ़ा लिया और उसी फुर्ती से उतर कर सुभद्रा जी के रथ पर चढ़ गये। श्रीमहाराज जी ने वहाँ दर्शन, प्रणाम और परिक्रमा की। उन महानुभाव ने फिर महाराज जी को पीठ पर चढ़ाकर वहाँ से उतर कर जगन्नाथ जी के रथ पर पहुँचा दिया। ''ये जगन्नाथ भगवान हैं आलिंगन करो'' वे भद्र पुरुष बोले।

प्रेम विह्वल अधीर चित्त श्री महाराज जी ने प्रभु का आलिंगन किया, परिक्रमा की। उन महानुभाव ने पीठ पर चढ़ाकर श्री महाराज जी को पुनः वहीं पहुँचा दिया जहाँ भीड़ से हटकर पहले खड़े थे। श्री मलूकपीठाधीश तीनों रथों पर दर्शन, आलिंगन, परिक्रमा, उतरने चढ़ने ओर यहाँ तक पहुँचने में उन महानुभाव के पीठ पर चढ़े श्री महाराज जी का अनुसरण कर रहे थे।

कृतज्ञता भरे हृदय से श्री महाराज जी ने सोचा–''कुछ भेंट देकर इन भद्र पुरुष का सम्मान करना चाहिये'' इस विचार के साथ ही वे अपनी साफी में बंधी गाँठ खोलने लगे। गाँठ खोलकर कुछ द्रव्य ले उनकी ओर हाथ बढ़ाया तो देखा वे भद्र पुरूष वहाँ नहीं थे। वे अंतर्धान हो चुके थे।

श्री जगन्नाथ पुरी से श्री महाराज जी दमोह रेल-मार्ग से वृन्दावन लौटे। श्रीदादा जी उस समय बहुत बीमार थे श्री महाराज जी के लौटने की सूचना मिलने पर उन्होंने श्री महाराज जी से मिलने की उत्कट इच्छा प्रकट की। व्हील चेयर से उन्हें स्टेशन पर लाया गया, यहाँ गाड़ी केवल दो मिनट ही ठहरती थी। दोनों महापुरुष एक दूसरे के दर्शन कर विह्वल हो गये। इस लोक में यह इन दोनों का अंतिम मिलन था। गाड़ी चार मिनट रुकी रही। यह दिनांक 6 मार्च 2004 की घटना है। इसके कुछ दिन बाद 30 मार्च को नामनिष्ठ सन्त श्री दादाजी ने महामंत्र संकीर्तन सुनते हुए धराधाम त्याग कर नित्य धाम की ओर प्रस्थान किया।

नैमिष यात्रा- सन् 1938 में गृह त्याग के बाद श्रीमहाराज जी मलूकपीठधीश के आग्रह पर माह अगस्त सन् 2000 में अपनी जन्म भूमि कुर्सी गाँव में पधारे।

श्री महाराज जी जब हनुमान गढ़ी में पुजारी पद पर थे, तब कहीं से पता पाकर माता पिता आपसे मिलने अयोध्या पधारे। उस समय माँ ने कहा-''भैया हमें तुमसे कुछ कहना है।''

''माँ! घर वापस चलने के अतिरिक्त जो भी कहोगी-मान लूँगा।''

''जब तुम सन्यासी हो ही गये हो तो इस वेष का निष्ठा पूर्वक निर्वाह करना।''

जब लक्ष्मण मंदिर गोवरधन में श्री महाराज जी स्थाई रूप से रहने लगे थे तब इनके पिताजी श्रीलक्ष्मणप्रसाद जी त्रिपाठी कुछ समय वहाँ आकर ठहरे थे। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के आचार-विचार और व्यवहार का निष्ठापूर्वक पालन करने वाले श्री लक्ष्मण प्रसाद जी श्री महाराज जी के हाथ का बना भोजन नहीं पाते थे। वे अपना भोजन स्वयं अपने हाथ से बना कर पाते थे, उनका कहना था-''तुम सन्यासी हो, जाने किस किस के हाथ से बना भोजन करते हो।

जब लक्ष्मण प्रसाद जी को लगा कि-"मेरे जाने का समय निकट ही है, अब देह अधिक समय तक नहीं टिक पायेगी।" तब उन्होंने अपनी अंतिम इच्छा के रूप में श्री महाराज जी का दर्शन करना चाहा। उन्हें गोवर्धन लाया गया।

श्रीमहाराज जी किसी कार्यवशात् गोवर्धन से बाहर गये थे। वहाँ से अपना कार्य सम्पादन कर बस से गोवर्धन आ रहे थे। संयोगवश श्रीत्रिपाठी जी भी उसी बस से गोवर्धन आ रहे थे। दोनों ही पिता-पुत्र इस बात से अनजान थे कि वे एक बस में यात्रा कर रहे थे। दोनों का ही स्वभाव था कि भीड़ से बचने के लिये बस के सभी यात्रियों के उतर जाने पर शांति से सबके बाद उतरते थे। बस के गोवर्धन पहुँचने पर अन्य यात्री हड़बड़ा कर जल्दी-जल्दी उतरने लगे किंतु ये दोनों पिता-पुत्र अपनी अपनी सीट पर बैठे रहे। सब यात्रियों के उतर जाने पर बस में श्रीमहाराज जी, श्री त्रिपाठी जी और उनके साथ आये कुछ परिवार के लोग ही बचे। इस प्रकार बस में ही इनका दर्शन-मिलन हुआ। पुत्र के दर्शन से त्रिपाठी जी को संतोष हुआ।

पुरातन परम्परा के अनुसार संन्यास ग्रहण के अनन्तर सन्यासी पुत्र को एकबार अपनी जन्मदायिनी जननी से भिक्षा ग्रहण करने का नियम है।

त्रिपाठी परिवार के कुछ सदस्य लखनऊ में बस गये थे, श्री महाराज जी की माताश्री कैलाशादेवी भी उस समय वहीं थी तब सन् 1983 में लखनऊ जाकर श्री महाराज जी ने भिक्षा ग्रहण की।

माह अगस्त सन् 2000 में हुई जन्मभूमि कुर्सी की यात्रा में कई संत साथ थे। इसके पाँच वर्ष बाद सन् 2005 के जनवरी में श्री महाराज जी ने दूसरी बार जन्मभूमि की यात्रा की। गांव के बीच में स्थित श्री राधाकृष्ण मंदिर में, साथ गये अनेक संतों में से एक श्री मदनमोहन दास जी (जो अभी वृन्दावन-धीर समीर के महांत हैं) द्वारा श्रीमद्भागवत कथा

हुई। श्री महाराज जी इस कथा के प्रधान श्रोता थे। आयोजन के सामापन पर आशिर्वाद देते हुए श्री महाराज जी ने कहा–

''मैं दूसरी बार अपनी जन्मभूमि आया हूँ। साधु सन्यासी को बार बार अपनी जन्मभूमि नहीं आना चाहिये क्योंकि इससे बचपन की स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं।''

कुर्सी ग्राम से मिसरिख तीर्थ का दर्शन करते हुए श्री महाराज जी नैमिषारण्य आये। नैमिष के सुप्रसिद्ध चक्रतीर्थ के किनारे रखे तख्ते पर श्री महाराज जी बिराज गये और अपने साथ आये सब संतों–भक्तों को मंदिरों के दर्शन करने भेज दिया। श्री महाराज जी से थोड़ी दूर एक वृक्ष के नीचे तख्त पर आपके छोटे भाई की पत्नी श्रीमती शिवदेवी (श्रीरामेश्वर प्रसाद जी त्रिपाठी की पत्नी) बैंठी थीं।

तभी चार पांच छोटी छोटी कन्यायें श्री भूतेश्वर भगवान के मंदिर की ओर से चलकर श्री महाराज जी के पास आयीं। श्री महाराज जी ने उन कन्याओं को प्रणाम किया, उनमें से एक ने श्रीमहाराज जी को पांच रु. का एक सिक्का दिया। आपने उसे सिर से लगा कर जेब में रख लिया। वह दृश्य श्रीमती शिवदेवी देख रहीं थीं, जब कन्यायें चली गयीं तब उन्होंने श्री महाराज जी के पास आकर इन कन्याओं के विषय में पूछा।

''ललिता देवी ही अपनी सखियों के साथ दर्शन देने आयीं थी। उन्होंने प्रसाद रूप में यह सिक्का दिया है।'' श्री महाराज जी ने कहा।

नैमिष का श्रीललिता देवी मंदिर प्रसिद्ध है। श्री महाराज जी इनमें श्रीराधा जी की अंतरंग सखी ललिता का भाव रखते थे। श्री ललिता जी नैमिष की अधिष्ठात्री देवी हैं आज अपनी गोद के इस अनुपम रत्न को जैसे विदायी देने ही सखियों के साथ पधारीं थीं। श्री महाराज जी की यह अंतिम नैमिष–यात्रा थी, इसके डेढ़ वर्ष बाद ही आपने नित्य लीला में प्रवेश किया।

उपदेश एवं प्रेरक प्रसंग- संत महापुरुषों का सम्पूर्ण जीवन-प्रत्येक आचरण उपदेश होता है। खुली हुई आँखों से देखने वाले देखकर-सुनकर समझ जाते हैं। बंद आंखों से तो देखकर भी कुछ नहीं दिखता, सुनकर भी कुछ सुनाई नहीं देता और जानते हुए भी कुछ भीतर नहीं पहुँचता।

बुंदेलखंड के किसी गाँव से होकर श्री महाराज जी और श्रीमलूकपीठाधीश गुजर रहे थे। गांव के बाहर एक नाई मिला उसने प्रणाम करके श्री महाराज जी से कहा-"महाराज!"

"महाराज!" उसने गाँव के बाहर बने एक पक्के चबूतरे की ओर संकेत करके कहा-"ये हमारे गौण बप्पा हैं आप इनको धोक दो।"

"हाँ" कहकर श्री महाराज जी ने जूते उतारे और दण्डवत प्रणाम करके आगे चल पड़े। कुछ पद आगे चलकर श्रीमलूकपीठाधीश ने कहा-"महाराज जी! उस नाई के कहने से आपने वहाँ प्रणाम क्यों किया? उसके वह गौणबप्पा जाने कौन थे। आप शरीर से ब्राह्मण फिर विरक्त साधु होकर......।"

"पंडितजी! सीय राममय सब जग जानी, करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।" यह पंक्ति तो लोगों को सुनाने के लिये है? हमारे आचरण के लिये थोड़े ही लिखा है तुलसीदास जी ने।"

(2) एक बार मथुरा जंक्शन पर श्रीमहाराज जी बिराजे थे। गन्तव्य-स्थान की गाड़ी आने में अभी विलम्ब था। श्री महाराज जी ने झोले से निकाल कर एक पोस्टकार्ड लिखा और श्री मलूकपीठाधीश को देकर उसे डाक के डिब्बे में डालने का आदेश प्रदान किया।

श्रीमलूकपीठाधीश ने उत्सुकतावश उसे पढ़ लिया। वह पत्र गुजरात के किसी भक्त को लिखा गया था। उसमें लिखा था -"हम इस समय मथुरा जंक्शन पर बैठे हैं। जंक्शन

का अर्थ है-" सभी ओर जाने वाली गाड़ियां जहाँ से मिल जाती हों।" एक तरह से तो यह मानव देह भी जंक्शन ही है। इसी देह से हम किसी भी योनि में जा सकते हैं जैसे भगवत्प्राप्ति करनी हो तो सत्संग की गाड़ी में बैठ जांय। यदि अधोगति में जाना हो तो कुसंग की गाड़ी में बैठ जांय आदि -आदि.....।

(3) चौम (राज.) के किसी गाँव में श्री महाराज जी कथा कहने पधारे थे। मिर्चों के खेतों के बीच संतों का आवास कक्ष था। संतों के उपयोग के लिये कक्ष के एक कोने में हरी मिर्च रख दी गयीं थीं। कथा के सप्ताह काल में वे पक कर लाल हो गयीं। वहां से चलते समय श्री महाराज जी ने बड़ी भावपूर्ण दृष्टि से उन मिर्चों की ओर देखकर साथ में आये परिजन को आदेश दिया-"इन मिर्चों को अपने साथ लेलो। वृंदावन पहुँचकर आपने उन मिर्चों को धोकर अमनियां करके दाल में डाल दीं। संत सेवा के लिये दी गयीं उन मिर्चों का संत सेवा में प्रयोग करके श्रीमहाराज जी को संतोष हुआ।

(4) बक्सर के श्रीसीताराम विवाह महोत्सव की बात है- एक सज्जन आगे बैठने की इच्छा से मंचासीन संतो-सज्जनों को लाँघते आगे बढ़ रहे थे, इसी क्रम में वे श्री महाराज जी को भी लांघ कर आगे निकले। उन सज्जन की यह अशिष्टता श्रीमामाजी महाराज से सही नहीं गयी- वे मंच से नीचे एक ओर खड़े थे। जहाँ खड़े थे वहीं से उन सज्जन को डाँटते हुए श्रीमामाजी महाराज ने कहा-"जिन्हें लाँघ कर आप अभी अभी आगे बढे है, वे कौन हैं यह जानते हैं?" इनके सामने विद्यार्थियों की पंक्ति में बैठने योग्य भी मैं अपने आपको नहीं मानता और आपने इन महापुरुष को लांघकर आगे बढ़ने की धृष्टता की?"

श्रीमहाराज जी तो मानापमान, द्वेष-क्षोभ से सर्वथा परे थे अतः सरल मन-शांत भाव से बोले- "तो क्या हुआ? सबै भूमि गोपाल की, या में खटक कहाँ", आप इनसे कुछ न कहें। कोई भी जहाँ इच्छा हो-कहीं भी बैठ सकता है।"

श्रीमहाराज जी की ऐसी निर्विकार मनस्थिति देख श्रीमामाजी महाराज भाव विह्वल हो बोल उठे- ''कब हौं यह रहनि रहौंगो।''

(5) एक बार सुदामा कुटी के पुस्तकालय में श्रीमहाराज जी ने सेवा सम्बन्धी चर्चा में कहा-''साधु, संत, विद्यार्थी, ब्राह्मण, गरीब, और गाय ये सभी महान्त के इष्टदेव हैं। जहाँ भी सेवा-पूजा होती है बड़ों की ही होती है, छोटों की सेवा-कोई नहीं करता। महान्त जी को जो गृहस्थ सेवक सेवा रूप में राशि अथवा अन्न प्रदान करते हैं वह भी गौ, ब्राह्मण, साधु-गरीब विद्यार्थी और दरिद्र नारायण के लिये ही प्रदान करते है। महान्त को कोई नहीं देता इन्हीं सबके भाग्य से आता है। यदि महान्त यह समझे कि मैं ही इन लोगों का भरण पोषण कर रहा हूँ तो यह उनकी भूल है। इसके संदर्भ में आपने एक जमात के महान्त की कथा सुनायीं-

उन महान्त के मन में आया कि इन संतों को यदि हम न खिलायें तो ये क्या खायेंगे? यह सोचकर वे रात में सबको सोता हुआ छोड़कर चले गये। प्रातः जमात के संत उन्हें न देखकर बड़े चिंतित हुए-ढूँढा भी पर वे नहीं मिले। महान्त जी दोपहर तक चलते ही रहे। एक गाँव मिला वहाँ जाकर माँगने पर एक पाव भर आटा मिला, उसे साफी में बाँधकर जमात में लौटे तो देखा-कढ़ाही चढ़ी है- पकवान बन रहे हैं, जय जयकार हो रही है।

उनकी समझ में आगया-''जमात भगवान का भेष है।''

महान्त जी का अभिमान गल गया उन्होंने कहा-''आप लोगों के भाग्य से हमें मिलता है। आज जमात छोड़कर गये तो हमारे भाग्य में जो पाव भर सूखा आटाा था वही मिला। सब भगवान का दिया हुआ खाते हैं।''

(6) एक बार श्री रामानंद जी महाराज (सूरजकुंड वृन्दावन) श्री महाराज जी के साथ नैमिषारण्य गये वहां बैंदी वाले छोटी छावनी के स्थान पर महान्त परमंहस जी महाराज

थे। दोनों गुरु शिष्य ने वहाँ पहुँच कर उनको दण्डवत् प्रणमा किया। इनके फक्कड़ वेश को देख उन्होंने कहा–"जाओ संत निवास में आसन लगाओ। जाने कहाँ – कहाँ से आजाते हैं। कोल भील सब।"

श्रीरामानंद जी उस समय श्री महाराज जी से भागवत जी का अध्ययन कर रहे थे। इस समय तक तीसरे स्कन्ध तक पढ़ चुके थे। प्रात:काल अब तक पढ़ा हुआ पाठ धारा प्रवाह पढ़ते हुए श्री महाराज जी को सुना रहे थे। श्री परमहंस जी आश्रम में कौन नया साधु आया अथवा गया यह निरीक्षण करने के लिये संत निवास में पधारे। वे वैयाकरणी थे। रामानंद जी को धारा प्रवाह पाठ करते देख परमहंस जी खड़े हो गये। सुनकर चकित भी हुए पूछा–"विद्यार्थी जी! किससे पढ़ते हो?" पाठ रोक कर बगल में ही विराजित मूर्तिमान साधुता के साकेत स्वरूप श्री महाराज जी की ओर संकेत कराते हुए श्री रामानंद जी ने कहा–"महाराज जी के श्रीचरणों में बैठकर अध्ययन करता हूँ।"

परमहंस जी उड़ती नजर से श्री महाराज जी की ओर देखा और आगे बढ़ गये। शायद वे असमञ्जस में हों कि–"ये साधु अथवा पंडित हों ऐसा लगता तो नहीं।" लगता भी कैसे, श्री महाराज जी तो प्रदर्शन से कोसों दूर थे।

रामानंद जी और श्री महाराज जी वहां आश्रम में नित्य उपले थापना, कढ़ाई, लोटा वाल्टी आदि साफ करने जैसी सेवायें करते हुए पन्द्रह दिन रहे।

पन्द्रह दिन बाद महान्त श्री परमहंस जी से आज्ञा ले वहाँ से चल पड़े। अभी आश्रम से पचास साठ पद चले होंगे कि श्री महाराज जी रुक गये और पुस्तकों का बंडल खोला उसमें से श्री भक्तमाल की श्रीभक्तवल्लभा टिप्पणी निकालकर रामानंद जी को देते हुए कहा–"इसे परमहंस जी को देना था, नहीं दे सके जाओ अब दे आओ।" गुरू की आज्ञा पा रामानंद जी ने लौट कर वह ग्रंथ परमहंस जी को देते हुए कहा–"यह ग्रंथ श्री महाराज जी ने आपके लिये भेजा है।"

''अरे यह तो भक्तवल्लभा टिप्पणी'' है। किसने भेजी है? परमहंस जी इसके लिये तो हमने रामवलीदास जी से कहा था कि ''यह ग्रंथ हमें चाहिये, जैसे हो हमें प्राप्त करवायें।''

''श्रीमहाराज जी से'' रामानंद दास जी बोले- श्रीभक्तवल्लभा टिप्पणी कार अनंत श्री विभूषित श्रीगणेशदास जी महाराज ने दी है।''

''क्या यही श्री गणेशदास जी भक्तमाली हैं?'' परमंहस जी चकित भाव से बोले।

रामानंद जी के ''हां'' कहने पर अरे ...... यह क्या हो गया? यह तो बहुत बड़ा अपराध हो गया। इतने दिन तक साधारण साधु की भाँति रह कर सेवा करते रहे। आह... .यही तो संत के लक्षण हैं। अब हम उन्हें इस तरह नहीं जाने देंगे।'' कहते हुए परमंहस जी तेजी से श्री महाराज जी से मिलने के लिये चल पड़े। उधर से श्री महाराज जी भी उनको आते देख आगे बढ़े। परमहंस जी ने लज्जित भाव से उनको न पहचान पाने और सेवा लेने के लिये क्षमा माँगी। श्री महाराज जी ने सहज भाव से उनका समाधान किया कि-सेवा मिली इसीलिये। पन्द्रह दिन रूके रहे अन्यथा.....। साधु का शरीर सेवा और भजन के लिये ही तो है।

परमहंस जी ने रुकने के लिये बहुत आग्रह किया किंतु महाराज जी उनको समझा कर चल पड़े।

(7) एक बार महाराष्ट्र यात्रा करके लौटते समय पूना से जिस ट्रेन में रिजर्वेशन था वह रद्द हो गयी, इसलिये अगली ट्रेन में बहुत भीड़ हो गयी। श्रीमहाराज जी के साथ यात्रा करने वाले संतों और भक्तों ने एक घंटे में बड़ी कोशिश के बाद एक सीट पर कब्जा पाया। उस पर दरी-कम्बल बिछाकर श्रीमहाराज को उस पर लेट जाने का आग्रह किया। ''क्यों

लेट जाऊँ''? यहां का रिजर्वेशन तो है नहीं, वह तो कैंसिल हो चुका है। केवल बैठने का ही तो किराया दिया है सो बैठ गया हूँ।'' श्री महाराज जी ने उत्तर दिया।

''महाराज जी! आपका वृद्ध शरीर है और यात्रा बहुत लम्बी, इतरी देर आप बिराज नहीं सकेंगे- बड़ा कष्ट होगा आप पौढ़ जाँय।''

''क्यों यहाँ केवल हम ही वृद्ध हैं? देखो यहाँ कितने बूढ़े व्यक्ति खड़े हैं, यदि आपका इतना ही दयाभाव है तो सभी को बैठा दीजिये।'' कहकर श्री महाराज जी सीट के एक किनारे सरक कर बैठ गये। भीड़ में से दो चार वृद्ध लोग वहाँ आकर बैठ गये। साथ के लोग-जिन्होंने बड़ी कठिनाई से उस सीट को पा सके थे देखते रह गये, उनके मुख से अनायास ही निकला- ''हमारा परिश्रम तो व्यर्थ हो गया।''

''व्यर्थ नहीं सार्थक हुआ है, देखिये न कितने वृद्ध जनों को विश्राम मिला है यही तो उपासना है'' श्री महाराज जी मुस्करा कर बोले।

हम जैसे लोग तो गाड़ी में बैठने की सीट मिलने पर बैठने की सामर्थ्य होते हुए भी लेटने की सोचने लगते हैं और लेटने पर चाहे जितने रोगी-वृद्ध पंक्ति में खड़ें हों हम आँख मूंद लेते हैं। यदि वे बैठने के लिये थोड़ी जगह देने की बात कहते हैं तो ऐसा प्रदर्शन करते हैं जैसे हम बरसों से बीमार हों। दया परोपकार की बातें करना और बात है।

(8) यात्रा में एक बार श्री महाराज जी जहाँ विराजमान हुए उसके पास वाली सीट पर मैले -गंदे कपड़े पहने, मुख में तम्बाखू भरे एक व्यक्ति बैठा था। उसकी देह और वस्त्रों से दुर्गन्ध आ रही थी। श्री महाराज जी के साथ यात्रा कर रहे सेवक ने उस व्यक्ति को डाँटते हुए वहाँ से उठ जाने को कहा।

श्रीमहाराज जी ने उन्हें रोकते हुए कहा-''इन्हें यहीं बैठे रहने दो। किसी को हेय-तुच्छ मत समझो, प्राणी-मात्र के प्रति सद्भावना और भक्तों के प्रति आत्मीयता और पूज्य भाव रखो।''

(9) बात झांसी जिले के एक गाँव की है। गाँव के बाहर पाठशाला के एक कक्ष में श्री महाराज जी ठहरे थे। रात के समय एक आदमी शराब पिये हुए लड़खड़ाता हुआ आकर सीधे श्रीमहाराज के समीप उनके आसन पर ही बैठ गया।

सेवा में तत्पर संत ने उसे रोकना चाहा तो श्रीमहाराज जी बोले-''इन्हें कुछ मत कहो।''

उस व्यक्ति ने नशे से शिथिल जिह्वा से महाराज जी की कुशल पूछी और थोड़ी देर बैठ कर चला गया।

जिन संत ने शराबी को रोका था उन्होंने कहा-''हमें ऐसे गाँव में नहीं ठहरना चाहिये, जहाँ शराबी लोग रहते हों। आज एक आकर आपके आसन पर बैठ गया कल......।

यह व्यक्ति शराब पिये हुए था-यही हमें समझ में नहीं आया। हमें तो यही लगा कि कोई बहुत प्रेमी व्यक्ति था। प्रेमाधिक्य में मर्यादा विस्मृत हो ही जाती है। देखा नहीं आपने; कितने प्रेम से पास बैठकर हमारी कुशलक्षेम पूछ रहा था? ऊपर आसन पर बैठ गया तो क्या हो गया? मक्खी मच्छर भी तो अपवित्र स्थान पर बैठकर फिर हमारे तुम्हारे ऊपर बैठ जाते हैं, यह तो फिर भी मनुष्य था। गुण भगवान के है अत: नित्य हैं, दोष माया कृत होने से अनित्य हैं। सबमें भगवान को देखो, यही सम्यक् दृष्टि है। ऊपर नीचे में क्या और कितने भेद हैं? आखीर तो सबका आधार पृथ्वी ही है। यह ऊपर बैठा है और वह नीचे बैठा है यह सब मात्र मन-बुद्धि का कल्पना विलास है। और कुछ नहीं।''

(10) श्रीलक्ष्मण मंदिर गोवर्धन में श्रीमहाराज जी हाथ चक्की से गेहूँ पीस रहे थे। चक्की के दोनों ओर डलिया में गेहूँ रखे थे। श्रीमहाराज जी कभी दायीं ओर की डलिया से और कभी बायीं ओर की डलिया में से गेहूँ चक्की में डालते जा रहे थे। ''ऐसा क्यों?'' किसी के पूछने पर श्रीमहाराज जी ने बताया-

''एक डलिया में बाजार से लाया गया गेहूँ है और एक में व्रजवासी के घर का गेहूं है। बाजार के गेहूं से ब्रजवासी के घर का गेहूं सात्विक और श्रेष्ठ है इसलिये दोनों को मिला कर पीस रहा हूँ।''

(11) जिसे संसारी लोग व्यर्थ–अनुपयोगी समझ कर त्याग देते ऐसे व्यक्ति का भी श्रीमहाराज जी सब प्रकार से निर्वाह करते। जिनको कहीं ठिकाना नहीं होता वे श्रीमहाराज जी के पास चले आते।

रामजीलाल ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्हें किसी काम का न समझ करके सबने त्याग दिया था। श्रीमहाराज जी के सम्पर्क आने के दिन से लेकर अंत तक आपने जैसा व्यवहार निर्वहण किया उसकी बड़ी लम्बी कथा है। श्री महाराज जी ने उनका अंतिम संस्कार भी किया। साधारण लोगों के बस की बात नहीं है यह सब।

(12) जब कभी महाराज जी बाहर यात्रा से मथुरा लौटते तो स्टेशन आन से पूर्व ही ''श्री मधुपुरी यमुनाभ्यां नमः'' का जप सा करने लगते। गाड़ी से मथुरा स्टेशन पर उतर कर साष्टांग दण्डवत करके इस श्लोक का उच्चारण करते–

अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
बिना कृष्णप्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति।।

(13) ''जहाँ स्वाभाविक रूप से गायें आकर बैठतीं हों या फिर जहां बच्चे आकर खेलते हों वह स्थान पवित्र होता है।''

''बच्चों के समूह में किसी एक के रूप में वहां बालकृष्ण अवस्य उपस्थित होते हैं।''

श्रीमहाराज जी सत्संग के समय वहाँ खेलते हुए बच्चों को खेल से नहीं रोते थे। श्रोताओं से कहते–''आप लोग कथा में मन लगाइये, बच्चों को खेल से मत रोकिये।''

(14) एक साधक ने श्री महाराज जी को प्रणाम करके पूछा- ''महाराजजी! आपने हमें पहचाना?''

''अरे भाई! व्यक्ति को पहचानना ब्रह्म को पहचानना है'' श्रीमहाराज जी ने उत्तर दिया।

(15) श्रीमहाराज जी का कहना था-''श्रीराधाकृष्ण के चरण-कमलों को मकरन्द व्रज रज में मिला हुआ है।'' एक बार किसी भक्त ने एक भ्रमर को रज में बैठा देखा- उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि पुष्प पर मकरन्द के लोभ से बैठने वाला रज में बैठा है तो अवश्य ही कोई विशेषता होगी। उसने रज को हाथ में लेकर सूंघा तो ज्ञात हुआ कि उसमें कमल-गंध आ रही है। वह समझ गया कि यह श्रीराधाकृष्ण के चरण रूपी कमलों की सुगन्ध है। श्रीमहाराज जी का कहना था कि-''श्रीराधाकृष्ण चरण कमल-मकरन्द अक्षय है अत: रज में भी उसका अस्तीत्व बना ही रहता है। उस मकरन्द को सूंघ कर प्रेमी भक्त उन्मत्त हो गये।''

(16) एक बार श्री महाराज जी शुकताल पधारे, जहाँ श्रीशुकदेव जी महाराज ने राजा परिक्षित को भागवत सुनायी थी। श्रीसुदर्शन सिंह जी ''चक्र'' द्वारा स्थापित श्री हनुमत् धाम में आपका निवास था। वहाँ गंगा किनारे नक्षत्र-वाटिका है जहाँ विभिन्न ग्रहों की शांति के लिये पूजित होने वाले अनेक वृक्ष विराजमान हैं।

श्रीमहाराज जी जब नक्षत्र वाटिका में पधारे तो प्रत्येक वृक्ष के निकट जाकर उसे स्पर्श करते बाहों में भरकर मिलते हुए'' श्रीराम जय राम जय जय राम'' का उच्चारण करते, जैसे कि संतों में परम्परा है, आपस मे मिलकर भगवन्नाम उच्चारण करने की। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक वृक्ष से मिलकर श्रीमहाराज जी भगवन्नाम उच्चारण कर रहे थे। समीप उपस्थित सेवक ने इस विषय में जिज्ञासा की तो स्नेहभरी दृष्टि से उसकी ओर निहार

मुस्कराते हुए भाव भरे स्वर में बोले–''अरे इतना भी नहीं जानते, सजातियों से ऐसे ही मिला जाता है।'' श्रीमहाराज जी के इस एक वाक्य में आध्यात्म के अनेक तथ्य समाहित थे।

संतों के लक्षणों का व्यवहारिक दर्शन और साधक–संतों के लिये श्रेय–पथ मार्गदर्शन–प्रकाश – स्तम्भ भी निहित है।

इसके पश्चात् श्रीमहाराज जी ने मानस की इस अर्धाली द्वारा अपने कथन और व्यवहार की स्पष्ट व्याख्या करदी–

संत विटप सरिता गिरि धरनी।
परहित हेतु सबन्हि के करनी।।

(17) एक अनुगत शिष्य ने श्रीमहाराज जी के समीप आकर प्रणिपात किया। उस समय श्रीमहाराज जी के वस्त्रों और श्री अंग से अत्यन्त सुगन्ध आ रही थी।

शिष्य ने पूछा–''महाराज जी! आज आपने कोई इत्र लगाया है?''

''नहीं, कोई इत्र नहीं लगाया है।'' श्रीमहाराज जी ने कहा, फिर कुछ ठहर कर बोले–''विभिन्न उत्सव चलते रहते हैं। उन्हीं की यह सुगन्ध है।''

इस वाक्य से मानो उन्होंने अपनी अन्त:स्थिति का कृपा करके परिचय दिया है।

श्री ठाकुर जी के लीला–राज्य में निरन्तर चलने वाले उत्सवों में श्री महाराज की उपस्थिति और उन उत्सवों में व्याप्त सुगंध का आभास इस वाक्य द्वारा होता है।

(18) एक बार कथा व्यास गिरधर गोपाल जी शास्त्री ने श्रीमहाराज जी से पूछा–''अवैष्णव को श्रीमद्भागवत कथा सुनाना निषिद्ध है। इसकी सावधानी कैसे रखी जाय? श्रोताओं में अवैष्णव भी होते ही होंगे, उन्हें कैसे पृथक किया जा सकता है? अवैष्णव कोई नहीं हैं, सभी वैष्णव हैं। जो कंठी तिलकधारी हैं वे प्रत्यक्ष वैष्णव हैं और जिन्होंने ये चिन्ह धारण नहीं किये हैं वे अंतर्निष्ठ वैष्णव समझना चाहिये।''

अंतर्निष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी।''

(19) श्रीमहाराज जी अपनी जन्मतिथी आदि किसी को बताते नहीं थे। बहुत प्रकार से कई लोगों के प्रयास करने पर ज्ञात हुआ कि महाराज जी की जन्मतिथि पौष शुक्ल षष्ठी है।

श्रीमहाराज जी को बताये बिना श्रद्धालु शिष्यों-भक्तों ने जन्मोत्सव मनाने का निश्चय किया। श्रीमहाराज जी का पूजन और भण्डारे का कार्यक्रम रखा गया।

स्वस्तिवाचनपूर्वक श्रीमहाराज जी का पूजन हो रहा था। श्रीमहाराज जी ने पूछा-''आज कौन सा विशेष उत्सव है कि जिसके उपलक्ष्य में यह सब हो रहा है।''

''महाराज जी! आज आपका जन्मदिन है इसी उपलक्ष्य में उत्सव मनाया जा रहा है।'' पंडित नेत्रपाल जी ने कहा।

''अब सचमुच कलियुग आगया, मुझ जैसे अपूज्य का भी लोग पूजन कर रहे हैं। मैं सोचा करता था कि देश में दुर्भिक्ष, हिंसादि अप्रिय घटनायें क्यों हो रही हैं। इसका उत्तर आज मिल गया, जहां अपूज्य की पूजा होती है और पूज्यजनों की अवहेलना होती है वहाँ अकाल, मरण और भय अवश्य होते हैं।''

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्य पूजा व्यतिक्रम।
त्रिणि तत्र भवन्तेव दुर्भिक्षं मरणं भयम्।।

इतना कहते कहते श्री महाराज जी के नेत्रों से अश्रुधारा झरने लगी।

आज सम्मान पाने के लिये मनुष्य बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। संसार की सारी दौड़ भाग के पीछे एक ही तो उद्देश्य काम कर रहा है-''लोग मुझे जानें,'' ''मेरा सम्मान हो'', ''मेरी प्रशंसा हो'', ''मैं भी कुछ हूँ'', ''मैं श्रेष्ठ हूँ'', ''मैं महत्वपूर्ण

हूं'' सब अपने को ही तो स्थापित करना चाहते हैं, दूसरों के मिस भी अपने को ही महत्व देते हैं। घर, संतान और धन तो बहुत लोग छोड़ देते हैं पर सम्मान-यश....... ? ऐसे अमानी, निरपेक्ष तो निरपेक्ष तो कोई विरले संत महापुरुष ही होते हैं। श्रीमहाराज जी ऐसे ही अमानी-अनपेक्ष महापुरुष थे।

(20) एक उत्सव में महाराज जी पन्ना पधारे। साथ में श्रीमामा जी महाराज, गोरेदाऊ के महान्त श्रीहरिदास जी महाराज के अतिरिक्त आठ दस संत और भी थे। उत्सव में जगद्‌गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री शान्तानंद जी महाराज भी पधारे थे। सभी संतों को जगद्‌गुरु की गाड़ी में बैठकर कहीं जाना था। श्री महाराज जी समय पर आकर गाड़ी में बैठ गये। श्रीमहाराज जी हमेशा साधारण और सादा वेश में रहते थे। गाड़ी का ड्राइवर इन्हें देखकर बोला-''इसमें कैसे बैठ गये ? जानते नहीं, यह जगद्‌गुरु की गाड़ी है, चलो नीचे उतरो।''

बिना कुछ बोले श्रीमहाराज जी सहज ही नीचे उतर कर खड़े हो गये। कुछ देर बाद सब संतों के साथ जगद्‌गुरु श्रीशान्तानंद जी महाराज पधारे और नीचे एक आरे खड़ा देखकर आपको सम्मान पूर्वक गाड़ी में बिठाया। श्री महाराज जी जैसे गाड़ी से उतरे थे वैसे ही सहज भाव से गाड़ी में बैठ गये।

(21) वृन्दावन में गोपेश्वर महादेव क्षेत्र में अरूणदेव हनुमान जी के पास श्री महाराज जी पैदल जा रहे थे। उनके पास काफी वजनदार दो थैले थे। एक रिक्शा उनके पास होकर चढ़ाई की ओर जा रहा था। रिक्शे वाला जोर लगाकर भी रिक्शे को चढ़ाई पर चढ़ा नहीं पा रहा था अतः वह उतरने लगा। यह देख श्री महाराज जी बोले ''उतरो मत'' आपने दौड़ कर उस रिक्शे को धक्का देकर चढ़ाई चढ़ा दिया। स्वयं भारयुक्त होते हुए भी दूसरे की सहायता करना- कितने लोग कर पाते हैं ऐसा ?

(22) रेल द्वारा जयपुर से मथुरा आ रहे थे श्रीमहाराज जी, गर्मी का समय था और भीड़ भी कम नहीं थी। श्रीमहाराज के ही डिब्बे में अपने कई बच्चों के साथ एक मुसलमान महिला भी यात्रा कर रही थी। बच्चों को प्यास लगी थी वह महिला एक स्टेशन पर पानी लेने उतरने लगी कि गाड़ी चल पड़ी। ''वासुदेवः सर्वम्'' का सिद्धान्त जिसके जीवन में घुल चुका हो उसे कोई गैर दिखेगा ही कैसे? श्रीमहाराज जी ने अपने पास रखा हुआ जल उन बच्चों को पिला दिया और स्वयं पूरी यात्रा में प्यासे ही रहे।

(23) एक प्रकाशन-प्रेस का स्वामी मुसलमान था। श्री महाराज जी का संपर्क प्रकाशन करने वाले लोगों से ग्रंथों के प्रकाशन हेतु बना ही रहता था। वह प्रेस का मालिक अक्सर श्री महाराज जी के पास आया करता था। श्री महाराज जी के कोमल स्वभाव एवं शील के कारण वह कुछ अधिक ही खुलेपन का व्यवहार करता यहाँ तक कि वह श्री महाराज जी के आसन पर बिल्कुल उनके समीप ही बैठ जाता। सभी संतों भक्तों को उसका व्यवहार अच्छा नहीं लगता किंतु क्या करते श्री महाराज जी तो उससे बड़ी अत्मीयता का व्यवहार करते।

एक दिन उसकी अनुपस्थिति में उसकी गलत उठ बैठ के विषय में श्रीमहाराज जी से निवदेन किया गया, किंतु श्रीमहाराज जी तो ''गंगा का नीर''- बड़े सहज स्वर में बोले-''कहो तो, वह किस बात में कम है? श्रीवृन्दावन धाम में रहता है, सारे दिन राधे राधे कहता है, अब बताओं वह किस बात में कम है?''

(24) श्रीरामानंद पुस्तकालय परिसर श्रीमहाराज जी के सानिध्य में कई संत-विद्यार्थी रहते थे। श्रीमहाराज जी के यात्रा पर चले जाने पर उनकी अनुपस्थिति में एक संत स्वभाव-वश ही कुछ ऐसा व्यवहार करते कि औरों को आपत्ति जनक लगता।

एक बार श्री महाराज जी को यात्रा से लौटने पर किसी ने उनकी शिकायत की कि वे संत इस प्रकार अनुचित व्यवहार करते है। आखिर कितना सहें हम लोग? सहनशक्ति की भी तो सीमा होती है।''

श्री महाराज जी ने सुनकर सहज शांत स्वर में कहा-''उपासना करते हो, किंतु उपासना करना आता नहीं? अरे भाई! सहनशक्ति की भी कोई सीमा होती है?''

यह एक वाक्य उनके हृदय की अतल गहराई और असीम सहनशीलता का परिचय देता है।

(25) श्री महाराज जी राजस्थान यात्रा से लौटकर मथुरा पहुंचे और यहाँ से सुदामाकुटी वृन्दावन पहुँचने के लिये तांगा बीस रूपये में किराये पर तय करके चले। तांगे वाले ने बिड़ला मंदिर से थोड़ा आगे आकर तांगा रोक कर बोला- ''वृन्दावन आ गया उतरो और पैसा लाओ, तांगा इससे आगे नहीं जायेगा।''

''भैया! हम वृन्दावन के ही रहने वाले हैं। हमें पता है कि वृन्दावन में सुदामाकुटी कहां है। यात्रियों से इस प्रकार छल करना अच्छी बात नहीं है।'' श्री महाराज जी ने तांगे से उतर कर तांगे वाले से कहा।

''बाबा! बातें मत बनाओ, भाड़ा दो।'' तांगे वाले ने गुस्से से कहा।

श्री महाराज जी ने अत्यन्त सहजता और स्नेह पूर्वक उसे समझा कर अपने पास से दस हजार रूपये निकाल कर उसे देते हुए कहा-''लो ये दस हजार रुपये, धन के लोभ से ही तो झूठ बोलकर यात्रियों को ठग रहे हो। आप प्रसन्नता से इन रुपयों को ले लीजिये। हमें इन रुपयों से सेवा ही कररनी है, कहीं भी करें। आपसे एक ही प्रार्थना है कि किसी और यात्री से आप फिर ऐसा व्यवहार न करें।''

दस हजार रूपये हाथ में लेते हुए तांगे वाले का हृदयं कांप उठा। श्रीमहाराज जी का क्रोध रहित व्यवहार और असीम उदारता देख उसका हृदय पानी – पानी हो गया उसने रुपये श्रीमहाराजजी को लौटाते हुए कहा–''बाबा! मुझे माफ करो अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा।''

उसी तांगे में बैठकर श्रीमहाराज जी सुदामा कुटी आये और तांगे वाले को सौ रूपया भाड़ा दिया।

(26) कोई उनकी निंदा करता है, यह ज्ञात होने पर श्री महाराज जी उस व्यक्ति की विशेष सेवा करते। भोजन, वस्त्र हाथ खर्च आदि सुविधायें पहले से अधिक बढ़ा देते। कोई कहता है महाराज जी आप उस व्यक्ति का इतना ध्यान रखते हैं। और वह जहाँ तहाँ आपकी निन्दा करते घूमता है।''

''जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं वे सत्यभाषण नहीं कर रहे, सत्य तो वहीं व्यक्ति बोल रहा है'' श्री महाराज जी उत्तर देते। कबीरदास जी की यह उक्ति श्रीमहाराज जी के रूप में साकार हो उठती थी– निंदक नियरे राखिये......

(27) सम्भवत: पुरूषोत्तम मास था। गाँव में महिलायें अधिकमास अथवा पर्व पर सवेरे सवेरे नदी–तालाब में स्नान कर मंदिरों में पूजा करने जाती हैं। ऐसे ही समय में श्री श्री महाराज जी जिस गाँव में निवास कर रहे थे वहाँ के तालाब में स्नान कर, तिलक स्वरूप करके नियम करने की तैयारी में थे कि कई महिलायें श्रीमहाराज जी को विराजे देखकर एक साथ बिना ही किसी क्रम के इकट्टी होकर पूजन करने लगीं। उनकी थालियों में जो रोली, चन्दन, चावल, हल्दी आदि पूजन सामग्री थी वह घुलमिल कर एक हो चुकी थी। उसी को वे श्रीमहाराज जी के तिलक–ललाट मुख पर बिना ही क्रम के लगा रहीं थी और श्रीमहाराज जी चुपचाप शांत भाव से पूजा स्वीकार कर रहे थे।

श्रीमलूकपीठ वाले महाराज जी साथ थे- उन्होंने उन महिलाओं से कुछ कहने का प्रयास किया तो श्रीमहाराज जी बोले ''पंडित जी! आप अपना कार्य करते रहें किसी को टोकाटोकी न करें।''

मुख को लेपा लेपी कर, तिलक बिगाड़ कर वे महिलायें चली गयीं तब श्री महाराज जी ने अपने सुयोग्य शिष्य से कहा-''पंडित जी! इस पाञ्चभौतिक देह में पूजा के योग्य भला क्या है? सनातन धर्म में मूर्ति पूजा होती है, पूजन के समय क्या मूर्ति बोलती है कि रोली ऐसे लगाओ, चन्दन यहाँ नहीं यहाँ लगाओ अथवा यह लगाओ और यह मत लगाओ? इसी तरह हमें भी पूजन के समय मूर्ति के समान चुप होकर बैठना चाहिये। माताओं ने भाल-तिलक आदि आलेपित कर दिया तो क्या हुआ? मुँह धोकर तिलक फिर लगा लेंगे।''

श्री महाराज जी साबुन तैल तो लगाते नही थे। मुख धोने पर भी उन माताओं द्वारा लगाये गये हल्दी चंदन का रंग कई दिनों तक बना रहा, गया नहीं।

(28) किसी गाँव के गरीब दर्जी ने श्रीमहाराज जी को कपड़े की एक बनियान सिलकर भेंट की। कई महिनों तक आप उसे पहनते रहे। अंत में पुरानी होकर फट गयी। एक बार फिर उसी गांव में जाने का अवसर आया तब आपने सेवा करने वाले से कहा-'' वह बनियान लाओ, उसे पहनेंगे।''

''महाराज जी! वह तो फट चुकी है।''

''ले आओ, उसे ही पहनेंगे। वह दर्जी देखेगा तो उसका मन प्रसन्न होगा।'' ऐसा गरीबनिवाज संत और भगवन्त के अतिरिक्त दूसरा कौन होगा?

(29) गाँवों से कुछ लोग श्री महाराज जी के दर्शन करने श्री वृन्दावन आये। उन भक्तों में एक चमार भी था। वृन्दावन में आने के बाद उसे मलेरिया हो गया। श्रीमहाराज जी

ने केवल उसकी सेवा ही नहीं की, अपने औढ़ने के कम्बल भी उसे उढ़ा दिये। वर्णाश्रम के आग्रही कुछ लोगों को श्रीमहाराज जी का यह काम अच्छा नहीं लगा, किंतु ''वासुदेव सर्वम्'' के भाव से भावित और दीनबन्धु श्री महाराज जी द्वारा किसी दीन की उपेक्षा कैसे संभव होती ?

(30) श्रीमहाराज जी बाहर कहीं कथा कहकर पधारे थे, सुदामाकुटी आश्रम में पधारते ही उन्हें दुर्गन्ध का आभास हुआ ''यह दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है ?'' आपने एक संत से पूछा।

''महाराज जी ! भंडार घर और पंगतघर की नाली कई दिनों से सफाई न होने के कारण सड़ गयी है। उस नाली में कीड़े पड़ जाने के कारण दुर्गन्ध बहुत बढ़ गयी है।'' उन संत ने निवेदन किया।

''मैं स्नानादि नित्यक्रिया करने जा रहा हूँ।'' कहकर हाथ का झोला रखा और नीचे उतर गये।

नीचे आकर उस दुर्गन्ध की खान सी नाली को अपने हाथों से साफ करने लगे। नाली बड़ी होने से देर भी बहुत लगी। भावी श्रीमलूकपीठ वाले महाराजजी उस समय विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। जब बहुत देर तक श्रीमहाराज जी स्नान करके नहीं लौटे तो उन्हें चिंता हुई, छत पर से नीचे की ओर देखा तो श्रीमहाराज जी स्वयं अपने हाथों से नाली का दुर्गान्धित कीचड़ निकाल कर फेंक रहे हैं। नीचे आकर संकोचपूर्वक निवेदन किया–''महाराज जी आप स्नान करलें, नाली मैं साफ कर दूँगा।''

''पंडितजी ! यदि आपको नाली साफ करनी होती तो पहले ही कर देते, जाओ अपना काम करो।'' श्री महाराज जी ने कहा। श्रीमलूकपीठाधीश लज्जा संकोचवश वही

खड़े रहे तब श्रीमहाराज जी बोले–''आप क्या समझते हैं–मैं नाली का कीचड़ साफ कर रह हूँ? नहीं, मैं अपने भीतर का कचरा बाहर फेंक रहा हूँ।''

(31) श्रीमहाराज जी बक्सर की श्रीसीताराम विवाह महोत्सव समिति के आजीवन संरक्षक रहे। यह उत्सव शीतकालीन होता है। अस्वस्थता और वृद्धावस्था के कारण श्री महाराज जी से प्रार्थना की गयी कि– अबकी बार बक्सर यात्रा स्थगित कर दी जाय।

''मैं समिति के संरक्षक पद पर हूँ, उत्सव में नहीं पहुँचने पर श्रीठाकुर जी के सामने झूठा सिद्ध हो जाऊँगा।'' किसी दायित्व को लेकर उसका निर्वाह न करना आपके स्वभाव में नहीं था। दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् वे अपने आपको ठाकुर जी के प्रति उत्तरदायी मानते थे।

(32) मुझे कोई गाली देता है तो मैं बहुत क्रोधित हो उठता हूँ। क्रोध के आवेश में मुझे कुछ भी ध्यान नहीं रहता– क्या करूँ। एक शिष्य ने श्रीमहाराज जी से पूछा।

''इस क्रोध के मूल में आपका अज्ञान है, क्योंकि इन गालियों में सत्य का लेश भी नहीं रहता है। माँ–बहिन अपने स्थान पर सुरक्षित हैं वे उसके कथन से तनिक भी प्रभावित नहीं होतीं। ऐसी असंभव और झूठी बात सुनकर तो हंसी आ जानी चाहिये– क्रोध क्यो आये? जैसे कोई गाँव में आकर कहे–''मैं अभी अभी हवाई जहाज से उतर कर आ रहा हूँ'' तो उसकी बात पर लोगों को हंसी आयेगी अथवा क्रोध? श्रीमहाराज जी ने उत्तर दिया।

(33) सुदामाकुटी के अपने कक्ष में श्रीमहाराज जी विराजित थे। सुदामाकुटी के ही एक साधु ने आकर व्यग्रतापूर्वक आपसे कहा–''महाराज जी! मेरे दो सौ रुपये किसी ने लिये हैं।''

उनकी बात सुनकर श्रीमहाराज जी ने अपने डिब्बे से निकाल कर दो सौ रूपये उन्हें दे दिये। पास में मौजूद शिष्य ने कहा–''आपेन उन्हें दो सौ रूपये क्यों दे दिये?''

''संत जी की समस्या का भला मैं और क्या उपाय कर सकता था'' श्रीमहाराज जी ने सहज भाव से कहा।

(34) भागवत की कथा करके श्रीमहाराज जी रिक्शे द्वारा आश्रम लौट रहे थे। रिक्शे वाले वाला कुछ अधिक पैसे पा लेने के लिये कह रहा था-''क्या करूँ महाराज जी! गरीब आदमी हूँ, रिक्शा चलाकर परिवार पालता हूँ और से लड़की की शादी भी करनी है'' आदि-आदि।

आश्रम पर आकर उतरते ही अपने पास का समस्त सामान ओर दो तीन हजार रूपये रिक्श वाले को दे दिया। वह लेने से मना कर रहा था पर श्रीमहाराज जी ने कहा- ले लो, तुम्हारी बेटी की शादी है, मेरा तो कुछ खर्च है नहीं।'' सारा सामान हठ पूर्वक उसे देकर कक्ष में पहुँचे तो विद्यार्थियों ने पूछा-''महाराज जी! सामान कहाँ है? ''सही स्थान पर सुरक्षित पहुँच गया है।'' श्री महाराज जी का उत्तर था।

(35) नेपाल के एक किशोर विद्यार्थी को श्री महाराज जी सभी प्रकार से सहयोग दिया करते थे। वह वृन्दावन में कहीं दूसरी जगह रहता था। वह अक्सर बीमार ही रहता था। श्रीमहाराज जी उसकी चिकित्सा भी करवाते फिर भी वह बीमार ही रहता कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था।

एक दिन उसने बताया कि -''मेरे पिता पर्वत से गिर कर मर गये थे, मुझे कभी-कभी स्वप्न में दिखायी देते हैं।'' परम करुणामय श्रीमहाराज जी ने उस विद्यार्थी के पिता को प्रेत योनि से मुक्त करने के लिये ब्राह्मणों से श्रीमद्भागवत पाठ अपनी ओर से करवाया। सविधि दक्षिणा देकर ब्राह्मण भोजन सम्पन्न हुआ। इसके बाद वह विद्यार्थी पूरी तरह से स्वस्थ हो गया।

ऐसा सर्वथा अहैतु हितकारी प्रभु अथवा उनके प्यारे लाड़ले संत महापुरुषों के सिवाय और कौन होगा।

उपदेश (1) ''दूसरे को सुख पहुँचा कर स्वयं सुख का अनुभव करना यही प्रेम का लक्षण है।'' श्रीमहाराज जी किसी अर्थ लोलुप व्यक्ति से व्यवहार में आने पर उसके दोष-दर्शन करने अथवा विरोध करने के बदले खुशी-खुशी अर्थ-सहायता पहुँचा कर स्वयं सुखी होते। यदि कोई जिह्वालोलुप श्रीमहाराज जी के सम्पर्क में आता तो भांति-भांति के स्वादिष्ट व्यंजन जुटाकर उसे पाते देख प्रसन्न होते।

(2) श्रीमहाराज जी कहना था-'' जो हमें साधु मानता है, हम उसे साधु मानते हैं।''

अपने स्वाभाविक दैन्य के कारण श्रीमहाराज जी अपने को न साधु मानते न ही सम्मानित, अतः उनके कहने का तात्पर्य होता- जो मुझे जैसे व्यक्ति को साधु मानता है- उसकी दृष्टि में सभी साधु हैं। वह निर्मल दृष्टि वाला व्यक्ति स्वयं ही साधु है तभी मुझे साधु मानता है।

(3) एक स्थान पर श्रीमहाराज जी को विराजने के लिये कुर्सी प्रस्तुत की गयी। आप उस पर नहीं विराजे बोले-''कुर्सी तो हमने बचपन में ही छोड़ दी थी।''

श्रीमहाराज जी का जन्म सीतापुर जिले के कुर्सी गाँव में हुआ था।

(4) साम्प्रदायिक दुराग्रह से हृदय में विराजमान भक्ति-शांति नष्ट हो जाती है।

(5) जब तक व्यवहार और परमार्थ में भेद है तब तक वास्तविक परमार्थ प्रकट नहीं होता।

(6) धैर्य में समस्त समस्याओं का समाधान छिपा है।

(7) विद्या अध्ययन से नहीं उपासना से फूलती फलती है।

(8) जीवन में आये उपद्रव, विपत्ति और दुःख केवल सर्वनाश की ही नहीं नव

सृजन की सूचना भी देते हैं। दु:ख और विपत्ति की आंधी मन को धो पोंछ कर साफ कर देती है।

(9) पतिव्रता की भांति अंतरंग स्वीकृति ही भजन है।

(10) श्रद्धा के अभाव में ही गन्तव्य दूर लगता है वह वास्तव में दूर है नहीं।

(11) दैन्य से परिपूर्ण हृदय में मात्सर्य दोष रहेगा ही नहीं।

(12) सम्पूर्ण साधनों का फल श्री भक्तमाल कथा है।

(13) उपास्य में दोष दिखाई न दें- यही भक्ति का स्वरूप - लक्षण है।

(14) ईमानदारी और निश्छल मन से महापुरुषों का संग करने से आत्मचिंतन की दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

(15) दण्डविधान अपने हाथ में मत लो। यह ईश्वर का काम है। निग्रह-अनुग्रह करने में श्री हरी ही सामर्थ हैं। यह कार्य हमें नहीं सौंपा गया है। स्वयं अजातशत्रु होकर भगवन्नाम का आश्रय लो।

(16) जो बड़ों की आज्ञा नहीं मानते उन्हें बाद में अपने से छोटो की आज्ञा के आधीन रहना पड़ता है।

(17) सत्संग और भगवन्नाम से सब दोष दूर हो जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ साधन है- भगवन्नाम; इससे अधिक सरल, सुलभ, सुगम साधन दूसरा नहीं है। इसमें सभी प्राणियों का अधिकार है।

नाम हृदय में बस जाय-जीभी पर डेरा बना ले, यह नाम और नामी की अनुकम्पा है। नाम प्रेम नियम-साधन को दृढ़ करता है।'' भक्त भक्ति भगवन्त गुरु'' इन चारों में भक्त ही श्रेष्ठ है और ''नाम, रूप, लीला धाम'' इन चारों में नाम ही श्रेष्ठ है। उपासना चारों

की एक साथ की जाती है। क्योंकि चारों एक दूसरे पर आश्रित हैं। प्रभु ने करूणा करके ''भक्त'' और ''नाम'' को श्रेष्ठता प्रदान की है। केवल श्रेष्ठता ही नहीं सुलभता भी प्रदान की है। इतने पर भी मनुष्य यदि इनका आश्रय न ले तो अपना दुर्भाग्य ही है।

(18) पवित्र ह्रदय से किया गया थोड़ा सा भजन साधन भी भगवान को प्रसन्न कर देता है।

(19) जो स्वयं सदा प्रसन्न रह कर सबको प्रसन्न करता है उससे भगवान भी प्रसन्न रहते हैं और वही भगवान का भक्त है।

(20) सारे व्यवहार, सारे साधन आराध्य की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही करने चाहिये।

(21) प्रत्येक परिस्थिति में सुख का अनुभव करने वाला ही सदा सुखी है।

(22) आचार्य महापुरूषों के उत्सव का प्रसाद ग्रहण करने से चित्त की शुद्धि होती है और चित्तशुद्धि से भजन शुद्धि होती है। किसी वैष्णव के यहाँ जाने पर उससे माँग कर प्रसाद लेना चाहिये। यदि ऐसा संभव न हो तो उसके यहाँ का जल ही माँग कर पी लेना चाहिये। यह भी संभव न हो तो उनके निवास की रज ही मस्तक पर लगा लेना चाहिये, इससे भजन में वृद्धि होती है।

(23) वृन्दावन में रहकर साधन भजन बने तो बहुत अच्छा है, नहीं तो यहाँ की रज में पड़े रहो। इतने मात्र से बात बन जायेगी।

(24) आचार्य परम्परा से नाम-रूप-लीला-धाम का आस्वादन और किसी धाम निष्ठ संत के चरणों में प्रीति यहीं वृन्दावन वास की मुख्य विधि है।

(25) श्रीधाम वृन्दावन का नाम लेकर, ध्यान करके जो शरीर का त्याग करता है वह गोलोक धाम को प्राप्त करता है। यदि वृन्दावन में देहत्याग करे तो-फिर उसके सम्बन्ध में तो कहना क्या, वह तो अवश्य श्रीधाम का वासी बनता है।

(26) विद्या, बुद्धि और विवेक से भी विश्वास का स्थान ऊंचा है।

(27) सिद्ध वहीं है जो अंत तक साधक की रहनी से रहे, अपने को साधक ही समझे।

(28) अज्ञान के साथ जोड़ा हुआ विश्वास वास्तविक विश्वास नहीं है।

(29) हृदय में प्रेम और सद्‌भाव रखकर जो सबके साथ सज्जनता का व्यवहार करता है उससे जनता और भगवान का प्रेम प्राप्त होता है। दूसरों से शत्रुता और द्वेष का भाव बढ़ा लेने से स्वयं अपना हृदय दूषित कलुषित तो होता ही है मनुष्य अपने लिये नये-नये शत्रु भी तैयार कर लेता है। जिसके हृदय में प्रेम स्वरूप श्री हरि विराजमान हो जाते हैं उसे कोई शत्रु दिखाई ही नहीं पड़ता। यदि कोई शत्रुता का व्यवहार करता भी है तो उसके व्यवहार को वह अपना प्रारब्ध-कर्म भोग मानकर बदले में प्रेमपूर्ण व्यवहार ही करता है- यही तो संत का लक्षण है।

(30) जो अपने को सबसे छोटा मान कर सेवा करता है वह सबसे अधिक वंदनीय है।

(31) जो सबकी मंगल कामना करते हैं उन्हें दु:ख नहीं होता।

(32) जो लोग निषिद्ध कर्म के साथ अपने विश्वास को जोड़ते हैं वे विश्वास का दुरुपयोग करते हैं।

(33) "संशयात्मा विनश्यति" समाधान में जीयो।

(34) सामान्य लोगों के प्रति प्रेम करना यह तो सहज सामान्य बात है पर शत्रु के प्रति भी प्रेम करना यही "अजातशत्रुता" है।

(35) मीन भगवान बड़े से बड़े हो गये पर उनकी भाषा नहीं बदली। वे अपने लिये विस्तृत स्थान और रक्षा की माँग करते ही रहे। इसी प्रकार भक्त यदि बड़ा भी हो जाय-

सिद्ध हो जाय तब भी उसे दैन्य का त्याग नहीं करना चाहिये, बड़े से बड़े स्थान की याचना करते रहना चाहिये।

(36) दूसरों पर कृपा करना अच्छा है पर पहले अपने पर कृपा करनी चाहिये। अपनेको कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर ले जाना ही अपने पर कृपा करना है।

(37) सत्संग से भगवान के नाम-रूप की महिमा का ज्ञान होता है। भगवान में विश्वास दृढ़ होता है, मन में शांति का उदय होता है, इसी में जीवन की सफलता है। इसलिये नित्य ही नियम पूर्वक सत्संग करना चाहिये।

(38) सज्जनों के प्रति प्रेम, ईश्वर के प्रति प्रेम है। क्योंकि माता, पिता, संत, गाय और ब्राह्मण ये सब ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। इनको आदर देना चाहिये। इन्हें आदर देने से सर्वथा मंगल होता है। सती-साध्वी माता बहिनें गौरी और लक्ष्मी के समान पूजनीया हैं।

(39) शरीर और मन-वाणी की सम्पूर्ण शक्ति से साधन करने का प्रयत्न करना चाहिये। जो ऐसा प्रयत्न करते हैं, उन्हें कृपा प्राप्त होती ही है- ''भजत कृपा करिहैं रघुराई।''

(40) मन ही मन शत्रु का चिन्तन करके उससे मित्रता करना, उसे सज्जन मान कर क्षमा याचना करना, उसकी मंगल कामना करना। अपनी ओर से शत्रुता को समाप्त कर देना वह चाहे करे न करे।

(41) 'मैं पैसा नहीं छूता हूँ'' यह कहने की अपेक्षा उत्तम बात है- पैसे का सदुपयोग करना और उसमें आसक्ति न रखना।

(42) सम्मान योग्य होकर भी सम्मान का त्याग करना बड़ी बात है किंतु इससे भी बड़ी बात है सम्मान की इच्छा का भी त्याग करना। कंचन-कामिनी का त्याग तो इनसे नीचे का त्याग है।

(43) गुरुदेव के एक वाक्य में भी यदि दृढ़ विश्वास है तो कल्याण अवश्यम्भावी है।

(44) कंचन तजना सहज है, सहज–तिया का नेह।
मान बड़ाई, ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ येह।।

(45) संकेत अरु परिहास तान अलाप में अपमान में।
हरिनाम लीने अघ नशैं मुनि कहें व्याख्यान में।।
अनजान में अमृत पियैं तो भी अमर हो जायेगा।
इमि नाम जानि अजानि लीने फल अवसि ही पायेगा।।

(46) भगवान के प्रेमजीनों के सत्संग में जो भगवान की लीला कथायें सुनने को मिलती हैं उनसे उस दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे दु:खों की निवृत्ति हो जाती है, मन शाँत हो जाता है, हृदय आनंद से भर जाता है और भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।

(47) संसार कैसा है इसका ज्ञान संसार से अलग होने पर होता है। संसार से मन हटे बिना संसार का ठीक–ठीक ज्ञान नहीं होता। उसकी असारता समझ में नहीं आती! भगवान कैसे हैं यह भगवान में मन लगने पर समझ में आता है। भगवान और जीव की एकात्मता है इसलिये भगवान में मन लग जाने के बाद वहाँ से कभी हटता ही नहीं है। किंतु संसार में लगा हुआ मन तो निंरतर दौड़ता ही रहता है कहीं विश्राम नहीं पाता। क्योंकि जीव और संसार की एकात्मकता नहीं है।

(48) यदि शरीर के श्रृंगार में ही लगे रहोगे तो भक्ति का श्रृंगार कब करोगे? मनुष्य जीवन प्राप्त करके भक्ति का श्रृंगार करना ही सच्चा श्रृंगार है।

(49) सज्जन मनुष्य जीवन भर त्याग तपस्या करके प्रभु से यही वरदान माँगते हैं

कि-प्रभो! सभी प्राणी सुखी रहें, सभी निरोगी रहें, सभी के मन में कभी दुष्ट विचारों का उदय न हो, कभी किसी के हिस्से में दुःख न आये, चराचर सभी प्राणी सुखी हो जाय और मेरे मन में कभी भी बुरे विचार न आयें।

(50) साधक जब प्रयत्न करते करते थक जाता है और थक कर अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में समर्पित कर शरणापन्न हो जाता है तब साधनों की पूर्ति हो जाती है।

(51) भगवान की भक्ति का आरम्भ अपने घर से होता है। घर के बड़े-बूढ़े माता-पिता में श्रद्धा रखना, उनकी सेवा करना, घर के परिवार के लोगों से जो निष्काम प्रेम करेगा वह भगवान की भक्ति कर सकेगा अतः सृष्टि को, घर को भगवान का मान कर व्यवहार करना। जो स्वयं प्रसन्न रहकर दूसरों को प्रसन्नता प्रदान करता है वही भगवान का भक्त है। जिसके द्वारा दूसरों को दुःख प्राप्त होता है वह कभी भगवान का भक्त नहीं हो सकता।

(52) मन, वाणी, और शरीर सत्संग में रहे सत्य, दया, क्षमा और ब्रह्मचर्य का पालन हो तो मन, बुद्धि और शरीर का विकास होता है। नित्य बड़ों को प्रणाम करने से - उनकी सेवा करने से आयु, विद्या, बल, तेज और यश की प्राप्ति होती है।

अपने कर्त्तव्य का सावधानी से पालन करते हुए, सदाचार परायण रहकर, मन में शुद्ध सात्विक विचार रखते हुए जीवन का प्रथम भाग विद्याध्ययन में बितायें। कर्तव्य पालन एवं शुद्ध विचारों से विवेक जाग्रत होता है, विवेक उचित-अनुचित के निर्णय का ज्ञान देता है। विवेक से ही मनुष्य अच्छाई पर टिके रहने की हिम्मत रख पाता है। बिना विचार किये सहसा कोई कार्य करने पर बाद में पछताना पड़ता है। बड़ों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और छोटों को शिक्षा देनी चाहिये। अध्ययन करते समय भी अध्यापन करना चाहिये।

(53) जहाँ भक्ति होगी-भगवान भी वहीं होंगे और जहाँ भगवान होगे वहीं विवेक, श्रद्धा, सत्य, दया, क्षमा, सुख और शाँति का निवास होगा। दुःख, दोष, क्रोध, ईर्ष्या और अशांति वहाँ से पलायन कर जायेंगे, क्योंकि भगवान आनन्दमय हैं। इसलिये भक्ति के धनी ही सच्चे और सर्वश्रेष्ठ धनी हैं।

धन के बिना लौकिक व्यवहार नहीं चलता। धार्मिक और सामाजिक कार्यों में भी ध ान की आवश्यकता पड़ती है अतः ईमानदारी से धन कमाकर देव, साधु, ब्राह्मण, गाय के साथ अपना और अपने परिवार का भी भरण पोषण करना चाहिये। विवेकी-सज्जन मनुष्य का धन लोक परलोक दोनों बना देता है और अविवेकी दुष्ट का धन लोक परलोक दोनों बिगाड़ देता है।

(54) समर्थ गुरू के दर्शन से जीवन सार्थक होता है। गुरू दर्शन और वचन श्रवण से हजारों तीर्थों के दर्शन का लाभ मिलता है।

(55) भक्तों का जीवन चरित्र भक्ति पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रत्येक भक्त ने चिन्तन और विश्वास के द्वारा भगवान को पाया। दयामय प्रभु की कृपा से सद्बुद्धि बनी रहे तभी मनुष्य सुख की सांस ले पाता है। सद्बुद्धि से ही प्राणियों के प्रति प्रेम बना रहता है। अपने वर्णाश्रम के अनुसार सच्चाई से यदि कर्त्तव्य पालन किया जाय तो इतने से भी प्रभु संतुष्ट हो जाते हैं। मन की प्रसन्नता से प्रभु की कृपा का अनुभव होता है।

(56) जिसके ऊपर क्रोध किया जाता है उसकी हानि नहीं होती, हानि, क्रोध करने वाले की होती है, रक्त उसी का जलता है। क्रोध करने से बुद्धि धीरे-धीरे कम होने लगती है। क्रोध के समय तो बुद्धि एकदम भाग खड़ी होती है। बुद्धि की कमी से अपने विकास की गति धीमी हो जाती है। क्रोध के कारण हिंसा और बैर के भाव उत्पन्न होते है इसके फल

स्वरूप बार-बार जन्म मरण होता है। जन्म लेना है तो सत्संग-भजन के लिये, बदला चुकाने के लिये नहीं इसलिये किसी से भूल हो भी जाय तो उसे समझा दें, क्रोध न करें, प्रेम बनाये रखें।

(57) जप पाठ भजन करि साधक को अभिमान सहज होता है।
यदि सुने नहीं वह भक्तमाल तो मिला भया फल खोता है।।
सच्चा अधिकारी भक्ति का जो बना चहै सो दीन बने।
जप सेवा पूजा पाठ निष्ठा के हरिदास चरित चित लाय सुने।।

(58) पेट ही के पालत में पेट पीठि एक भये, अबहु न फेरि पीठि फिरि पछितावैगौ।
पेंच माहिं परे परे पोथन के पोथा रंगे, पढ़िकै पढ़ाये तऊ समुझि न पावैगौं।।
कुण्ड कुण्ड मज्जन न कीने व्रजधाम आइ, साधन अनेक किये सूखौ रहि जावैगो।
जोलौं धरि धीर मन बांधिकै बंधान तान, ऊँमगि ऊँमगि नहीं सूर पद गावैगो।।

(59) किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया-महाराज जी! भक्ति कैसे प्राप्त होती है?

''पहले यह बताइये कि धन कैसे प्राप्त होता है? श्री महाराज जी ने पूछा।

''यदि कोई धनवान कृपा करके सहयोग करे और उसके बताये अनुसार उद्योग किया जाय तो धन की प्राप्ति हो सकती है। ''भक्ति प्राप्ति का भी यही मार्ग है। जैसे धनी की कृपा से धन प्राप्त होता है वैसे ही भक्त की कृपा से भक्ति प्राप्त होती है।'' श्री महाराज जी ने उत्तर दिया।

(60) भक्तों के इष्ट भगवान होते हैं और भगवान के इष्ट भक्त-संतजन होते हें। अत: इष्ट के इष्ट अतिइष्ट भक्त ही हुए।

संस्मरण- यदि कभी कोई महाराज जी की पूजा, प्रणाम और माला धारण कराता तो कहते-''हम जैसे पतित लोगों की पूजा करने के कारण ही देश में संकट और दुर्भिक्ष पड़ते हैं।''

(1) राजस्थान के एक भक्त ने अपने गाँव में श्रीमहाराज जी की अध्यक्षता में एक धार्मिक आयोजन किया। आर्थिक रूप से असमर्थ उस व्यक्ति ने आयोजन के लिये बहुत अधिक ऋण ले लिया। उसके बंधु बांधव नाराज होकर कहने लगे-''अब तुम्हें अपनी चल अचल सम्पति बेचकर ही ऋण से मुक्ति मिल पायेगी।''

आयोजन के बाद उसके खेत में फसल की इतनी अधिक उपज हुई कि देखकर सब आश्चर्यचकित रहे गये। सारा ऋण चुका देने के बाद उस व्यक्ति ने ट्रेक्टर भी खरीद लिया।

संत सेवा का ऐसा चमत्कार-ऐसा प्रभाव देखकर सारा गाँव श्रद्धावनत हो गया। मानो धन्नाभगत के साथ हुई घटना की ठाकुर जी ने पुनरावृत्ति की हो।

(2) श्रीमहाराज जी चित्रकूट में एक आश्रम -(कक्ष) में लेटे हुए थे, एक संत उनके चरण संवाहन कर रहे थे। संत के नेत्रों से निकले अश्रु-बिन्दु श्रीमहाराजजी के चरणों पर गिरे।

''महात्मा जी क्या कष्ट हैं आपको? श्री महाराज जी ने पूछा।

''महाराज जी! श्रम तो बहुत कर रहा हूँ किंतु अभी कोई लाभ नजर नहीं आ रहा है'' संत ने कहा।

उन संत का अधिकांश समय एकान्त गुफा में जप करते हुए बीतता था। उनके कहने का अर्थ था-''मैं नाम जप तो कर रहा हूँ। पर उसका विशेष लाभ हुआ हो, ऐसा नहीं लगता।''

उसकी बात सुनकर श्री महाराज जी उठकर बैठ गये और कुछ रुखे स्वर में बोले-" यदि नाम जप से कोई लाभ नहीं हो रहा है तो छोड़ दो। जिस कार्य में लाभ न हो वह क्यों किया जाय?"

यह सुनते ही वे संत काँप उठे और उनकी आँखो से झर-झर अश्रु प्रवाहित होने लगे। वे फूट-फूट कर रोते हुए बोले-"महाराज जी! बस यही आज्ञा मत दीजिये। मैं नाम जप नहीं छोड़ सकता, प्राण भले ही चले जाँय पर नाम जप अब नहीं छूट सकता। उन्होंने श्रीमहाराज जी के चरण पकड़कर उन पर सिर रख दिया।

"अरे बाबरे! सब कुछ तो मिला गया, फिर भी कह रहे हो कि लाभ नहीं हो रहा। नाम में अनुराग ही सबसे बड़ी उपलब्धि है जो तुम्हें प्राप्त हो चुकी है।" असीम वात्सल्य भरे स्वर में यह कहते हुए श्री महाराज जी ने उन संत को हृदय से लगा लिया।

(3) एक देहात में यज्ञ के अवसर पर श्रीमहाराज जी पधारे। ऐसे अवसरों पर बहुत से भिखारी लोग भी तिलक और साधु वेश धारण कर आ बैठते हैं। वहाँ भी बहुत से भिखारी उपस्थित थे। श्रीमहाराज जी ने वहाँ पहुँच कर प्रत्येक को झुक झुक कर प्रणाम किया। वे लोग कहाँ श्रीमहाराज जी को पहचानते थे, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से अपनी देहाती भाषा में अनेकों आशीर्वाद दिये।

(4) गागरौनगढ़ की बात है। रात्री के दो तीन बजे का समय होगा श्रीमहाराजजी की वृद्धावस्था तो थी ही कमर भी झुक गयी थी। चलते समय पैर काँपने और लड़खड़ाने लगते थे। श्रीमहाराज जी के आस-पास सब लोग सोये हुए थे। केवल दूर लेटी एक वृद्धा मैया जाग रही थी।

श्री महाराज जी लघुशंका के लिये उठे और अभी लघुशंका स्थान की ओर धीरे-धीरे चलना आरम्भ किया ही था कि एक दिव्य पुरूष जो श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे वहाँ

आये और श्री महाराज जी का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे उस स्थान की ओर ले चले। श्री महाराज जी को जल दिया फिर आचमन कराया और वापस आसन पर ले आये। श्री महाराज जी ने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया और वे भद्रपुरुष चले गये।

प्रातः उस वृद्धा माता ने सब संतों को यह घटना सुनायी। एक संत ने श्री महाराज जी से पूछा कि-" हम सब तो सो रहे थे, वे भद्रपुरूष कौन थे जिन्होंने आपकी सेवा की?"

श्रीमहाराजजी भाव समाधि में डूब गये। कुछ देरी मौन रहने के बाद बोले-"सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में असहाय वैष्णवों की सेवा करने के लिये भगवान के पार्षद सदैव तत्पर रहते हैं। होंगे कोई स्थान पुरुष; जिन्हें हम जैसे दीनों की इतनी चिंता हुई। इसमें आश्चर्य जैसी क्या बात हुई? कुछ करने की जीव की सामर्थ्य ही कहाँ है, भगवान ही अपने परिकर से उत्सव संचालन करवा कर विश्व का कल्याण करते हैं, यह शाश्वत सत्य है।"

(5) शास्त्रों में अनुग्रह निग्रह दोनों की चर्चा है। किंतु श्री महाराज जी के समीप लम्बे समय तक रहने वालों ने कभी भी उनके व्यवहार में निग्रह का लेश नहीं पाया-सदैव अनुग्रह ही देखा-पाया।

गोवर्धन और वृन्दावन निवास की साठ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में कितने ही लोंगों ने उनके स्वरूप को न जानने के कारण अनेक प्रकार से कई बार उनकी अवहेलना-प्रवञ्चना की। कई लोगों ने तो उपकृत होकर भी कृतघ्नता का व्यवहार किया और वह भी एक बार नहीं बार-बार, बार-बार। इतने पर भी श्री महाराज जी ने कभी किसी का निग्रह नहीं किया बल्कि सब पर सदा ही अनुग्रह की वर्षा करते रहे।

(6) श्री महाराज जी को झांसी से यात्रा करनी थी। उन्हें रेल में बिठाने के लिये एक शिष्य साथ आये थे। बिना रिजर्वेशन की यात्रा थी। एक सीट पर एक नवयुवक जूते पहने सो रहा था श्री महाराज जी उसके पैताने की ओर बैठ गये। स्थिति ऐसी थी कि वह

युवक पैर हिलाता तो उसके जूते श्री महाराज जी के शरीर से टकराते। छोड़ने आये शिष्य ने उस युवक को जगाना चाहा तो महाराज जी ने कहा–''पण्डित जी! आपकी यहाँ तक लाकर बिठाने वाली सेवा पूर्ण हो गयी। मैं गाड़ी में बैठ गया, अब आप जाइये मैं यात्रा अपने ढंग से करूँगा।''

धन्य सहिष्णुता धन्य अभिमान शून्यता। धन्य साधुता।

(7) सहज सरलता और विश्वास की प्रतिमूर्त्ति ही थे श्री महाराज जी। बालक जैसे सरल स्वभाव में अविश्वास –संदेह की रंचमात्र भी गंध नहीं थी।

कई बार प्रवंचक आकर कहते–''मेरी माँ बीमार है, ऑपरेशन के लिये पैसा चाहिये।''

श्री महाराज जी ''कौन है?'', ''कहाँ का है?'' ऑपरेशन कहाँ हो रहा है?'' आदि कुछ भी पूछे बिना पैसा निकाल कर दे देते।

वह फिर आता–''माँ मर गयी है।''

श्री महाराज जी बिना एक शब्द बोले फिर रुपया दे देते। ऐसा एक ही व्यक्ति नहीं कई बार कई लोग ऐसा करते किंतु श्रीमहाराज किसी को मना नहीं करते। झूठ बोलकर रुपये माँगने वाले जैसे अपनी आदत से लाचार थे वैसे ही श्री महाराज जी भी अपनी करुणा, कृपा, उदारता से लाचार थे। वे अपने साधु स्वभाववश सबकी आवश्यकतायें पूरी करते रहते थे।

(8) कोई संत श्री महाराज जी से पाँच हजार रुपये उधार माँग कर ले गये। एक वर्ष बाद वे रुपया लौटाने आये। उस समय श्री महाराज जी राजस्थान पधारे हुए थे। संत वह रुपया श्रीमलूकपीठ वाले महाराज जी को देकर चले गये। वे कह गये कि ''रूपया श्री महाराज जी के पास जमा करवा देना।''

सरल स्वभाववश श्री राजेन्द्रदास जी महाराज (मलूकपीठ) रूपयों को कहीं रखकर भूल गये। कुछ दिनों बाद वे संत वापस आये संयोग से उसी दिन श्री महाराज जी भी वृन्दावन पधारे। संत ने पूछा-"आपने श्री महाराज जी को रुपया जमा करवा दिया?"

तब श्री मलूकपीठ वाले महाराज जी को याद आया कि "ये संत मुझे रूपया दे गये थे।"

वे पुस्तकों और अन्य सामान में रुपया ढूँढने लगे, किंतु रुपये नहीं मिले। अपने सुयोग्य शिष्य को व्यग्र-व्यस्त देख कर श्री महाराज जी बोले-"पण्डित जी! आप किस व्यर्थ कार्य में उलझ गये। भजन और स्वाध्याय छोड़कर कैसे प्रपंच को ले बैठे?"

"महाराज जी! हमसे भूल हो गयी। ये संतजी हमें पाँच हजार रूपये दे गये थे किंतु मैंने उन्हें जाने कहाँ रख दिये कि मिल ही नहीं रहे हैं। सम्भवत: किसी ने रुपये उठा लिये हैं।" शिष्य ने डरते हुए उत्तर दिया।

शिष्य का भय और चिंता देख श्री महाराज जी हँस पड़े- "बस! इतनी सी बात के लिये आप इतने परेशान हैं?" कहकर श्री महाराजजी ने डायरी में संत जी के नाम से दर्ज रुपये जमा करके हिसाब बंद कर दिया। फिर अपने प्रिय शिष्य की ओर देख अति स्नेहपूर्ण स्वर में बोले-"आपकी रुपयों के प्रति महत्व बुद्धि है, आपने उसे रुपया मान रखा है इसीलिये इतनी चिंता हो रही है।"

"महाराज जी! रुपये आपके थे, इन संत जी ने मुझे जमा कराने के लिये दिये थे। मैं उन्हें सम्हाल कर नहीं रख सका।"

"रुपया न हमारा है न आपका है और न ही किसी और का। महाभारत में लिखा है-"अर्थस्य पुरूषो दास:"।।

मनुष्य ही अर्थ का दास है, अर्थ किसी का नहीं होता।''

इस घटना का श्री महाराज जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(9) वैशाख शुक्ल पंचमी श्री सूर जयन्ती पर श्रीमहाराज जी परासौली में ही विराजे। सूर जयन्ती पर गाँव की बालिकायें प्रभात फेरी के लिये सिर पर मटकी धर कर गाँव की परिक्रमा लगातीं। उन मटकियों पर बालिकायें अष्टछाप के कवियों और श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के चित्र अंकित करतीं। गाँव के लोगों ने निर्णय लिया जिन बालिकाओं की मटकी के चित्र सुंदर हों उनको प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के हिसाब से पुरस्कार दिये जायँ। पुस्कार के लिये चयन संतों को करना था। श्री महाराज जी को जब चयन करके पुरस्कार प्रदान करने को निवेदन किया गया तो आपने कहा–''मुझे तो सभी बालिकायें प्रथम श्रेणी की ही लगती हैं, अतः समान रूप से ही पुरस्कृत करूँगा। पहली, दूसरी और तीसरी श्रेणी तो आप जानें।''

श्री महाराज जी ने सभी बालिकाओं को समान राशि प्रदान की। उनके लिये सभी व्रजवासी बालिकायें समान सम्माननीय थीं।

(10) एक बार हिमाचल प्रदेश में वहाँ के स्थानीय संत ने श्रीमद्भागवत सप्ताह का बहुत बड़ा आयोजन किया। कथा व्यास थे श्रीमहाराज जी! कथा श्रवण कर आयोजक एवं श्रोता बहुत प्रभावित हुए प्रचुर दक्षिणा और अन्य वस्तुए प्रदान की गयी। बड़े भाव से विदाई दी गयी।

इसके बाद कई बार उन संतजी का कथा के लिये आग्रह पूर्ण निमन्त्रण आया किंतु श्री महाराज जी फिर वहाँ कभी नहीं पधारे। उनका एक ही उत्तर था– ''इतनी बड़ी दक्षिणा लेने का मुझे अभ्यास नहीं है।''

(11) किसी साधक ने कहा-''आज मेरे बायें अंग बार-बार फड़क रहे हैं। पुरुष के बायें अंग फड़कना अशुभ संकेत है अतः मैं बहुत चिन्तित हूँ।''

श्री महाराजजी ने उससे कहा-''तुम अपने को पुरुष कबसे मानने लगे? यदि अपने को पुरूष मानते हो तो तुम वृन्दावन वास के अधिकारी नहीं हो। वृन्दावन में तो पुरूष केवल श्रीकृष्ण ही हैं।-''

(12) श्री महाराजजी के एक परिवार ने किसी व्रजवासिनी को अपनी ही पाँच वर्ष की बालिका को ''सौत'' कहते सुना। बालिका बहुत जोर-जोर से रो रही थी- माँ ने कहा-''अरे, चुप है जा मेरी सौत।''

सुनने वाले व्यक्ति ने श्रीमहाराज जी से पूछा-''वह अपनी बेटी को सौत कैसे कह रही थी?''

श्रीमहाराज जी बोले-''यह सहजता है। यह लौकिक पति तो नश्वर है, वास्तविक पति तो श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार सभी सौतें ही हैं।''

(12) टीकमगढ़ जिले के बराना की बात है। मन्दिर के पास ही तालाब है और वहाँ स्नान के लिये घाट बने हुए हैं। जो लोग स्नान करने आते वे दातुन वहीं फेंक कर चले जातें, गन्दगी हो जाने से मंदिर ठाकुर सेवा के लिये जल भरना भी कठिन हो जाता। श्री महाराज जी स्नान करने गये तो बड़ी देर तक नहीं लौटे। एक संत ने जाकर देखा-आप अपने हाथों से सारे घाट की सफाई कर रहे थे।

संत ने कहा-''महाराज जी! आप रहने दीजिये, हम सफाई कर देंगे।''

''यहाँ से सेवा के लिये जल जाता है, यहाँ संत-भक्त स्नान करते हैं अतः घाट की सफाई सेवा का काम है और सेवा ही उपासना है'' श्री महाराज जी ने कहा।''

(13) एक व्यक्ति श्री महाराज जी से गौ सेवा, मंदिर बनाने आदि बहानो से बहुत सा रुपया ले गया। पता लगने पर लोगों ने श्री महाराज जी को बताया तो बोले–''यह सब मैं जानता हूँ।''

''आप जानते हैं तो फिर देते क्यों है?''

''उसका रुपया मेरे पास है। वह आता है इसलिये देता हूँ'' श्री महाराज जी ने उत्तर दिया।

''यदि उसका पैसा नहीं है तो वह आपको ठग रहा है और आपको उससे वसूलने के लिये फिर से जन्म लेना पड़ेगा।''

''यदि पैसा वसूलने की इच्छा होगी तभी तो जन्म होगा। पैसा लेने की इच्छा ही नहीं रहेगी तो जन्म ही क्यों होगा? श्री महाराज जी ने उत्तर दिया।

(14) श्रीमहाराज जी की पेटी का ताला तोड़कर किसी ने पाँच छः हजार रुपये निकाल लिये। दूसरे लोगों ने पता लगा कर उसे पकड़ा और पिटाई भी की। जब श्री महाराज जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने श्री राजेन्द्रदास जी महाराज को बुलाकर कहा–''कैसा न्यायालय है तुम्हारा? बिना शिकायत के ही व्यक्ति को दण्ड दे दिया जाता है? रुपया हमारा गया, हमने तो किसी से कोई शिकायत नहीं की। ताला तोड़ने वाले का क्या दोष है, दोष तो हमारा है कि ताला लगाया। उसे तो जरूरत थी इसलिये निकाल कर ले गया।''

श्री महाराज जी ने उस व्यक्ति से कहा–''अब हम ताला नहीं लगायेंगे, तुम्हें जब जितनी जरूरत हो निकाल कर ले जाना।''

उस व्यक्ति को आश्रम में ही रखा, उसने फिर कभी चोरी नहीं की। दूसरों के दोषों में भी श्री महाराज जी गुण ही देखते थे।

(15) अपने कृपापात्र श्री मल्होत्रा जी के अनुरोध पर श्री महाराज जी उनके आवास पर कुछ दिन विराजे। वहाँ आपसे मिलने एक व्यक्ति आया जो पहले भी झूठ बोल बोलकर कई बार रुपये ले जा चुका था।

श्रीमहाराज जी की सेवा में रहने वाले संत ने उसे श्रीमहाराज जी से मिलने नहीं दिया और वहाँ से चले जाने को कहा। जब श्री महाराज जी को मालूम हुआ तो उन संत से कहा–''आपने उस व्यक्ति को क्यों भगा दिया? वह आपसे तो मिलने आया नहीं था, वह मुझसे मिलना चाहता था।''

''वह ठग है, पहले भी वह झूठी–झूठी परिस्थितियाँ अपने मन से गढ़ कर आपसे रूपया ले जाता था। अब फिर कुछ बात बना कर आपसे रुपये लेने आया होगा यह सोच कर मैंने भगा दिया।'' संत ने उत्तर दिया। ''उसने अब तक जितना भी रुपया मुझसे लिया है अथवा आगे लेगा वह सब पैसा उसीका रहा होगा। मैं तो केवल उसका कर्ज उतार रहा हूँ। उसे बुला लाओ, जब तक वह व्यक्ति नहीं आयेगा मैं भोजन नहीं करूगा'' श्रीमहाराज जी ने आदेश दिया।

आज्ञानुसार उस ठग को श्रीमहाराज जी के सामने उपस्थित किया गया और उसने फिर वैसी ही अपनी विपत्ति की झूठी मूठी बातें बनाई और श्रीमहाराज जी से रुपये लेकर चलता बना।

(16) श्रीमहाराज जी अपनी सेवामें आये हुए बहुमूल्य वस्त्रों को संतों–ब्राह्मणों में बाँट देते और स्वयं अपने लिये सादे, साधारण वस्त्र रखते।

एक धोती के दो भाग कर उसे अचले के रूप में धारण करते। वह अचला पुराना होकर गल जाता तो गला हुआ भाग निकाल कर थोड़े मजबूत हिस्से को साफी–अंगोछा बना लेते। जब अँगोछा जीर्ण हो जाता तो उसके अच्छे हिस्से से रूमाल, डायरी आदि

लपेटने के काम में लेते। वस्त्र के जीर्ण हुए हिस्से से डोरियाँ जैसी बंटकर रस्सी के रूप में उपयोग करते। श्रीमहाराज जी का कहना था–''कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं होती उसका उपयोग करने वाला व्यक्ति ही दुर्लभ होता है।

(17) श्री रामानन्द पुस्तकालय में पुस्तकें जमाते समय एक शिष्य ने श्री महाराज जी को वहाँ पुस्तकों के बीच दौड़ते हुए चूहा दिखाते हुए कहा–''महाराज जी! यह पुस्तकें काट देगा।''

''रहने दो, तुम समझते हो वह हमको परेशान कर रहा है। उसे लगता है–तुम उसके स्थान पर उधम कर रहे हो। अब बताओ कौन सही है?'' श्रीमहाराज जी ने हँसते हुए कहा।

सीताराम भवन में अनाज की बोरियां काट देने वाले चूहों को मारने अथवा पकड़ने का सुझाव देने वालों से बोले–''अरे, ये चूहें भी तो व्रजवासी ही हैं। अनाज खा रहे हैं तो खाने दो, संत सेवा हो रही है।''

(18) श्री महाराज जी के कक्ष में चींटियाँ हो गयीं। वे श्री महाराज जी के बिस्तर और तकिये पर होकर आलमारी की ओर जा रहीं थी। श्रीमलूकपीठाधीश ने निवेदन किया कि–''तकिया आसन झटक देता हूँ।''

''नहीं, नहीं, रहने दीजिये पंडित जी! ये वृन्दावन की चींटिया हैं। इनकी यात्रा में बाधा मत दीजिये, ये जहाँ जा रही हैं वहाँ सुख पूर्वक चली जाय।''

श्रीमहाराज जी अपने आसन पर बिल्कुल एक ओर सिकुड़ कर बिना ही तकिये के सारी रात शयन करते रहे।

(19) अपने किसी अपराध के कारण आश्रमवासी एक व्यक्ति को कारागार वास का दण्ड मिला। श्रीमहाराज जी अपने कोमल चित–मन के कारण बीच –बीच में अपने

किसी अनुगत को जेल भेज देते– ''जाओ उससे मिलकर मालूम करो कि उसे किसी चीज की जरूरत है या वह कैसे जेल से छूट सकेगा ? उसका दु:ख–दर्द पूछ कर आओ।'' दूसरे लोग जब उससे घृणा कर रहे थे ऐसे समय में श्रीमहाराज जी उसके प्रति सहानुभूति का व्यवहार करके उसका कष्ट दु:ख कम करने की चेष्टा करते थे। संत के अतिरिक्त ऐसा ''पर दु:ख दु:खी'' दूसरा कौन होगा ?

(20) बिल्कुल पागल लोग जिन्हें समीप बिठाना तो दूर कोई बात करना भी पसन्द नहीं करता। ऐसे लोगों को भी श्री महाराज जी समीप बिठा कर बातें करते। वे अपनी विक्षिप्त–उल्टी सीधी चेष्टायें करते हुए वैसी ही बातें करते और हंसते हुए बड़े स्नेह से उनकी बातों का उत्तर देते, उन्हें खिलाते पिलाते महाराज धन्य।

(21) श्रीमहाराज जी के कृपापात्र एक पंडित जी के पुत्रका विवाह था। घर में अतिथि आ चुके थे कि अचानक कुएँ का जल सूख गया। गर्मी के दिन थे, पानी लाने का गाँव में कोई साधन नहीं। दूर से पानी लाने में विरोधी लोग बाधा पहुँचा रहे थे। गाँव का धीवर उनसे डर रहा था इसलिये दूसरे गाँव का धीवर बुलवाया गया, उसने कहा–''कुएँ में बाल्टी ठीक से डूब नहीं रही है मैं आकर क्या करूँगा ? और दूर से पानी लाना मेरे बस का नहीं है।''

ऐसी कठिन परिस्थिति में पंडित जी सर्वथा निरुपाय हो गये। सायंकाल श्री ठाकुर जी की आरती–स्तुति करके परिवार के सब सदस्य आर्त होकर श्री महाराज जी से प्रार्थना करने लगे–''हे गुरुदेव ! हम आपके हैं, अब आप ही हमारी रक्षा करने की कृपा करें। इस विषम स्थिति का कोई उपाय हमें दिखाई नहीं देता। हम आपकी शरण हैं, कृपा करें, कृपा करें, कृपा.........।''

घर के लोग –अतिथि सब सो गये किंतु पंडित जी को नींद कहाँ? सारी रात रोते हुए प्रार्थना करते रहे।

''महाराज! गजब हो गया।'' प्रात: ब्रह्ममुहूर्त में धीवर का चिल्लाना सुन हड़बड़ा कर पंडित जी जाग पड़े। मन में आया–''अब फिर जाने कौन सी मुसीबत आ पड़ी है।'' पूछा–''क्या गजब हो गया?''

''कुआँ तो चार पाँच हाथ पानी से भर गया है, आप चलकर देख लें।''

हर्ष विह्वल हो सभी कुऐं की ओर दौड़े–सचमुच कुंआ पानी से भरा था।

कृपा–करुणामय गुरुदेव की कृपा का साक्षात कर पंडितजी के हृदय और नयन भर आये।

(22) मध्यप्रदेश से श्रीमहाराज जी के अनुगत शिष्य गुरु दर्शन हेतु श्रीवृन्दावन आये। दो दिन ठहर कर उन्होंने घर लौटने की आज्ञा माँगी।

''कब लौटना है?'' श्रीमहाराज जी ने पूछा।

''कल सबेरे मथुरा से गाड़ी है।''

''ठीक है, जाने से पहले श्री गिरिराज जी की परिक्रमा कर लेना।'' श्रीमहाराज जी ने आज्ञा दी – विशेषकर आज राधाकुंड की परिक्रमा, दर्शन, स्नान, आचमन का महात्म्य है।''

''तब तो आज ही परिक्रमा के लिये निकलना होगा'' शिष्य ने सोचा और आज्ञा लेकर परिक्रमा के लिये निकल पड़े। उस दिन अहोई अष्टमी थी। रात बारह बजे बाद अघाह भीड़ होनी थी अत: शिष्य गोवर्धन पहुँच कर शीघ्रता से चलकर परिक्रमा करने लगे। राधाकुण्ड के दर्शन करके वे परिक्रमा कर रहे थे। जगन्नाथ मंदिर से आगे गोपी

कुँआ के पास एक पुराने मन्दिर में चले गये। वहाँ बहुत बड़े आँगन की पूर्व दिशा में राधाकृष्ण के दर्शन थे, उन्होंने वहां जाकर प्रणाम किया और लौटते समय देखा–पश्चिम की ओर एक बरामदे में बहुत से स्त्री–पुरुषों की भीड़ हो रही है। उत्सुकतावश वे उस ओर चले, पहुँचकर देखा–बरामदे में एक अत्यन्त गौरवर्ण, तेजस्विनी कुमारी अपलक नेत्रों से राधा कुंड के जलकी ओर देखती हुई बैठी है। उसके विशाल नेत्रों से निरन्तर, झरझर अश्रु प्रवाह झर कर वक्षावरण आर्द्र कर रहा है। उसकी परिचर्या के लिये समीप में कई कुमारिकायें अवस्थित हैं वे खड़ी और बैठी हुई उसे समझा रहीं है। थोड़ी सी दूर बहुत से महात्माओं की भीड़ भी खड़ी है।

''क्या हो गया है?'' उन्होंने पूछा

''इस गोपी को विरह व्याप गया है'' महत्माओं ने बताया–''कई महीनों से इसने कुछ खाया पिया नहीं, केवल दिन–रात आँसू बहा रही है। सभी समझा कर हार गये, इसके जीवन की रक्षा का कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा है। आप भी समझा देखें।'' कहते हुए वे महात्मा थोड़ा अलग हट गये और उन्हें उस रोती हुई देवी के सम्मुख कर दिया। वे उस देवी के तेज को सह नहीं सके। प्रकाश पुंज से उनकी आंखें चौंधिया गयी, उस तेजोमय मुख को देख नहीं पा रहे थे। उनकी देह रोमांचित हुई, हृदय में व्याकुलता हुई–क्षमभर भी अपने को उस ज्योतिर्मय–विरह की साकार प्रतिमा के सम्मुख खड़े रह पाने की क्षमता नहीं पा रहे थे। वे व्याकुल हो एक ओर हट गये। साहित्य में वर्णित विरहिणी के स्वरूप को पढ़कर वे उसे अतिरंजित समझते थे, आज–आज इस सुकुमारता सुन्दरता, व्याकुलता और विरह की साकार ज्वाला की तीव्रता देख हतप्रभ–व्याकुल हो उठे। रुधौ कंठ और भरा हृदय ले वे बाहर निकल आये। बाहर आकर देखा–न वहाँ कोई मंदिर न कोई वैष्णव।

इस विशुद्ध गुरूकृपा का दर्शन कर सुयोग्य सौभाग्यशाली शिष्य हर्ष की सीमा न रही। इसीलिए तो गुरूदेव ने राधाकुण्ड भेजा था।

(23) दमोह के पंडित श्री मदनमोहन जी दीक्षित ने 9 मई 2006 का श्रीमहाराज जी से पूछा–''संत लोग कहते हैं कि भगवान दीनता पर रीझते हैं, महाराजजी! दीनता आती कैसे है? मैं दीनता का दंभ तो बहुत कर देता हूँ, लोग प्रभावित भी होते हैं किंतु मैं भलीभांति जानता हूं कि वह दैन्य सच्चा नहीं है। सच्ची दीनता कैसे आये?''

''दीनता का अनुसन्धान करो, दीनता में बाधक अहंकार है- अभिमान हैं'' श्री महाराज जी बोले–''संसार नश्वर हैं, हर वस्तु क्षणभंगुर है, अतः धन-पैसा, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, सभी क्षणिक हैं। ऐसा विचार कर मान अपमान को समान रूप से ग्रहण करना चाहिये। अहंकार-अभिमान जैसे-जैसे कम होता जायेगा दैन्य आता जायेगा।''

(24) श्रीमहाराज जी प्रथम बार दमोह पधार रहे थे। स्टेशन पर सैंकड़ों लोग उनकी अगवानी करने पुष्प और पुष्प मालायें लिये उपस्थित थे किंतु श्री महाराज को पहचानने वाले उनमें से केवल एक व्यक्ति थे। पंडित मदन मोहन जी दीक्षित जैसे ही ट्रेन आकर रुकी, सब एक साथ उस ओर बढ़े भीड में श्री मदन मोहन जी पीछे रह गये। ट्रेन से उतरने वाले स्थूलकाय, उन्नत ललाट भव्य वपु महात्मा को देख कर सबने दण्डवत करके मालायें पहनानी आराम्भ कर दीं। जब श्री मदन मोहन जी डिब्बे के समीप पहुँचे तो देखा प्लेटफार्म पर एक ओर श्रीमहाराज जी अपना थैला लिये सिमटे हुए चुपचाप खड़े हैं। मदन मोहन जी के हाथ एक छोटी सी पाँच सात फूलों से बनी माला थी, उसे ही श्री महाराज जी को पहना कर साष्टांग प्रणाम किया। तब लोगों को ज्ञात हुआ कि भक्तमाली जी तो ये हैं। सब धक् से रह गये।

(25) एक श्रद्धालु ने श्रीमहाराज जी का पूजन करते हुए पहले उनके चरणों में चंदन लगाया फिर मस्तक पर। समीप खड़े शिष्य ने समझाया– ''यह ठीक नहीं हैं, चरणों पर चन्दन लगाकर उसी चन्दर को मस्तक पर नहीं लगाना चाहिये। श्री महाराज जी ने उन्हें चुप रहने का संकेत किया।

उस भक्त के जाने के पश्चात् आप बोले–''पंडित जी! उसके ठीक ही तो किया। प्रत्येक अंग में देवताओं का वास है। चरणों में भगवान विष्णु और मस्तक में भगवान रूद्र निवास करते हैं। हाथ के देवता इन्द्र हैं। शिव तो परम वैष्णव हैं। वे भगवान विष्णु का प्रसादी निर्माल्य सदा मस्तक पर धारण करते ही हैं। अब आप इस तरह समझ लीजिये कि – देवराज इन्द्र ने भगवान विष्णु का पूजन कर उसी प्रसादी चन्दन से भगवान शंकर का पूजन किया।

ओरछा में आश्रम की स्थापना – औरछा की महारानी गणेशदेई की भक्ति पर प्रसन्न होकर अयोध्या नाथ भगवान श्री रामराजा सरकार ओरछा में आकर बिराजे। प्रभु के दर्शन के लिये संत भक्त पधारते ही रखते हैं। समीप में ही खजुराहो के कलात्मक मंदिर, मध्य युगीन इमारतें, राजाओं के किले और कई स्मृति चिन्ह हैं, वेत्रवती गंगा (बेतवा) की कृपा से प्रकृति की मनोरम संपदा के धनी होने के कारण ओरछा एक पर्यटन स्थल के रूप में भी प्रसिद्ध है। अत: यहाँ देशी विदेशी पर्यटक बड़ी संख्या में आते रहते हैं। इन आने वाले लोगों के ठहरने–खाने पीने के लिये यहाँ कई होटल और अतिथिगृह हैं। किंतु भगवान श्रीरामराजा के दर्शन हेतु आने वाले संतों और भक्तों के रुकने के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी।

श्री महाराज जी का ओरछा धाम से बड़ाा भावात्मक सम्बन्ध था। उन्हें सबसे प्रथम भवद्दर्शन और कृपा ओरछा में ही प्राप्त हुई। उनका विचार था कि ओरछा में संत सेवा के लिये एक आश्रम की स्थापना हो जिससे वहाँ आने वाले अभ्यागत संतों को रहने-खाने की सुविधा मिल सके।

श्री महाराज जी की इच्छानुसार ओरछा में भूमि खरीद कर आश्रम का निर्माण आरम्भ कर दिया गया, किंतु आश्रम के उद्घाटन से पहले ही श्रीमहाराज जी का नित्य लीला में प्रवेश हो गया। इसके एक वर्ष पश्चात् आपकी स्मृति में इस आश्रम को एक संत सेवी संस्था के रूप में शुभारम्भ किया गया।

महाप्रयाण- श्री महाराज जी का स्वास्थ्य दिनानुदिन क्षीण होता जा रहा था। मलूकपीठ का निर्माण होने पर श्रीराजेन्द्रदास जी महाराज के अनुनय विनय को स्वीकार कर श्री महाराज जी श्री मलूकपीठ में निवास हेतु पधारे थे।

आयुर्वेदिक होम्योपैथी और एलोपैथी चिकित्सायें चल रही थीं। कभी लगता-''स्वास्थ्य सम्हल रहा है'' और कभी लगता-''नहीं कुछ भी तो नहीं हो रहा। स्वास्थ्य तो पहले से अधिक क्षीण हो रहा है। आशा निराशा के तारों पर शिष्यों श्रद्धालुओं के प्राण टंगे थे।

आगरा के डॉ. माहेश्वरी वृन्दावन के डॉ. चंद्रेश, शिष्यों में श्री प्रभुदास जी, श्री गोविन्द चौबे आदि महानुभाव सेवा में बने रहते थे।

श्री महाराज जी को ''लक्ष्मी लाइफ लाइन नर्सिंग होम में भर्ती किया गया। परीक्षण से ज्ञात हुआ- मधुमेह के कारण दोनो गुर्दे प्रभावित हो गये हैं।

पाच छः दिन बाद अस्पताल से मलूकपीठ लाया गया, किंतु कुछ ही दिनों में फिर स्वास्थ्य गिरने लगी। 23 मई 2006 को ब्रजहेल्थ केयर में भर्ती कराया गया।

श्रीमहाराज जी की अस्वस्थता के सामाचार पाकर आपके गुरू भाई श्री शिवनंददास जी का बराना से पधारना हुआ। श्री रामानंद दास जी आदि अनेक शिष्य-संतों का सेवा हेतु पधारना हुआ।

ब्रज हेल्थ केयर में तीन दिन भर्ती रहने के पश्चात् 25 मई को मलूकपीठ ले चलने की आज्ञा प्रदान की अत: रात्रि में ही मलूकपीठ पहुँचाया गया। मलूकपीठ पहुँचकर श्री महाराज जी ने विधि पूर्वक गोदान किया। जिनकी चित्तवृत्ति निरन्तर आराध्य चरणों के चिंतन में संलग्न रहती है उनके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहते, कोई विधि-निषेध-करणीय नहीं बचते किंतु महापुँष अपने लिये आवश्यक न होने पर भी लोक संग्रह के लिये शास्त्रविहित कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

गम्भीर रूप से रूग्ण होने पर भी समाचार पाकर दर्शन हेतु आने वालों से आदर सम्मान पूर्वक मिलते और जहाँ तक सम्भव होता स्नेहपूर्ण एक दो वाक्यों से उनका सत्कार करते। संतों के आने पर कहते-''मैं ठीक हूँ, मुझे कोई कष्ट नहीं है। आप भजनानंदी संत अपने व्यस्त भजन ध्यान से समय निकाल मेरी बीमारी का समाचार पाकर यहाँ पधारे हैं; यही कष्ट है।

डॉक्टरों के मतानुसार श्री महाराज जी की शारीरिक अवस्था चिंतायुक्त थी, शारीरिक कष्ट भी बहुत था तथापि श्री महाराज जी के मुख से कभी भी पीड़ा जनित आह कराह नहीं निकली। वे नेत्र बंद हों या खुले - देखकर लगता - वे देह से परे किसी अन्य राज्य-अपने आराध्य की आनन्दमयी सन्निधि में उपस्थित हैं।

इसका उदाहरण अट्ठाईस मई की इस घटना से भी मिलता है- श्रीराजेन्द्रदास जी महाराज किसी अन्य कार्य में सम्बद्ध थे कि श्री महाराज जी ने एक संत द्वारा इन्हें बुलवाया। इन्होंने जाकर देखा-नेत्र मूंदे हुए थे अत: ''श्री सीताराम'' का दो बार उच्चारण करके

अपने आने की सूचना दी। श्री भगवन्नाम सुनकर श्री महाराज जी ने नेत्र खोल कर फर्माया–''सेवा पूजा तो हो चुकी है किंतु अभी आरती शेष है अतः अब ठाकुर जी की आरती करो।''

श्रीराजेन्द्र दास जी महाराज ने निवेदन किया–''महाराज जी! श्री ठाकुर जी की शयन आरती हो चुकी है।''

श्री महाराज जी ने पुनः फर्माया–''नहीं सेवा पूजा हुई हैं, अब आरती करो।''

श्री पंडित जी महाराज समझ गये कि ''श्रीमहाराज जी के भावराज्य की मानसी सेवा में श्री ठाकुर जी की सेवा पूजा हो चुकी है और आरती शेष है। सम्भव हो कि श्रीमहाराज जी सेवा के पश्चात् आरती करने ही वाले हों और मेरे उपस्थित होने की सूचना से ध्यान बंट गया हो।''

श्रीमहाराज जी के भावराज्य में पंहुचकर आरती करने में स्वयं को असमर्थ मान इन्होंने पुजारी जी को पुनः मंदिर में बिराजे ठाकुर जी की आरती करने की आज्ञा दी। घंटा घड़ियाल शंख की मंगल ध्वनियों के साथ पुनः की गयी। यह घटना सिद्ध करती है कि ऐसी रूग्णावस्था में भी श्री महाराज जी निरन्तर श्रीभगवतलीला चिन्तन में निरत रहते थे।

बीमारी का सामाचार पाकर दूर-दूर से सात साधु शिष्य एवं गृहस्थों के समूह आते ही रहते थे। उन लोगों के पुकारने प्रणाम करने अथवा वार्तालाप के कारण वृत्ति बाहर आती भी थी तो उन लोगों के जाने अथवा चुप होते ही श्रीमहाराज जी पुनः अपने चिन्तन राज्य में पहुँच जाते थे। अंतर्मुख होने के लिये उन्हें कोई आभास नहीं करना पड़ता, वह उनकी सहज सिद्ध अवस्था थी।

31 मई तक विविध उपचार-औषधि चलती रहीं, किंतु कोई लाभ प्रतीत नहीं हो रहा था। सब शिष्यों, संतों और भक्तों को लग रहा था कि अब महाराज जी इस लोक की दैहिक

यात्रा पूर्ण करना चाहते हैं। सच भी है ऐसे लोकोत्तर महापुरुष लोक कल्याण के लिये अपनी इच्छा से ही देह धारण करते हैं एवं अपना कार्य सम्पूर्ण मान अपनी इच्छा से ही श्रीहरि के सांनिध्य में-प्रभु के धाम में पधार भी जाते हैं।

श्रीमहाराज जी के समीप श्री भगवन्नाम संकीर्तन, भक्तमाल-भागवत के पाठ पिछले कई दिनों से प्रायः चलते रहते थे। 31 मई को वृन्दावन के प्रमुख मंदिरों से बिना ही मंगाये श्री महाराज जी के लिये प्रसादी पान, थाल का प्रसाद, माला, चंदन निर्माल्य आदि दिन भर आते रहे। उनके समीप रसिक संतों के पदों का गायन और रसिकों की वाणी का पाठ होता रहा। 31 मई की आधी रात को उन्होंने भूमि शयन की इच्छा प्रकट की। आज्ञानुसार तुरंत ही आपको भूमि पर पौढ़ा दिया गया। श्री पंडित जी महाराज ने प्रार्थना की-''महाराज जी! आज्ञा हो तो भागवत पाठ सुनायें?''

संकेत द्वारा आज्ञा पाकर उन्होंने श्रीमद्‌भागवत ग्रंथ खोला तो सहज ही तृतीय स्कन्ध का कपिलोपाख्यान खुल गया। श्री महाराज जी दत्तचित्त हो श्रवण कर रहे थे, उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु झर रहे थे।

भगवान कपिल ने माता देवहूति को ध्यान-योग और भक्ति का विस्तार पूर्वक निरूपण करके सुनाया है। ठाकुर जी के नख-शिख तक का सुन्दर वर्णन इसमें किया गया है।

ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को श्रुति पंचमी भी कहा जाता है, इस श्रुति पंचमी की ब्रह्मबेला में श्रीमद्‌भागवत के कपिलोपाख्यान के अंतर्गत श्रुति प्रतिपाद्य श्री ठाकुर जी के नख शिख वर्णन का श्रवण करते हुए श्री महाराज जी ने श्री युगल स्वरूप की नित्यलीला में प्रवेश किया। मानो श्री ठाकुर ने नख शिख का ध्यान करते हुए अब और कुछ न देखने का संकल्प ले अपने नेत्रों को सदा के लिये बंद कर लिये।

श्री महाराज जी जैसे विशुद्धात्मा सिद्ध संत के महाप्रयाण से साधक-संत जगत की बहुत बड़ी क्षति हुई। इसी बेला में कई साधकों को दिव्य स्वप्न दर्शन और अद्‌भुत अनुभव हुए। श्रीमहेश जी जो उस समय अपने दूरस्थ गांव में थे-स्वप्न में देखा श्री महाराज जी को आलौकिक दिव्य विमान पर विराजित होकर गगन में ऊपर उठते देखा। अन्य भी कई शिष्यों संतों को जो वृन्दावन से दूर थे, श्री महाराज जी के भगवद्‌धाम पधारने के अद्‌भुत अनुभव हुए।

एक जून दो हजार छः ज्येष्ठ शुक्ल श्रुति पंचमी गुरूवार संवत् 2063 की ब्रह्म वेला में श्री महाराजजी ने नित्य लीला में प्रवेश किया। इस समय आपकी आयु (88) अट्‌टासी वर्ष की थी।

अंतिम दर्शन के लिये प्रातःकाल से ही श्रद्धालुओं का आना प्रारम्भ हो गया। वृन्दावन के संत, भक्त और शिष्य आकर दर्शन करते रहे। दूरस्थ स्थानों के शिष्य और भक्त भी पहुँचने लगे। सूचना पाकर श्रीमामाजी महाराज (श्रीनारायणदास जी भक्तमाली) भी बिना रुके यात्रा करते हुए अंतिम संस्कार में उपस्थित हुए। स्थान पूजन के पश्चात् श्री महाराज जी को विमान पर विराजमान करवा कर श्रीवृन्दावन के प्रमुख मंदिरों श्रीबिहारी जी, श्रीराधावल्लभजी, श्री सेवाकुंज, श्रीनिधिवन और राधा रमण आदि की परिक्रमा कराते हुए अथवा समीप से ले जाते हुए श्री यमुनातट पर पहुँचाया गया।

अनेक संत-महान्त, गणयमान्य नागरिक और भारी संख्या स्त्री पुरूष वहां उपस्थित थे। श्री मामाजी महाराज ने श्री महाराज जी के अंतिम स्नान के समय श्रद्धापर्वूक आपके चरणामृत को तीन अंजली भर कर पान किया। श्री महाराज जी के गुरूभाई श्री शिवनंदनदास जी और श्री मामा जी महाराज आदि संतों की उपस्थिति में श्री महाराज जी को जल समाधि दी गयी।

कितना लिखा और कितना कहा जाय ? जैसे वक्ता थक कर ''हरि अनन्त हरि कथा अनन्त'' कहकर कथा को विश्राम दे ही देते हैं वैसे ही संत कथा भी अनन्त ही है, न घटनाओं का अंत है, न उपदेशों का न चरित्र का न कहने वाले अंत पाते हैं न लिखने वाले-किसी को संतोष नहीं होता किंतु देह की शक्ति का अंत तो है ही इसीलिये बोलने वाले-लिखने वाले थक कर चरित्र को विश्राम देते हैं।

प्रिया-प्रियतम मिलन महोत्सव- संत भक्तों के नित्य लीला में प्रवेश के पश्चात् महोत्सव मनाने की प्रथा है। श्री ठाकुर जी की सेवा और नित्य सांनिध्य प्राप्ति ही प्रत्येक भक्त-संत की आंतरिक अभिलाषा होती है। इस लोक की यात्रा पूर्ण करके वे यह महत् लाभ प्राप्त कर लेते हैं अतः उनकी महती कामना पूर्ति के योग के कारण यह महोत्सव भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न नामों से मनाया जाता है। श्री महाराज जी का यह महोत्सव श्रीप्रिया-प्रियतम मिलन महोत्सव के नाम से दिनांक 17 जून से 25 जून 2006 तक श्री मलूकपीठ में मनाया गया। इस उत्सव में वृन्दावन के सहस्त्रों संत भक्तों ने सम्मलित होकर श्री महाराज जी को श्रद्धांजली अर्पित की। श्री अयोध्या से श्री रामानंदाचार्य श्री हर्याचार्य पधारे और श्री महाराजजी के प्रति अपने भावोद्गार प्रकट किये। पूज्य श्री मामा जी महाराज ने श्री भक्तमाल की कथा कही। उन्होंने कहा- ''यदि श्री महाराज जी भक्तमाल ग्रन्थ की रचना से पूर्व हुए होते तो मेरा विश्वास है कि श्री नाभा जी उन्हें श्री भक्तमाल ग्रन्थ में अवश्य स्मरण करते। श्रीगदाधरभट्ट जी के छप्पय में नाभाजी ने उनकी जिन विशेषताओं का वर्णन किया है वे सबकी सब श्री महाराज जी में मुझे घटित होती दिखायी देती हैं। इस छप्पय में मुझे श्री महाराज जी की छवि दिखायी देती है। अतः मैं इस प्रिया-प्रियतम मिलन महोत्सव में छप्पयानुसार श्रीमहाराज जी को श्रद्धाजली अर्पित करता हूँ।

गुन निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद।

सज्जन सुहृद सुशील वचन आरज प्रतिपालय।

निर्मत्सर निहकाम कृपा करुणा को आलय।।

अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‌यो वपु भक्तनि काजै।

परम धरम को सेंतु विदित वृन्दावन गाजै।।

भागौत सुधा बरषै बदन काहू को नाहिन दुखद।

गुन निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद।।

दिनांक 25 जून को लगभग पाँच हजार संतों की प्रसाद सेवा (भंडारा) के साथ यह महोत्सव सम्पन्न हुआ।

परम पूज्य श्री मामाजी महाराज ने तो श्री नाभा जी महाराज रचित श्री गदाधर भट्ट जी के छप्पय का आश्रय लिया श्रद्धाञ्जली अर्पित करने के लिये। क्यों? क्या वे स्वयं कवि नहीं थे? उनकी कई रचनायें इसकी साक्षी हैं कि वे कवि थे फिर........?

बहुत बार, बहुत बार ऐसा होता है कि हम कुछ कहना चाहते हैं किन्तु शब्द नहीं मिलते; कागम कलम हाथ में लिये रह जाते हैं किंतु शब्द नहीं मिलते.......ऐसे लोकोत्तर चरित्रों को लिखना-कहना ऐसा ही है। नन्हा सा तो मन उसमें महापुरुषों के चरित्र का कोष समाये कैसे? जैसे तैसे करके थोड़ा सा कुछ समाये भी तो इने गिने अक्षरों में बंधी भाषा उसे अभिव्यक्ति दे भी तो कैसे? उसमें भी मुझसी अनपढ़, सामर्थ्यहीन प्रयत्न करे तो कैसा होगा वह प्रयत्न?

जैसे शफरी समुद्र पार करने चली, मक्खी ने गगन को नापना चाहा और नन्हें शिशु ने मयंक को भेटने के लिये बांहें बढ़ायीं। ये सभी जानते हैं कि उनकी क्षमता नगण्य है किंतु

फिर भी प्रयत्न तो करते ही हैं। मैंने भी किया है केवल इन दो पंक्तियों में, और सब तो श्री मलूकपीठाधीश का प्रसाद है। इस प्रसाद को भी कितना ग्रहण कर पायी ? न के बराबर. .....।

अब मेरी बात–श्रीमहाराज जी ने सदा संतों को अपना इष्ट माना। जाने कितने विद्यार्थियों को पढ़ाकर विद्वान बनाया, कितनों को कथावाचक बनाया किंतु महाराज जी सहज, सरल, शांत, उर्मिहीन, अतल महासागर, निरस गगन निर्मल शरदेन्दु, निर्वात दीपशिखा से अपने आराध्य के चिंतन में निरत इतने पर भी सदा कर्मरत।

संतों के लिये भूतकालिक शब्दों का प्रयोग उचित नहीं होता। वे सदा वर्तमान रहते हैं, जैसे लोग अपना स्थान अथवा जन्मभूमि छोड़ अन्य देशों में जा बसते हैं ठीक वैसे ही संत अन्य लोक में बसते हुए भी अपने आश्रितों का पोषण करते हैं। उनकी प्रार्थना सुनते और सार सम्हाल भी करते हैं।

श्री महाराज जी भी प्रिया प्रियतम की सेवा में रहते हुए भी निज जनों से दूर नहीं हुए है। बल्कि देह बन्ध से मुक्त होवे पहले से अधिक व्यापक, उदार और शक्ति मान हो गये हैं।

संत हो कि साधक अनुभूतियों की संपति ही सच्ची संपति है, किंतु जैसे पिता अपनी सन्तान को ही अमूल्य सम्पति मानता है वैसे ही सतशिष्या ही इस जग में संतों की सम्पदा हैं।

शिष्य गुरु की यशपताका के ध्वजदण्ड हैं और गुरु शिष्य के आधार–स्तम्भ हैं, गौरव गान हैं।

श्रीनारायणदास जी– श्रीमहाराज जी के साधु जीवन के प्रथम शिष्य नारायणदास जी थे। टीकमगढ़ जिले के निवाड़ी तहसील के मुड़ारा गाँव में ओरछा जाते हुए ठहरे। अठ्ठारह उन्नीस वर्ष के दुबले पतले सरल सौम्य साधु के दर्शन कर मुड़ारा के लोग बहुत प्रभावित हुए। यादवों का गांव था, वहां के कई लोग श्री महाराज जी के पास आकर दीक्षा देने की प्रार्थना करने लगे। श्रीमहाराज जी के मना करने पर वे लोग एक ब्राह्मण युवक नारायणदास को लेकर आये–''हम अहीर हैं, हमें न सही, यह ब्राह्मण युवक हैं इन्हें ही दीक्षा दे दीजिये। नारियल गमछा सामने रख कर उन्होंने करबद्ध प्रार्थना की।

उस गाँव में दो ब्राह्मण परिवार रहते थे। ये (नारायणदास) वहां के जमींदार, सरपंच, मुखिया और स्वतन्त्रता सेनानी भी थे। ये द्विवेदी ब्राह्मण थे दूसरा परिवार चतुर्वेदी था।

पूरे गांव के अग्रह पर महाराज जी ने नारायण दास जी को दीक्षा दे दी, ये ही श्री महाराज जी के प्रथम शिष्य हुए। कलान्तर में वैराग्य होने पर पारिवारिक जीवन त्याग कर नारायणदास जी ने श्री महाराज जी से ही विरक्तवेश ग्रहण कर लिया।

विरक्त होकर विचरते हुए राजस्थान गये, वहाँ जाकर जहाँ कही रहे वही स्थान (आश्रम) का निर्माण हो गया। ये ज्योतिषी कवि और कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे अतः जहां भी जाते लोग प्रभावित हो जाते।

श्री महाराज जी ने उनसे कहा–''पंडित जी! आप बद्रिकाश्रम हो आओ।''

पंडित जी बद्रीनाथ के लिये चले, विरक्त व्यक्ति, रुपया पैसा अधिक पास में रखते नहीं थे। कुल दस बीस रुपया लेकर बद्रीनाथ की ओर जाने वाली ट्रेन में बैठ गये। टिकिट चेकर ने आकर टिकिट माँगा–बाबाजी टिकिट दिखाइये।''

टिकिट तो लिया ही नहीं था, दिखाते कहां से आपने ललाट का तिलक दिखाकर बोले–''यह इतना बड़ा टिकिट आपको दिखाई नहीं देता।''

''आप साधु होकर गवरमेंट की चोरी करते हैं? रिपोर्ट होने पर आपको जेल हो सकती है। ऐसा गलत काम क्यों करते हैं आप? आप? पैसा नहीं हैं क्या आपके पास?''

''हमारी बात सुन लीजिये एक बार।'' नारायणदास जी बोले।

कहिये क्या कहना चाहते हैं आप।''

''गाड़ी बद्रीनाथ की जाना बद्रीनाथ है।

हम भी बद्रीनाथ के तुम भी बद्रीनाथ के।।

फिर कहो टिकिट किस बात की?''

''अरे वाह, बाबा जी आप तो कविता भी करते हैं।'' टिकिट चेकर ने हँसकर कहा–''कहां के हैं आप?'' ''वाह ब्राह्मण देवता। आप कविता अच्छी कर लेते हैं, पर बिना टिकिट यात्रा करने पर आपको जेल हो सकती है यह जान लीखिये।

''भाई! इतना परिचय पा लेने तुम हमें जेल तो नहीं भेजोगे, ऐसा हमें विश्वास है पर–

तुम कहो तो उतर मैं जाऊ दूसरी ट्रेन से आऊं।

मालीक का हुकम बजाऊं ना जाने से गम खाऊं।।

जाना बद्रीनाथ है, तुम भी बद्रीनाथ के, हम भी बद्रीनाथ के फिर कहो टिकिट किस बता की पैसा नहीं है क्या आपके पास? टिकिट चेकर ने पूछा।

नारायणदासजी ने अपने पास के बीस रूपये निकालकर दिखा दिये बोले–''बस इतना ही है हमारे पास, इनसे बद्रीनाथ भगवान की कुछ सेवा करेंगे और कुछ आगे बस का भाड़ा किराया देंगे।''

इनकी सरलता सत्यवादिता से प्रसन्न होकर टिकिट चेकर ने अपनी जेब से निकालकर इन्हें इक्यावन रूपये दिये और प्रणाम कर कहा–"यह गाड़ी बद्रीनाथ की ही है महाराज! पधारो।"

एक बार में राजस्थान के किसी स्थान में इनको महन्ताई की चद्दर उढ़ाने श्री महाराज जी पधार रहे थे; तब हँसकर विनोद पूर्वक बोले–"देखो, अस्सी बरस के गुरू नब्बे बरस के चेला को महन्त बनाने जा रहे हैं।"

नारायणदास जी की इस महन्ताई में त्रिवेणी धाम वाले श्री नारायणदास जी महाराज भी पधारे थे। अन्य स्थानों के संत मंहन्त तो थे ही।

किंतु कहीं टिक कर रहने वाले साधुओं में नरायणदास जी नहीं थे। ये वहाँ की महन्ताई भी अपने किसी शिष्य को देकर चल पड़े स्वच्छन्द विचरण के लिये।

कहीं एक स्थान पर टिक कर न रहने के कारण ही श्री महाराज जी के भगवद्धाम पधारने की सूचना इन्हें समय पर नहीं मिल सकी। फिर भी ऐसे समय में उनके चित्त में बड़ी बेंचैनी हुई कि शीघ्र से शीघ्र गुरूदेव के दर्शन हो जांय।" जी चाहता था–"उड़ कर वृंदावन पहुंच जांय कि क्या करें। अपने किसी शिष्य की गाड़ी से जहाँ तक सम्भव था शीघ्रता पूर्वक वृन्दावन धाम पहुँचे किंतु उस समय तक श्री महाराज श्री भगवद्धाम पधार चुके थे–जानकर बड़े उदास हुए, बहुत देर तक उनकी आँखों से आँसू झरते रहे फिर बोले–"इसी कारण सम्भवतः महाराज जी के दर्शनों की तीव्र इच्छा हुई। वे आये थे– श्री महाराज जी के दर्शन करके अयोध्या जाने के लिये कि वहीं देह त्याग करेंगे– अंतिम समय तक वहीं श्री अवध में ही रहेंगे। किंतु वृन्दावन आने के बाद श्री मलूक पीठाधीश ने प्रार्थना की "श्रीमहाराज जी के धाम पधारने के पश्चात हमें किसी वयोवृद्ध संत के संरक्षण की आवश्यकता अनुभव होती है अतः आप कहीं न पधार कर यहीं बिराजें।"

उनकी बात मानकर नारायणदास जी मलूकपीठ में श्रीमहाराज जी के कक्ष में ही चार वर्ष तक बिराजे और यहीं सौ वर्ष के आसपास की आयु में बड़े सहज रूप से देहत्याग की।

उनकी अवस्था परमहंस की सी थीं। यदि कोई पूछता –''महाराज जी कोई सेवा बताइये।'' तो कहते–'' मोटी मोटी बूंदी के जो लडुआ होते हैं न वे हमें बड़े अच्छे लगते हैं, सो बेटा! वे बूंदी के लडुआ ले आना।''

तपस्वी कृश शरीर था, तप जैसे उनका सहज स्वभाव–कभी महिनों नींबू का पानी पीकर रहे तो कभी केवल चाय पर और कभी पानी पर ही कालयापन किया। बहुत भजनानंदी, ज्योतिषी और सत्यवादी थे कभी देह में खुजली होती तो लालमिर्च का पाउडर लगा देते। मिर्च की जलन के आगे खुजली ठंडी पड़ जाती, कैसी विचित्र चिकित्सा? किंतु क्या महात्मा कम विचित्र होते है? फिर हम में उनमें फर्क ही क्या रहा?

मलूकपीठ में ही धाम पधारे, यहीं उत्सव हुआ–कथा हुई।

श्री अंगददास जी– आठ नौ वर्ष की आयु में ये श्री महाराज जी के शरणापन्न हुए।

राष्ट्रीय स्तर के पहलवान भी बने। किसी साधु ने उनके साथ दगा किया इससे मस्तिष्क में विकृति आगयी पर भजन नहीं छूटा। दिमाग ठीक होने पर भी लोक व्यवहार का निर्वाह अब भी ठीक ठीक नहीं होता पर भजन अहर्निश चलता रहता है। थैले में हाथ और हाथ में थनी माला निरन्तर गतिशील रहती है। जगत के काम के भले न रहे हों पर मानव जन्म का प्रयोजन पूरा हो रहा है।

श्रीमलूकपीठाधीश से जब भी मिलते कहते–''पंडितजी! आप हमको जानते है और हम आपको जानते हैं। दुनियां में किसी और को जानने की आवश्यकता ही क्या है?

अहर्निश भजन से इनकी आध्यात्मिक स्थिति बहुत ऊँची है। भले वे तिलक नहीं लगाते, भले उनके खाने-खाने का कोई नियम न हो, भले लोग इन्हें पागल कहें किंतु भक्त की मुखाकृति और आँखें उसके चित्त की अतल गहरायी का आभास करा ही देती हैं।

श्री राघवेन्द्रदास जी - ये व्रजवासी ही हैं। घर में सबसे बड़े पुत्र, महर्षि वेद विद्यालय में पढ़ने गये। सुदामा कुटी में श्रीमहाराज जी के दर्शन किये और सदा के लिये उन चरणों में समर्पित हो गये। श्री महाराज जी के समीप भी रहकर पढ़े, उन्हीं से दीक्षा और विरक्त वेश भी लिया और गुरु सेवा में सलग्न हो गये। अभी श्री गिरिराज जी के आश्रम में निवास कर रहे हैं।

श्रीरामानंद दास जी- ये भी व्रजवासी हैं। इन्होंने भी श्री महाराज जी को गुरू स्वीकार किया और अभी वृंदावन में निवास कर रहे हैं।

श्री बृज किशोर दास जी महाराज- ये भी श्री महाराज जी के शिष्य हैं और एक स्थान की सेवा सम्हाल रहे है।

श्री अशोक नारायणदास जी- ये भी श्री महाराज जी के शिष्य है और श्री गिरिराज जी में निर्वाणी अखाड़े के आश्रम की सेवा सम्हाल रहे हैं।

श्री महाराज जी के अनेक शिष्य ऐसे हुए कि श्री महाराज जी से विरक्त वेश लेने के कुछ ही दिनों पश्चात भजन के उद्देश्य से किसी अज्ञात-एकान्त स्थान में चले गये और आज तक उनका कोई सामाचार अथवा अता पता नहीं मिल सका।

श्री महाराज जी के एक शिष्य श्री भगवत्दास जी हुए जिन्हें भगद्दर्शन प्राप्त हुए। श्री महाराज जी के ऐसे अनेक भजनानंदी सिद्ध शिष्य हुए जिन्होंने गुरु-गौरव की निरन्तर वृद्धि की।

श्री राजेन्द्रदास जी- इन्हें श्री गुरु की कीर्ति पताका का सबसे प्रमुख-सबसे ऊँचा ध्वजदंड कहें तो तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

किसी भी महापुरुष का धराधाम पर अचानक अवतरण नहीं होता। इनके आने का निश्चय बहुत समय पूर्व ही हो जाता है। महापुरुष के आने के कारण भी एकाधिक हुआ करते हैं। यथा–किन्ही सिद्ध संत का आशीर्वाद, पूर्वजन्म की कोई घटना, माता–पिता और पूर्वजों के अशेष पुण्य, अनेक साधकों के पथ प्रदर्शन और कोटि–कोटि जनों के उद्धार के लिये परम कारूणिक श्रीहरी का मंगलय संकल्प।

वर्तमान मलूकपीठाधीश श्री राजेन्द्रदास देवाचार्य जू के पूर्वज कानपुर के पास बिठुर के रहने वाले कान्यकुब्ज अध्वर्यु ब्राह्मण थे।

यज्ञ में मन्त्रदृष्टा आचार्यों को अध्वर्यु कहा जाता है।

ओरछा के मूल नरेश रूद्रप्रताप सिंह ने काशी से आकर ओरछा में राजधानी स्थापित की। ये सूर्यवंशी क्षत्री थे। काशी में युद्ध हुआ और कुलदेवी की आज्ञा से वे काशी छोड़ ओरछा आ गये।

इनके राजगुरु कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः मध्यप्रदेश में इनके वंशजों ने जहां भी छोटी मोटी रियासतें बना। वहीं कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को भी लाकर बसाया और राजगुरु के रूप में उन्हें स्थापित किया। मोहनगढ़ भी ऐसी ही एक रियासत थी जहाँ के राजगुरु बिठूर से आये थे।

मोहनगढ़ के राजगुरु गायत्री के महान उपासक, स्वाभिमानी, त्यागी निरपृह, उदार और कुछ क्रोधी भी थे। एक दिन राजा को आशिर्वाद देने गये, तब राजा ने अभ्युत्थान न देकर गद्दी पर बैठे–बैठे हाथ जोड दिये इस अवमानना को देख ये बिना आशीर्वाद दिये ही घर चले आये। राजा द्वारा बुलवाने पर भी नहीं गये कहा–''ऐसे प्रमादियों के लिये नहीं है मेरा आशीर्वाद।''

राजा ने बार-बार क्षमा प्रार्थना भी की किंतु उन्होंने क्षमा नहीं किया। तब राजा के किसी व्यक्ति ने पीठ पीछे कहा- ''राजा द्वारा दी गयी सारी सुख सुविधा, खान-पान और ठाठ-बाट भोगते हुए राजा का ही खाकर राजा को ही तेज दिखा रहे हैं।''

यह चर्चा जब राजगुरु के कानों तक पहुँची -''अच्छा, तो ये लोग ऐसा समझ रहे है कि हम इन्हीं की कृपा से जीवित है? तो यह लो, हम इसी क्षण से इनका और इस वैभव का त्याग करते हैं।'' वे केवल एक एक वस्त्र देह पर धारण कर स्त्री संतान को ले घर से निकल चल पड़े। ज्ञात होने पर राजा दौड़ते हुए आये और चरण पकड़ कर पुनः क्षमा याचना की।

''मुझे आप पर क्रोध नहीं है राजन्! किंतु जहाँ गुरु की अवमानना हो, जहाँ उसे राजा का सुविधा भोगी समझा जाता हो अथवा दान दक्षिणा लेकर हाथ उठाकर आशिर्वाद देने या जै जैकार करने वाला ब्राह्मण माना जाता हो, वहाँ मैं नहीं रह सकता।''

''अब ऐसी भूल पुनः कभी नहीं होगी भगवन्! कृपा करके आप मेरा त्याग न करें'' राजा ने चरणों पर सिर रख कर प्रार्थना की।

''ऐसी भूल होती ही विचारों के प्रमाद के कारण है। जहाँ बुद्धि द्वारा किसी को हेय समझ लिया गया है, वहाँ ऐसी भूलों की बारंबार आवृत्ति होती रहेगी। मैं जाऊंगा, आप व्यर्थ हठ न करें।''

''ये सुकुमार बालक और महिलायें-मार्ग का कष्ट उठाने योग्य नहीं हैं। अपराधी मैं हूँ प्रभु! मुझे जो चाहें सजा दें, आप इन्हें दण्ड न दें..........राजा की आँखें झरने लगीं।''

''उठिये राजन्! आप अपने कर्तव्य का पालन करें और मुझे मेरे कर्त्तव्य का पालन करने दीजिये। ये सब ब्राह्मण संतान हैं और तप-त्याग ब्राह्मण का सहज स्वभाव होता है।'' कहते हुए राजगुरू आगे बढ़ गये।

मोहनगढ़ से आकर इस अचर्रा गाँव में रहे। किसी ने झौपड़ी बना दी, कुछ समय बाद मकान भी बन गया। राजपरिवार के आचार्यों द्वारा बसाये जाने से गाँव का नाम आचार्य गाँव हुआ धीरे-धीरे अपभ्रंश होकर आचार्या और फिर अचर्रा हो गया।

यहाँ भी राजा का एक गुमाश्ता रहता था, जाति का कायस्थ-धनी व्यक्ति। लोग उसे लालाजू कहते थे। यह गुमाश्ता भी इन्हीं ब्राह्मण देवता का यजमान था।

राजगुरु मकान बनवा रहे थे पर लेकड़ी का काम करने वाला कुशल कारीगर नहीं मिल पा रहा था। इन्होंने लाला जू को बुलाकर कहा-''कहीं से अच्छा बढ़ई बुलवा दो, उसके बिना काम आगे नहीं बढ़ पा रहा है। जैसा चाहते हैं, वैसा काम करने वाला नहीं मिल रहा।''

लालाजू ने सुना ही था कि- राजा के क्षमा याचना करने पर भी उसकी अवहेलना कर, सारा वैभव त्याग कर यहां आ बसे हैं। उसने हँसकर कहा-''क्या करें महाराज! एक ब्राह्मण बुलाते तो सौ ब्राह्मण आ जाते पर बढ़ई तो ढूँढने पर भी नहीं मिल पा रहा है।''

''राम, राम, राम इतना अहंकार? ब्राह्मण को इतना हल्का और सस्ता समझ लिया? इतना अपमान चलो, हम तुम्हारा भी त्याग करते हैं।''

लालाजू ने इनके स्वाभिमान से जलकर उनकी चालीस गायों को कांजी हाऊस (कैद) में डाल दिया और कहा-''प्रत्येक गाय का एक रूपया जमा कराने पर ही गायें छोड़ी जायेंगी।''

राजगुरु ने घर के बर्तन और अन्य सामान बेचकर रूपये जमा करवा कर गायों सहित स्त्री बच्चों के लेकर गाँव से चल पड़े। जाते समय कहा-''इस गौ-ब्राह्मण द्वेषी के घर में जब तक गधे नहीं घुस जाते हम लौट कर इस गाँव में नहीं आयेंगे।''

उस व्यक्ति ने जिन जिन के घरों में गधे थे उन सभी व्यक्तियों को गांव से निकाल दिया।

कुछ भी करें पर बुरे कर्मों का फल और सताये गये निरपराध की ''आह'' कभी निष्फल नहीं जाती इन्हें कोई रोक नहीं पाता, समय आने पर ये फलते ही हैं।

इस घटना के दस बारह दिन बाद ही जाने कहाँ से गधे वाले कुछ लोग उस गाँव में आये और उनके गधे दौड़ते हुए लालाजू के घर में घुस गये और पहरेदारों के रहते हुए भी चौक में घर में इधर उधर दौड़ते हुए रेंकने लगे। इसके बाद लालाजू के पूरे वंश का ही नाश हो गया। गांव के लोग पुनः मनाकर राजगुरू को गाँव में ले आगे।

इसी वंश में एक कालूराम जी हुए, इनका नाम तो लीलाधर था किंतु लाड़ का नाम होने से कालूराम नाम ही प्रसीद्ध हुआ। इनके एक छोटे भाई इच्छाराम जी भी थे। कालूराम शास्त्री और इच्छाराम दोनों बालक छोटे ही थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया। इनकी माता सती होने जा रही थी कि राजा के एक यादव जाति के सिपाही ने उन्हें समझाते हुए कहा–''आपके बालक अभी छोटे हैं, आप सती होने का विचार त्याग दें। अभी भी राज परिवार की आपके कुल पर बहुत श्रद्धा है, आपको किसी वस्तु की कमी नहीं रहेगी, कोई कष्ट वे आपको नहीं होने देंगे।''

जब वे प्रार्थना करने और समझाने पर भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं तो सिपाही तो फिर सिपाही ही ठहरा, ना समझ और अक्खड़। वह तलवार निकाल कर उन्हें रोकने के लिये सामने राह रोककर खड़ा हो गया।

''सती होने को तत्पर ब्राह्मणी को तलवार दिखाता है जा, तेरा वंश नहीं चलेगा।''

सती का शाप सुनकर वह घबरा उठा, उसी समय सती ने अपने मुख से पान की पीक थूक दी।सिपाही उसे अपनी हथेली पर लेकर सिर चढ़ाया, यह श्रद्धा भाव देख सती प्रसन्न होकर बोलीं–''चार पीढ़ी बाद तेरा वंश चलने लगेगा।

तीन पीढ़ी तक उस यादव के यहाँ एक के बाद एक लड़का गोद आता रहा। तीसरी पीढ़ी के व्यक्ति ने जो लड़का गोद जलिया उसके संतान हुई और अब वह परिवार फूलफल रहा है।

सती माता ने सती होते हुए कहा-''इस स्थान पर कोई मंदिर-मढ़ी मत बनाना, यहां आनेवाले की इच्छा अपने आप ही पूर्ण होगी।''

उस स्थान पर पीपल और पलाश के युग्म वृक्ष ऊगे। किसी भी जाति के यहां बालक का जन्म अथवा विवाह हो तो लोग वहां पूजा करने जाते हैं। वह स्थान ''सती बउवा के स्थान'' के नाम से जाना जाता है। और एक चौबे जी के खेत में स्थित है जहां पीपल और पलाश के संयुक्त वृक्ष आज भी मौजूद हैं।

सती के बड़े पुत्र कालूराम (लीलाधर) की पत्नी, स्वभाव से ही सीमा से अधिक दयामयी और उदार थीं। इस वंश में कई पीढ़ियों से ब्राह्मण वृत्ति बंद थी, पंडित लीलाधर जी इसे पुनः आरम्भ किया। ये विद्वान, कर्मकाण्डी और ज्योतिषी थे। घर धनधान्य से परिपूर्ण था। पत्नी की अतिशय उदारता के कारण कालूराम जी कभी-कभी क्रोध कर बैठते थे पर स्वभाव तो स्वभाव ठहरा उनके स्वभाव में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आता। किसी की बेटी का विवह हो। और वह आकर प्रार्थना करता तो पैसा कपड़ा हीं नहीं सोना चांदी और बर्तन भी दे देतीं। कोई भूखा नंगा आता तो उसे भोजन करवा कर के पोट बांध कर अनाज भी दे देतीं। फटे कपड़े हैं तो उसे कई कपड़े देतीं। उनकी इस उदारता के कारण लोग उन्हें सिर्रन बहु (पागल बहु) कहने लगे।

एक बार भयंकर अकाल पड़ा। लोग भूखों मरने लगे, गाँव छोड़-छोड़ कर भागने लगे। पेड़ों के पत्ते, छाल खाने और घर का सामान ही नहीं अपने बच्चे भी बेचने लगे थे।

पं. कालूराम की पत्नी का तुलसी और शिवपूजन का नित्य नीयम था। घर से कुछ ही दूर शिव मंदिर था वहीं तुलसी चौरा भी था। एक दिन जब वे पूजा के लिये गयीं तो मंदिर से कुछ पहले रास्ते पर कोई अकाल के मारे कई दिन के भूखे पति पत्नी जो अत्यन्त दुर्बल थे, शरीर फटे चिथड़े से कपड़े पहन रखे थे-रास्ते पर बैठे रो रहे थे।

कालूराम जी पत्नी ने पूछा-"तुम क्यों रो रहे हो?"

"हमारे पास कुछ नहीं बचा, कई दिन के भूखे हैं। अब चला भी नहीं जाता, मरने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।" "तुम यहीं बैठे रहना, मैं अभी पूजा करके आती हूँ। मेरे घर चलना वहाँ तुमको भोजन मिलेगा।" पंडित जी की पत्नी जब पूजा करके लौटी तो उन लोगों को अपने साथ घर ले आयीं, उन्हें भरपेट भोजन कराया वस्त्र दिये पहनने और जितना वे उठा सकते थे उतना अनाज भी दिया।

जब वे अनाज लेकर जा रहे थे तो कई भूखे लोगों ने उनसे पूछा-"तुम्हें अनाज कहाँ से मिला?"

उन्होंने पंडित जी का घर बता दिया, लोग झुंड के झुंड पहुँचने लगे। पंडित जी की पत्नी ने सबको खिचड़ी बनवा कर खिलाई कहा "चौक में ईंट पत्थर के चुल्हे बना लो" और महुए के फूलों के बड़े-बड़े कुणल भरे थे सबको खुलवा दिया लोगों ने उन्हें सेक कर खाया भी कपड़े की पोटें बाँध बाँध कर साथ भी ले गये।

पंडित जी कहीं बाहर गये हुए थे। लौटते समय उन्हें गाँव के किसी आदमी ने सूचना दी कि-"आपकी पत्नी सारा लूटा रही हैं।"

थोड़ा आगे बढ़ने पर प्रमाण भी मिलने लगा-लोग अच्छे-अच्छे कपड़े पहने सिर पर अनाज अथवा महुए की पोटली उठाये आते मिले। "कहाँ से लेकर आ रहे हो?" यह पूछने पर उन्होंने उन्हीं के घर का पता बता दिया। सुनकर पंडित जी क्रोधित हो उठे, घर आकर

उन्होंने पत्नी से बिना कुछ पूछताछ किये ही उनको पीटने लगे और इतना मारा कि वे लहू लुहान होकर गिर पड़ीं अचेत हो गयी, जब उन्हें चेत आया कि –''मैंने यह क्या किया?

उन्होंने वैद्य जी को बुलाकर मरहम जब पट्टी करवायी दवा दी और जब फनीं को होश आया तो पूछा–''तुमने ऐसा क्यों किया सारा घर लुटा दिया और कहीं तुम मर जातीं तो क्या होता? मुझे तो क्रोध में कुछ ध्यान नहीं रहता पर तुम तो सोचतीं कि सब कुछ खत्म हो जायेगा तो हम क्या करेंगे?''

पत्नी ने कराहते हुए कहा–''मैं मर जाती तो क्या हो जाती? कम से कम इतने लोग तो बच गये सुनकर पंडित जी द्रवित हो उठे, असंयत होकर उन्होंने पत्नी के चरणों पर सिर रख दिया–''तुम दया की देवी हो, मुझ अधम ने तुम पर हाथ उठाया। प्रतिज्ञा करता हूं कि–तुम कुछ भी कर दो, पर मैं अब कभी तुम पर हाथ नहीं उठाउगा–कभी बुरा भला नहीं कहूंगा।'' स्वस्थ होने तक उन्होंने पत्नी की सेवा की। इन्हीं कालूराम जी के छोटे भाई और सती के छोटे पुत्र इच्छाराम जी का विवाह हुआ और एक पुत्री का जन्म भी हुआ। इसके पश्चात उन्हें संसार से वैराग्य हुआ और वे घर छोड़ कर कहीं चले गये।

लगभग सौ वर्ष पश्चात जब कालूराम जी की चौथी पीढ़ी में पंडित राजधर जी उपस्थित थे, गाँव में एक साधु जैसे व्यक्ति आकर गाँव के बीच अवस्थित मंदिर में ठहरे। वहाँ आस–पास डांगी (जाति के) लोग रहते हैं उन्होंने उनसे प्रसाद पाने का आग्रह किया तो कहा–''हम केवल गाय का दूध लेते हैं।''

गाय का दूध लाने पर साधु ने उसे ग्रहण किया। सर्दी के दिन थे, रात अलख के आस–पास बैठक तापते समय लोगों ने पूछा– महाराज! कहां से आना हुआ है आपका?''

''ऐसे ही विचरते हुए चले आये। तुम्हारे गाँव में सब सुख शांति तो है न?''

''हाँ महाराज! आपकी कृपा से सब ठीक है।''

''कालूराम जी का नाम सुना है? उनके वंश में कोई है?''

''कालूराम जी को गये तो बहुत बरस हो गये महाराज! उनकी तो चौथी पीढ़ी चल रही है। चौथी पीढ़ी के राजधर जी हैं पर वे भी बीमार हैं उनके पेट में फोड़ा हो गया है- बचेंगे नहीं, अभी बच्चे भी छोटे छोटे हैं। राजधर जी बड़ा कष्ट पारहे हैं।''

सबेरे किसी ने पंडित राजधर जी के यहां सूचना दी कि मंदिर में एक साधु आये हैं, उन्होंने कालूराम जी और उनके परिवार के विषय में पूछा है।

राजधर जी ने उन्हें घर लाने को कहा। घर आकर उन्होंने राजधर जी के फोड़े को देखा, विभुति से झाड़ने पर न फोड़ा रहा न उसका चिन्ह बचा। सब चमत्कृत हो उठे पूछा-''महाराज! आप कौन है? आप कालूराम जी को कैसे जानते है?''

''इच्छाराम का नाम सुना है कभी?

''हाँ महाराज! सती के छोटे पुत्र और कालूराम जी के छोटे भाई थे इच्छाराम जी, विरक्त होकर कहीं चले गये।

''मैं ही इच्छा राम हूँ। तुम्हारी आयु समाप्त हो गयी थी, हमने तुम्हें आयु प्रदान की है अब तुम अमुक समय तक जीवित रहोगे और जब तक जीवित रहोगे-स्वतंत्र रहोगे।

घर के लोग चकित रह गये, इच्छाराम जी के सभी केश कोल थे, आँखों की रोशनी जवानों जैसी थी और दाँत भी सुदृढ़ दिखायी दे रहे थे सवा सौ वर्ष की आयु होने पर भी देह पर झुर्रियों का नाम तक नहीं था। सती के पु...... आये हैं सुनकर लोग दर्शन करने दौड़े आये घर में भीड़ लग गयी।

कुछ अहार लेने की प्रार्थना करने पर उन्होंने गोदुग्ध ही लेने की इच्छा प्रकट की और फिर कहा-''अब हम जायेंगे। तुम्हारी कोई इच्छा हो तो कहो।''

''और तो आपकी, श्रीहरि की कृपा है महाराज!'' पं. राजधर जी ने अपने चारों पुत्रों की ओर संकेत करते हुए कहा-''इन बालकों को कुछ देते जाइये।''

''इनकी तीसरी पीढ़ी में एक महान विरक्त संत होंगे और इस वंश में कोई मूर्ख नहीं होगा।'' इतना कहकर इच्छाराम जी चले गये और फिर कभी नहीं लौटे।

इनके यहां अचर्रा में आज भी श्राद्धपक्ष में इच्छाराम जी के श्राद्ध का भंडारा होता है। यद्यपि उनकी तिथि किसी को ज्ञात नहीं है किंतु शास्त्र के अनुसार विरक्तों की एकादशी तिथि मानी जाती है।

पं. राजधर जी के चार पुत्र थे, सबसे बड़े दुर्गाप्रसाद जी, परमेश्वर प्रसाद जी, सरयू प्रसाद जी और छोटे लाल जी। इन चारों भाइयों की एक बहिन थी-भुवन कुंवरी।

जब इच्छाराम जी घर आये थे उस समय दुर्गा प्रसाद जी कीआयु दसेक वर्ष की रही होगी। उन्हें इच्छाराम जी और उनकी कही बातों का स्मरण था। वे अपने तथा अपने भाइयों के पौत्रों को देखकर अक्सर कहा करते-''इच्छाराम जी के आशीर्वाद के फलस्वरूप इन बालकों में से जाने कौन साधु होगा।''

इन चारों भाइयों में से तीसरे भाई पं. सरयूप्रसाद जी के चार पुत्र हुए- पं. रामस्वरूप जी, पं. उमाशंकर जी, पं. हरिशंकर जी और पं. ब्रजबिहारी जी।

पं. सरयूप्रसाद जी के ज्येष्ठ पुत्र पं. रामस्वरूप जी पांडे के यहां दो पुत्र और तीन पुत्रियों का जन्म हुआ। तीनों पुत्रियों का विवाह सात्विक भक्त परिवारों में हो चुका है। बड़े पुत्र जीवेन्द्र नारायण भ विवाहित हैं इनके दो पुत्र और तीन पुत्रियां हैं। बड़ी पुत्री का विवाह एक सम्पन्न भक्त परिवार में हो गया है। जिवेन्द्र नारायण बैंक में कार्यरत हैं।

पं. रामस्वरूप जी के दूसरे पुत्र पं. राजेन्द्र नारायण का जन्म विक्रम संवत् 2028 के भाद्रपद शुक्ल ऋषिपंचमी को हुआ।

इनके गर्भकाल में ही माता की वैष्णवी दीक्षा सम्पन्न हुई। जन्म से पूर्व माता का स्वास्थ्य खराब हुआ तो उन्हें झांसी के अस्पताल में भर्ती कराया गया। झांसी में इनके मामा रहते थे।

पं. रामस्वरूप जी झांसी से ओरछा श्री रामराजा सरकार के दर्शन करने गये, वहां से लौटकर उन्होंने चिकित्सालय पहुँचकर पत्नी को श्री रामराजा का प्रसाद दिया। प्रसाद खाने के कुछ ही देर बाद पुत्र का जन्म हुआ। बालक को तौला गया तो वह पूरा समय लेकर जन्म लेने वाले बालकों लिये नियत बजन से भी भारी सिद्ध हुआ। तब डॉक्टर ने कहा-''बालक स्वस्थ है, इसके मरने की आंशका मत करो, इसे दूध पिलाओ।'' शिशु ने प्रथम बार ही दूध पीने में इतनी तीव्रता दिखायी कि उसके होठों पर घाव हो गयौ फिर मां का दूध निकाल कर ही उसे पिलाया गया।

बालक का नाम राजेन्द्र नारायण रखा गया। स्वस्थ होने के कारण बालक राजेन्द्र नारायण द्वितीया के चंद्र की भाँति बढ़ने लगे। ये सदा हंसमुख-प्रसन्न रहते। इस सुन्दर स्वस्थ शिशु को देखने वाले मुग्ध हो जाते। एक वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते ये पैरों चलने लगे और डेढ़ वर्ष में बोलने लगे। इनका उच्चारण स्पष्ट और शुद्ध होता। आरंभ के कुछ महिनों को छोड़ ये तुतला कर नहीं बोलते थे।

इनके बचपन के खेल भी अद्‌भुत होते-ये स्वयं गुरु बनकर अपनी वय के बालकों को शिष्य मानकर शिक्षा देते-झूठ मत बोलो, सदाचार का पालन करो, बड़ो का कहना मानो, गुरुजनों का आदर करो, उन्हें प्रातः सांय प्रणाम करो आदि-आदि। कभी स्वयं आचार्य बन समिधायें एकत्रित कर माँ से मांग कर कटोरी में घी लाते जाने क्या मंत्र बोलते हुए हवन करते। कभी जाने कहाँ से जनेऊ लाकर छोटे-छोटे बालकों का उपनयन संस्कार करते। अन्य बालकों की भांति लड़ाई झगड़ा अथवा प्रतिस्पर्धा के खेल नहीं खेलते। जल

में तैरना ही इनका प्रिय खेल था। चार वर्ष की अवस्था में इन्हें पाठशाला में भर्ती किया गया, इनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि केवल एक बार पढ़कर अथवा सुनकर ही इन्हें पाठ कण्ठस्थ हो जाता था।

पिता द्वारा पूजा के समय बोले गये श्लोक और गीत गोविन्द की अष्टदी इन्हें सहज ही याद हो गये। सात वर्ष की आयु में बड़े भाई के साथ इनका भी उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ।

सम्भवतः तीसरी अथवा चौथी कक्षा में पढ़ रहे थे कि एक दिन बालक राजेन्द्र ने सुना''परमहंस स्वामी श्री शरणानंद जी महाराज अपना चतुर्मास पूरा कर सांझ को हुनमान धारा पधार रहे हैं।''

घर में उनके स्वयं के अतिरिक्त कोई नहीं था। माता पुत्रियों सहित पितृगृह गयी हुई थी, पिता प्रातः पूजा अर्चना करके दूसरे गाँव में अध्यापक होने के कारण विद्यालय चले जाते। राजेन्द्र भी दिन में स्कूल जाते, घर के संस्कार और स्वाभिमानी स्वभाव के कारण ये स्कूल में जल भी नहीं पीते थे अतः सायंकाल लौट कर खाते पीते और पिता की अनुपस्थिति में ठाकुर सेवा-आरती, स्तुति, भोगादि की सेवा करते।

आज पिता को विद्यालय से सीधे व्यवस्था सम्हालने के लिये हनुमान मंदिर जाना था। संत दर्शन की लालसा राजेन्द्र के मन में भी थी, उन्होंने निश्चय किया-''जैसे भी हो-जाऊँगा अवश्य।''

आतुरता पूर्वक वे सांझ की प्रतीक्षा करने लगे, वे बार-बार सूर्य की ओर देखते। जैसे ही क्षितिज पर सूर्यास्त की लालिमा ने निशा का कर थामा उन्होंने शीघ्रता पूर्वक आरती प्रज्वलित की, आरती के पश्चात् गीत गोविन्द की अष्टपदी गायी, भूमिष्ठ हो प्रणाम किया और घर से बाहर निकल किवाड़ बंद किये किुंत जंजीर तक हाथ जो नहीं पहुचता कैसे क्या

करे इधर उधर देखकर कुछ लाये उसके ऊपर चढ़कर जंजीर बंद की और तीर की भांति भाग छूटे। पथ तो जानते नहीं थे, फिर किधर ? उधर ही, जिधर उनका भविष्य उनकी बाट तक रहा था। हाथ पैंट और शर्ट पहने वह सुंदर सलौना बालक अंधेरे में भाग रहा था। संतदर्शन की उत्कट अभिलाषा उसे झंझा सी उड़ाये लिये चली जा रही थी। भागते हुए वह हांफ भी रहा था किंत इस ओर उसका तनिक भी ध्यान न था। संत दर्शन की इच्छा यह इच्छा ही तो प्रमुख है। इच्छा ही मनुष्य को संसारार्णव में गोते लगवा देती है- डूबो देती है और डूबो देती है भक्ति भागीरथी में, करा देती है ज्ञान के ब्रह्मपुत्र ह्रद में निस्संकल्प समाधि का अवगाहन भी। यह इच्छा ही जन्म का मूल है और यही उसका उच्छेद भी। आज...... आज........बालक राजेन्द्र अनजाने ही पूर्व पुण्यों और श्रीहरी की अनुकम्पा भवाटवी की भूल भुलैया से बाहर ले जाने वाले पथ पर संत दर्शन की शुभेच्छा ले दौड़ पड़ा है।

भले वह पथ नहीं जानता किंतु मन में जगी इस शुभेच्छा ने ही सर्वेश का सक्रिय कर दिया है और उनसे तो कोई पथ अनजाना है नहीं। इचछा जितनी प्रबल सर्वेश उससे दुगुने-तिगुने-अनन्त गुण सक्रिय। ऐसा क्यों भला अब यह न पूछिये, स्वभाव अपना अपना।

अब हमारी ही बात ले लीजिये कितना सरल काम है सर्वेश को पाना-उनकी कृपा पाना-केवल ''इच्छा'' हों केवल इच्छा ही तो।

कोई पूजा, पाठ, कर्मकाण्ड, जप, दान, यज्ञ कुछ नहीं, केवल इच्छा है न सरल काम ?

किंतु.....किंतु हम सैंकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों, अनन्त इच्छाओं को जन्म दे देते हैं, पर इस एक एक कल्याण कारिणी-भवतारिणी इच्छा को जन्म देकर पाल-पोस कर प्रबल नहीं कर सकते हा हन्त! खैर दुर्भाग्य! अब आप पूछें कि सर्वेश कौन ? तो भाई!

सर्वेश वही जो आपके मन भाये–राम, कृण, शिव, शक्ति, हनुमान, निर्गुण, सगुण राजेन्द्र भी यह सब कुछ नहीं जानता फिर उसे ऐसी इच्छा क्यों हुई? फिर इतनी प्रबल? जानते हैं इस क्या का उत्तर?

केवल श्रवण! श्रवण ही इस प्रश्न का समुचित उत्तर है। घर में सतचर्चा, हरिचर्चा और इनका महात्म्य राजेन्द्र को निरन्तर पितृ–मुख द्वारा श्रवण करने का सौभाग्य मिलता था। घर पर संत भी पधारते ही थे, इन सबके अतिरिक्त एक कारण और भी है – अपने पूर्व कृत पुण्य पूर्वजों के पुण्य इन सब कारणों से कई जन्मों के पश्चात् अब वह समय आ गया था कि राजेन्द्र भवाटवी की ओर ले जाने वाले पथ से हटकर निवृत्ति की ओर जाने वाले पथ पर आरूढ़ हो जाय अतः उनकी नियति उन्हें इस अंधेरे निर्जन पथ पर दौड़ाये लिये जा रही थी।

राजेन्द्र को एक ही चिंता थी– ''कहीं श्री महाराज जी आकर लौट न जाय''– मुझे पहुँचने में देर न हो जाय।'' ''कहाँ भागे जा रहे हो महाराज?'' अकस्मात किसी अनजान साईकिल सवार ने इनके पास अपनी साईकिल रोकते हुए पूछा।

''हनुमान जी के मंदिर जा रहा हूं'' बालक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

रास्ता जानते हो?

''नहीं'' बालक के स्वर में हल्की सी निराशा झलक उठी किंतु दृढ़ निश्चय के बल पर बोला–''पहुँच जाऊँगा कैसे भी।''

जितनी आतुरता बालक को थी सम्भवतः उससे कहीं अधिक आतुरता पवननंदन को थी इस बाल संत के दर्शन की ''मैं उधर ही जा रहा हूँ, आओ बैठ जाओ कैरियर पर।''

उचक कर राजेन्द्र साइकिल पर बैठ गये, पथ शीघ्रता से कटने लगा। किंत मन की गति से तो कोई वाहन चल नहीं पाता न?

''कहीं परमहंस जी आकर चले न जायं.....इस विचार के उठते ही राजेन्द्र की आतुरता सीमा का स्पर्श करने लगती वे बेचैन हो उठते। किंतु उपाय ही क्या था, कैसे कहूँ अपने उपकारी को कि ''और तेज चलो'' रात्री का समय और कच्चा रास्ता.....संकोचवश बालक राजेन्द्र मन मसोस कर रह जाते, छटपटा उठता उनका बालक ''लो महाराज! वे जो रोशनियाँ दिखायी दे रही हैं न, वही हनुमान मंदिर है जाओ। मुझे दूसरी ओर जाना है'' कहिये तो उस नीरव-निर्जन पथ पर रात्री में एकाएक साइकिल सवार आ कहाँ से गया? न जान न पहचान अपने वाहन पर बैठाकर ले ही गया तो मंदिर से दूर क्यों छोड़ा? इतनी दूर लाया तो कुछ दूर और सही, क्या बिगड़ जाता? ऐसे बे मुरौब्बत तो नहीं होते गाँव के लोग कि इतने छोटे बालक को कुछ ही दूर सही छोड़ दें? फिर जब इतना छोटा बालक तीव्रता से जिनके दर्शन करने भागा जा रहा है उनके दर्शन की इच्छा-उत्सुकता उस साईकिल सवार को क्यों न हुई पर कोई अपने स्वभाव का क्या करे? उस साईकिल सवार का भी सब कुछ करके नैपथ्य में रहने का स्वभाव है खैर बालक राजेन्द्र को अवकाश नहीं था इन सब बातों के सोच विचार में माथा खपाने का। साइकिल से उतरते ही उस साइकिल सवार द्वारा इंगित रोशनियों की ओर दौड़ पड़ा।

मंदिर पहुंच कर राजेन्द्र ने संतोष की सांस ली - स्वामी जी अभी नहीं पहुंचे थे।

भीड़ इकट्ठी हो चुकी, पिता पं. रामस्वरूप जी पांड लोगों को व्यवस्थित खड़ा कर रहे थे। बालक को आगे पहुंचाने की त्वरा थी - भल पीछे रहकर कैसे दर्शन कर सकूँगा?'' वह भीड़ में घुस पड़ा और आगे जाकर मंदिर के बरामदे में

उसी से पूछो जो पहुँचा हुआ है, जो परम रहस्य को जान गया है, जो उस मार्ग की विघ्न बाधाओं से स्वयं परिचित है तथा दूसरों को उनसे निकालकर उन परमानंदघन तक ले जा सकता है।

वेद वाक्य

साधुनां दर्शनं पुण्यं तीर्थादपि विशिष्यते। कालेन तीर्थं फलति सद्यः साधु समागमः।।

"साधु कौन?" कैसे पता चले? लोग पूछते हैं छोटा बालक मास्टर की परीक्षा कैसे करे? योग्यता कैसे जाने?"

साधु की आँखें- उसकी दृष्टि, उसका चेहरा बता देता है कि वह कितने पानी में है। फिर ठाकुर जी तो कृपा करने को सदा आतुर रहते ही हैं। जिसको सचमुच चाहिये उसे अवश्य मिला देते हैं।

इति शम्

